समकालीन विश्व इतिहास

कक्षा 12 के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

भाग 1

अर्जुन देव

इंदिरा अर्जुन देव

हिन्दी अनुवाद

आदित्य नारायण सिंह

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
जनवरी 1996 अषाढ़ 1917

पुनर्मुद्रण
अगस्त 2004 श्रावण 1926
मार्च 2005 चैत्र 1927

PD 15T NSY

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस श्री अरविंद मार्ग नई दिल्ली 110 016	108, 100 फीट रोड हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे बनाशंकरी III इस्टेज बैंगलूर 560 085	नवजीवन ट्रस्ट भवन डाकघर नवजीवन अहमदाबाद 380 014	सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी कोलकाता 700 114	सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स मालीगांव गुवाहाटी 781021

मुखावरण सुरक्षा परिषद् भवन के एक भित्ति चित्र की अनुकृति।
पश्चावरण हिरोशिमा के भग्नावशेषों से प्राप्त एक घड़ी। इस घड़ी में हिरोशिमा पर गिराए गए अणु बम का समय दिखाई देता है।

रु 45.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा सुप्रीम ऑफसेट प्रैस, के-5, मालवीय नगर, नई दिल्ली 110 017 द्वारा मुद्रित।

प्रकाशक की टिप्पणी

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) बच्चों और शिक्षकों के लिए विद्यालयी पाठ्यपुस्तकें और अन्य शैक्षिक सामग्री तैयार तथा प्रकाशित करती रही है। ये प्रकाशन विद्यार्थियों, शिक्षकों, अभिभावकों और शिक्षक-प्रशिक्षकों से प्राप्त सुझावों के आधार पर नियमित रूप से संशोधित किए जाते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा किए गए शोध-कार्य भी इस पाठ्यसामग्री के संशोधन व उसे अद्यतन बनाने का आधार होते हैं।

परिषद् की कार्यकारिणी समिति के निर्णय को ध्यान में रखकर इतिहास के पाठ्यक्रम संशोधन के लिए निर्मित नीलाद्रि भट्टाचार्या समिति ने प्रोफ़ेसर अर्जुन देव और प्रोफ़ेसर इंदिरा अर्जुन देव द्वारा लिखी पुस्तक *समकालीन विश्व इतिहास : भाग 1* को पुनः प्रस्तावित किया है। यह पुस्तक तथा इसका दूसरा भाग मिलकर कक्षा 12 के इतिहास के विद्यार्थियों के लिए संशोधित पाठ्यक्रम के उद्देश्य को पूरा करेंगे। हमें आशा है कि यह पुस्तक समकालीन विश्व इतिहास के शिक्षण उद्देश्यों को वस्तुपरक ढंग से समझने में मदद करेगी।

पुस्तक के इस संस्करण के किसी भी पहलू पर हम आपके सुझावों और टिप्पणियों का स्वागत करते हैं।

सचिव
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और
प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
जनवरी 2005

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय;**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की **स्वतंत्रता;**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**
प्राप्त कराने के लिए

तथा उन **सब में** व्यक्ति की गरिमा और **राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित** करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए;

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हज़ार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके; और

(ट) यदि माता-पिता या संरक्षक है, छह वर्ष से चौदह वर्ष तक की आयु वाले अपने, यथास्थिति, बालक या प्रतिपाल्य को शिक्षा के अवसर प्रदान करे।

भारत का संविधान

भाग-3 (अनुच्छेद 12-35)

(अनिवार्य शर्तों, कुछ अपवादों और युक्तियुक्त निर्बंधन के अधीन)

द्वारा प्रदत्त

मूल अधिकार

समता का अधिकार

- विधि के समक्ष एवं विधियों के समान संरक्षण;
- धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर;
- लोक नियोजन के विषय में;
- अस्पृश्यता और उपाधियों का अंत।

स्वातंत्र्य-अधिकार

- अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संघ, संचरण, निवास और वृत्ति का स्वातंत्र्य;
- अपराधों के लिए दोष सिद्धि के संबंध में संरक्षण;
- प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण;
- छः से चौदह वर्ष की आयु के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा;
- कुछ दशाओं में गिरफ्तारी और निरोध से संरक्षण।

शोषण के विरुद्ध अधिकार

- मानव के दुर्व्यापार और बलात श्रम का प्रतिषेध;
- परिसंकटमय कार्यों में बालकों के नियोजन का प्रतिषेध।

धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार

- अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार की स्वतंत्रता;
- धार्मिक कार्यों के प्रबंध की स्वतंत्रता;
- किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए करों के संदाय के संबंध में स्वतंत्रता;
- राज्य निधि से पूर्णतः पोषित शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के संबंध में स्वतंत्रता।

संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार

- अल्पसंख्यक-वर्गों को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति विषयक हितों का संरक्षण;
- अल्पसंख्यक-वर्गों द्वारा अपनी शिक्षा संस्थाओं का स्थापन और प्रशासन।

सांविधानिक उपचारों का अधिकार

- उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के निर्देश या आदेश या रिट द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने का उपचार।

विषय-सूची

साम्राज्यवाद – विरोधी आंदोलनों की एकजुटता – संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका – भारत की भूमिका – दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों की स्वतंत्रता – अरब देशों में राष्ट्रीय संघर्ष – अल्जीरिया का स्वातंत्र्य संघर्ष – **दक्षिणी अफ़्रीका में स्वतंत्रता आंदोलन** : घाना तथा गिनी – अफ़्रीका का वर्ष – कीनिया में संघर्ष – अफ़्रीका में औपनिवेशिक शासन का अंत – ज़िंबाब्वे – **दक्षिण अमरीका में ब्रिटिश और डच उपनिवेश – अपना प्रभाव कायम रखने के लिए औपनिवेशिक शक्तियों के प्रयत्न** : गयाना – ज़ायर – **लोकतांत्रिक शक्ति के रूप में दक्षिण अफ़्रीका का उदय – जापान – एशिया के कुछ महत्वपूर्ण घटनाक्रम** : राजनीतिक विकास की मुख्य प्रवृत्तियाँ – चीन का घटनाक्रम – द्वन्द्व और युद्ध – स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में बांग्लादेश का उदय – क्षेत्रीय मंडलियाँ – राष्ट्र-मंडल – **लैटिन अमरीकी परिदृश्य – आमूल परिवर्तनवादी शासनों के ख़िलाफ़ हस्तक्षेप – गुट निरपेक्ष आंदोलन** : एशियाई संबंध सम्मेलन – बांदुंग सम्मेलन – बेलग्रेड सम्मेलन – बुनियादी लक्ष्य

मानचित्रों की सूची

अध्याय 1

भूमिका

इतिहास में काल विभाजन

किसी देश, क्षेत्र अथवा पूरे संसार के इतिहास का अध्ययन सामान्यत: उसे अलग-अलग कालों और उपकालों में विभाजित करके किया जाता है। इस विभाजन के कुछ विशिष्ट मानदंड होते हैं। पारंपरिक इतिहास लेखन में आमतौर पर प्रयुक्त एक मानदंड यह है कि देश-विशेष के इतिहास को उस पर शासन करने वाले विभिन्न राजवंशों के कालों के अनुसार बाँट दिया जाता है। उदाहरण के लिए इस मानदंड के आधार पर किए गए काल विभाजन के अनुसार हम भारतीय इतिहास के किसी दौर को मौर्य-काल तो किसी को गुप्त-काल या मुग़ल-काल कहते हैं। इसी तरह चीन के इतिहास के संदर्भ में हम हान या मांचू-काल का प्रयोग करते हैं और इंग्लैंड के इतिहास के किसी दौर को ट्यूडर-काल तो किसी को स्टुअर्ट-काल कहते हैं। इसी तरह का काल विभाजन आज भी काफी प्रचलित है क्योंकि इससे किसी राजवंश के शासन काल के रूप में अध्ययन के लिए एक सुविधाजनक क्रमबद्ध काल उपलब्ध हो जाता है। लेकिन काल विभाजन के कुछ दूसरे मानदंड भी हैं। उदाहरणार्थ इतिहास को पुनर्जागरण, (रिनासां) काल और औद्योगिक क्रांति-काल जैसे काल खंडों में भी बाँटा गया है। इनसे कुछ देशों के इतिहास के सामान्यत: क्रमबद्ध कालों का बोध होता है। इस मामले में जिन मानदंडों का प्रयोग किया गया है उनका संबंध सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन के कुछेक क्षेत्रों में आने वाले महत्वपूर्ण बदलावों से है। राजवंशों के कालों के आधार पर किए गए विभाजनों की तरह ऐसे विभाजनों से किसी सर्वथा निश्चित काल का बोध नहीं होता, क्योंकि संस्कृति तथा अर्थव्यवस्था में आने वाले परिवर्तनों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि यह परिवर्तन अमुक तिथि को आरंभ हुए और अमुक तिथि को पूर्ण हो गए। इसलिए ऐसे मानदंडों के अनुसार किए गए काल विभाजन में काल का एक मोटा संकेत ही दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, भारतीय इतिहास में राष्ट्रवाद के दौर को लें। राष्ट्रवाद के उदय को किसी ख़ास दिन या किसी ख़ास घटना से नहीं जोड़ा जा सकता। इसलिए राष्ट्रवाद के उदय की किसी निश्चित तिथि का संकेत नहीं किया जा सकता, बल्कि उसके संबंध में एक मोटे काल का ही निर्देश किया जा सकता है। एक अन्य मानदंड के अनुसार इतिहास को सदियों में विभाजित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, हम कहते हैं, इंग्लैंड का 15वीं या 16वीं अथवा किसी भी अन्य सदी का इतिहास।

लेकिन काल विभाजन का जो इस सबसे कहीं अधिक महत्वपूर्ण और स्वीकृत मानदंड है उसके अनुसार इतिहास को मानव जाति के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर अलग-अलग कालों में बाँट दिया जाता है। इस आधार पर किए गए विभाजन में हर काल न केवल इतिहास के एक मोटे दौर का सूचक होता है, बल्कि उससे एक विशिष्ट प्रकार के समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीतिक प्रणाली और संस्कृति का भी बोध होता है। जीवन के इन सभी क्षेत्रों में इस काल का अपना एक सुपरिभाषित रूप होता है जिसके आधार पर उसे अन्य कालों में अलग पहचाना जा सकता है। इस आधार पर अधिकांश देशों तथा पूरे विश्व के इतिहास का जो सबसे व्यापक और सामान्यत: सर्वस्वीकृत विभाजन किया गया है उसके अनुसार वह तीन कालों में बँटा हुआ है–प्राचीन, मध्य और आधुनिक। ये काल अलग-अलग देशों पर अलग-अलग दौरों में लागू होते हैं क्योंकि विभिन्न देशों तथा क्षेत्रों में समाज एक से दूसरी अवस्था में अलग-अलग समयों में पहुँचा। उदाहरण के लिए पश्चिमी यूरोप में प्राचीन काल ईस्वी सन् की आरंभिक सदियों के दौरान समाप्त हुआ और मध्य काल तब आरंभ हुआ, जब समाज की व्यवस्था एक नया रूप ग्रहण करने लगी। इसकी विशेषता सामंतवाद का विकास थी। इसी

प्रकार कहा जा सकता है कि पश्चिमी यूरोप के इतिहास में मध्यकाल का अंत 15वीं-17वीं सदियों के दौरान हुआ और आधुनिक काल सामंतवाद के पतन तथा पूँजीवाद नामक नई समाज-व्यवस्था के उदय के साथ आरंभ हुआ।

लेकिन दूसरे देशों या क्षेत्रों में–जैसे एशिया या अफ्रीका में–एक प्रकार की समाज व्यवस्था की समाप्ति और दूसरे प्रकार की व्यवस्था का उदय यूरोप के साथ नहीं, बल्कि उससे अलग-अलग समयों में हुआ। इसलिए अलग-अलग देशों और क्षेत्रों के प्राचीन, मध्य और आधुनिक काल के तिथिक्रम अलग-अलग हैं।

यह भी याद रखना चाहिए कि सभी देशों के इतिहास के प्राचीन या मध्यकाल की विशेषताएँ एक जैसी नहीं हैं। उनके सामाजिक और आर्थिक जीवन तथा राजनीतिक प्रणालियों एवं संस्कृति की अनेक तात्विक विशेषताएँ एक दूसरे से भिन्न हैं। उदाहरण के लिए, मध्यकालीन चीन या मध्यकालीन भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीतिक प्रणाली आदि वैसे ही नहीं थे जैसे कि मध्यकालीन यूरोप के थे। लेकिन जब पूरे विश्व के इतिहास का काल विभाजन किया जाता है तब उसके अलग-अलग हिस्सों में दिखाई देने वाली भिन्नताओं को सुविधा की ख़ातिर नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है और समाज तथा अर्थव्यवस्था के नए रूप चाहे दुनिया के एक ही क्षेत्र में क्यों न प्रकट हुए हों, उन्हें नए काल की शुरुआत मान लिया जाता है। उदाहरण के लिए 15वीं से 17वीं सदी तक के काल को जब पश्चिमी यूरोप में आधुनिक काल का आरंभ हुआ, पूरे विश्व के इतिहास के संदर्भ में आधुनिक काल की शुरुआत का दौर माना जाता है। ऐसा मानने का कारण यह है कि इन सदियों के दौरान पश्चिमी यूरोप में जो प्रवृत्तियाँ उभरीं उनमें से कुछेक आगे चलकर विश्व के दूसरे हिस्सों के कई अन्य देशों और क्षेत्रों की भी या तो मुख्य विशेषताएँ बन गईं या उन्होंने उनके इतिहास को प्रबल रूप से प्रभावित किया।

समकालीन इतिहास

जैसा कि ऊपर कहा गया है, विश्व इतिहास के पंद्रहवीं-सत्रहवीं सदी से आरंभ होने वाले काल को आधुनिक काल माना जाता है। 'आधुनिक काल' में 'आधुनिक' शब्द के प्रयोग से यह समझा जा सकता है कि इसमें इस काल की शुरुआत से लेकर आज तक के दौर में, जिसमें हम रहते हैं, घटित विकास क्रमों का समावेश है। लेकिन अब से दो-तीन दशक पहले तक इतिहासकार उस काल के बारे में लिखने से आमतौर पर झिझकते थे जिसमें स्वयं वे या उनके समकालीन लोग (जिनमें से कुछ उम्र में उनसे काफी बड़े होंगे) जी रहे हैं। 1950 और 60 वाले दशकों में, बल्कि दरअसल तो 1970 वाले दशक में भी लिखे और पढ़ाए जाने वाले इतिहास 1945 (द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति का वर्ष) या 1939 (द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ का वर्ष) तक आकर ख़त्म हो जाते थे। कुछ तो उससे भी काफ़ी पहले 1914 या 1918 (प्रथम विश्व युद्ध के क्रमश: आरंभ और अंत के वर्ष) में ही समाप्त हो जाते थे। इसके कुछ कारण तो काफ़ी ठोस थे। इतिहासकार जिस काल में जी रहा है, उस काल का इतिहास लिखने के लिए उसे जिन स्रोतों की आवश्यकता होगी उनमें से कई महत्वपूर्ण स्रोत उसे उपलब्ध नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए सरकारों के कार्यकलाप से संबंधित बहुत से महत्वपूर्ण सरकारी काग़ज़ात इतिहासकारों को अध्ययन के लिए पचास-साठ साल बाद (कुछ क्षेत्रों में 30 साल बाद) ही सुलभ हो पाते हैं। सरकार की नीतियों के निर्धारण तथा उनके कार्यों के संचालन से संबंधित कई व्यक्ति–जैसे प्रधानमंत्री, मंत्रीगण और उच्चाधिकारी–अपने कार्यकलाप की डायरियाँ या संस्मरण लिखते रहते हैं। ये डायरियाँ और संस्मरण (जिन्हें निजी काग़ज़ात कहा जाता है) सामान्यत: लेखकों के जीवनकाल में प्रकाशित नहीं किए जाते और किए भी जाते हैं तो उनके ऐसे अंशों को निकाल दिया जाता है जिनसे उनकी या उनकी सरकार की ख़राब छवि उभरे। सरकारी प्रलेख और निजी काग़ज़ात बहुधा संवेदनशील किस्म के मामलों या जीवित व्यक्तियों से संबंधित होते हैं और उनके प्रकाशन से सरकार या ऐसे व्यक्ति तत्काल दुविधापूर्ण स्थिति में पड़ सकते हैं। विभिन्न देशों के नेताओं के बीच की वार्ताओं के कुछ विवरण ऐसे होते हैं कि यदि उन्हें प्रकाशित कर दिया जाए तो उनके व्यक्तिगत संबंध या संबंधित देशों के आपसी संबंध बिगड़ सकते हैं। ऐसा भी होता है कि सरकारें कुछ ऐसे काग़ज़ात तो प्रकाशित कर देती हैं जिनसे

प्रकट हो कि उनकी नीतियाँ और कार्यवाहियाँ स्वयं उनके देश के लिए ही नहीं, सारी दुनिया के लिए भी हितकर थीं, लेकिन ऐसी जानकारी रोके रखती हैं जिनसे इसके विपरीत निष्कर्ष निकल सकता है। ग़रज़ यह कि जानकारी की सभी प्रासंगिक स्रोतों की अनुपलब्धता के कारण बहुत से इतिहासकार हाल के वर्षों का इतिहास लिखना उचित नहीं समझते।

एक और भी महत्वपूर्ण कारण से इतिहासकार उस काल का इतिहास लिखने को अनिच्छुक रहते हैं जिसमें वे जी रहे हैं। इतिहास लेखन उचित तथा उपयोगी बौद्धिक कार्य तभी हो सकता है जब उसमें कोई पूर्वाग्रह न हो। जो इतिहासकार वर्तमान के संबंध में लिखता है वह एक अर्थ में स्वयं भी इतिहास की प्रक्रिया में भागीदार होता है और वह जिन घटनाओं या विकास प्रक्रमों के बारे में लिख रहा होता है उनसे भावनात्मक रूप से जुड़ा होता है। इसलिए मान्यता यह है कि ऐसे इतिहास का लेखन पूर्वाग्रह रहित और वस्तुपरक नहीं हो सकता।

वर्तमान या समकालीन इतिहास (समकालीन इतिहास की परिभाषा हम आगे करेंगे) लिखने में इतिहासकार की झिझक का पहला कारण वस्तुत: उतना प्रबल नहीं है जितना कि उसे कभी-कभी समझा जाता है। समकालीन इतिहास के संबंध में इतनी अधिक और विविध सामग्री उपलब्ध होती है कि कुछेक सरकारी प्रलेखों और निजी काग़ज़ातों के अभाव से कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ सकता। अलबत्ता ऐसे ऐतिहासिक प्रश्न इसके अपवाद हैं जिनका समाधान सभी सरकारी दस्तावेज़ों, निजी काग़ज़ातों आदि के उपलब्ध होने पर ही हो सकता है। हाल के इतिहास के ऐसे अनेक प्रश्नों की कल्पना की जा सकती है। उदाहरण के लिए अगस्त 1991 में मास्को में होने वाली घटनाओं से उठने वाले प्रश्न। लेकिन इतिहास के कुछ ऐसे पक्ष भी हैं–जैसे सामाजिक और आर्थिक जीवन, राजनीतिक संस्थाएँ, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी (टैक्नॉलोजी) और संस्कृति के विभिन्न घटक–जिनके संबंध में समकालीन इतिहास लिखने के लिए जितनी आसानी से सामग्री मिल सकती है उतनी आसानी से अतीत के किसी काल के इतिहास के लेखन के लिए नहीं मिल सकती और यह तो मानना पड़ेगा कि इतिहास के यह पहलू इतिहासकार के लिए काफ़ी महत्वपूर्ण होते हैं। इसके अलावा यह सामग्री विश्व के प्राय: सभी हिस्सों के संबंध में उपलब्ध है। जहाँ तक पूर्ववर्ती कालों का संबंध है, दुनिया के अधिकांश हिस्सों की आबादी तक से संबंधित ठीक-ठीक तथ्य मिलना मुश्किल होता है।

पूर्वाग्रह का प्रश्न अधिक महत्व का है हालाँकि हाल के वर्षों के भारतीय समाचार-पत्रों के पाठक इस बात की साक्षी भरेंगे कि कुछ पेशेवर इतिहासकारों द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास पर लिखी गई पुस्तकों और लेखों, कम-से-कम लोकप्रिय किस्म की पुस्तकों और लेखों, में जितना पूर्वाग्रह दिखाई देता है उतना हाल के वर्षों से संबंधित इतिहास लेखन में नहीं पाया जाता। फिर भी पूर्वाग्रह का ख़तरा काफी गंभीर होता है। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि पूर्वाग्रह केवल या मुख्य रूप से संकुचित दृष्टिकोण की उपज हो। इतिहासकार की दृष्टि पर उसके दार्शनिक दृष्टिकोण या विश्व की समस्याओं को देखने के उसके आम रवैये का मुलम्मा चढ़ा हुआ हो सकता है। इतिहास लेखन के क्रम में संकुचित दृष्टिकोण के लिए कोई स्थान नहीं है लेकिन कोई भी इतिहासकार किसी न किसी प्रकार के दार्शनिक दृष्टिकोण से मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि हर इतिहासकार समकालीन समस्याओं और प्रश्नों को किसी न किसी ख़ास नज़रिये से देखता है। सच तो यह है कि इतिहासकार का सामान्य दृष्टिकोण या दार्शनिक नज़रिया उसके अध्ययन का महत्वपूर्ण सहायक उपादान होता है। अपने समान्य दृष्टिकोण या दार्शनिक नज़रिये के बल पर ही वह अपनी आरंभिक प्रस्थापना (हाइपॉथिसिस) की रचना करता है जो इसके आगे के अध्ययन के लिए आधार का काम करती है। इस दृष्टिकोण के सहारे ही वह घटनाओं या अपने अध्ययन के विषय की एक सुसंगत तस्वीर तैयार करता है लेकिन इतिहासकार को इस ख़तरे की ओर से हमेशा सावधान रहना पड़ता है कि उसका सामान्य दृष्टिकोण कहीं संकीर्ण दृष्टि का रूप लेकर उसके लिए चीज़ों को सही परिप्रेक्ष्य में समझने में सहायक होने की बजाय बाधक न बन जाए। यह बात भी महत्वपूर्ण है कि ऐतिहासिक कृति का पाठक आलोचनात्मक दृष्टि से उसका अध्ययन करे और इतिहासकार के सामान्य दृष्टिकोण और उसकी कृति पर उसके प्रभाव के प्रति सजग रहे।

समकालीन इतिहास का अध्ययन करने में जो एक अधिक गंभीर समस्या सामने आती है उसका संबंध ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से या उस चीज़ से है जिसे एक इतिहासकार ने "अंत में क्या हुआ, यह जानने" से है। पहले के काल की किसी घटना के बारे में–जैसे इंग्लैंड के गृह युद्ध या पलासी की लड़ाई के संबंध में – लिखने वाले इतिहासकार को यह मालूम होता है कि उस घटना का अंत क्या हुआ और उसके दीर्घकालीन परिणाम क्या हुए। लेकिन शीत युद्ध के अंत के बारे में या भूतपूर्व सोवियत संघ से टूट कर बनने वाले गणराज्यों में जो परिवर्तन हो रहे हैं उनकी अंतिम परिणति के विषय में इतने ही विश्वास के साथ नहीं लिखा जा सकता।

कुछ इतिहासकार तो 19वीं सदी का इतिहास लिखना भी निरापद नहीं मानते थे क्योंकि इसमें उन्हें इतिहासकार के अध्ययन पर उसकी दृष्टि का रंग चढ़ जाने का ख़तरा दिखाई देता था और उनका ख़्याल था कि अभी इतना समय नहीं बीत पाया है कि पूरा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य सुलभ हो सके। बेशक ऐसे इतिहासकारों की संख्या अधिक रही है जो हाल के इतिहास पर लिखने से बचते रहे हैं और उनके इस रवैये के पीछे ज़्यादा सबल तर्क भी रहा है। हाल के इतिहास के एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि समकालीन इतिहास लिखना कितना 'असुरक्षित' हो सकता है। 1928 में एक विद्वान ने *इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका* के नए संस्करण के लिए पूँजीवाद पर एक आलेख तैयार किया। उसमें उसने लिखा,"पूँजीवाद को आज भी बेरोज़गारी के लिए ज़िम्मेदार ठहराया जाता है। पूँजीवाद में समय-समय पर आने वाली व्यापारिक तेज़ी और मंदी को इसका कारण बताया जाता है। लेकिन अब इसमें कोई शक नहीं रह गया है कि समय-समय पर कुछ उतार-चढ़ाव तो आते ही रहेंगे लेकिन इनकी तीव्रता अब बहुत कुछ कम हो गई है।" यह आलेख *इनसाइक्लोपीडिया* में 1929 में प्रकाशित हुआ और यही वह वर्ष था जब इतिहास की सबसे बड़ी आर्थिक मंदी आरंभ हुई जिसकी चपेट में विश्व के लगभग सभी हिस्से आ गए। 1920 वाले दशक में 1929 के पहले पश्चिमी दुनिया के कई पूँजीवादी देशों का तीव्र आर्थिक विकास हुआ था और उनकी समृद्धि में अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी। इन सबको देखकर इस आलेख के लेखक को विश्वास हो गया कि आख़िरकार पूँजीवादी व्यवस्था में स्थिरता आ गई है। लेकिन दुर्भाग्य से उसका आलेख प्रकाशित होते ही ग़लत साबित हो गया। ऐसे ही और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। मसलन हाल की कुछ घटनाओं से विश्व समाजवादी प्रणाली की बढ़ती हुई शक्ति के बारे में कतिपय समाजवादी चिंतकों का दृष्टिकोण ग़लत साबित हो गया है। अभी आठ-दस साल पहले तक इतिहासकार रूस के 1917 के बाद के घटनाक्रम को या विगत सात दशकों के समाजवादी आंदोलन को जिस दृष्टि से देखता था, आज उसे वह उसी दृष्टि से नहीं देखेगा।

इस संदर्भ में बीसवीं सदी के इतिहास पर हाल ही में (1994) एरिक हॉब्सबॉम द्वारा लिखित एक पुस्तक का उद्धरण देना उचित होगा। इस पुस्तक के आमुख में उन्होंने लिखा है, "बीसवीं सदी के इतिहास को कोई भी इस प्रकार से नहीं लिख सकता जिस प्रकार से वह किसी अन्य काल के बारे में लिख सकता है। इसका सीधा कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने जीवन काल के बारे में उस तरह से नहीं लिख सकता जिस तरह से वह किसी अन्य काल के बारे में लिखेगा और किसी काल के बारे में लिखने के लिए वह उस काल का अध्ययन उस काल के बाहर से ही करेगा और उसे ऐसा अवश्य करना चाहिए। मेरे जीवन की अवधि तथा इस पुस्तक में वर्णित इतिहास की अवधि लगभग एक है। इस अवधि के अधिकतम हिस्से में, अपनी किशोरावस्था से अब तक, मैं सार्वजनिक मामलों के प्रति सजग रहा हूँ और इन मामलों के संबंध में मेरे विचार और मेरे पूर्वाग्रह एक शोधकर्ता के रूप में नहीं बल्कि एक समकालीन व्यक्ति के रूप में बने हैं। इसी कारण से 1914 के बाद की अवधि पर आमतौर पर मैंने एक इतिहासकार की हैसियत से नहीं लिखा। मैं इस अवधि के बारे में और हैसियतों से अवश्य लिखता रहा हूँ।" लेकिन हॉब्सबॉम के अनुसार अब "1914 से सोवियत युग की समाप्ति तक" के बीसवीं सदी के इतिहास को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना मुमकिन है।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट होगा कि काफ़ी सारा समकालीन इतिहास 'अनंतिम' यानि ऐसा होता है जिसके अंत का हमें पता नहीं होता। उदाहरण के लिए

पिछले पाँच वर्ष की घटनाओं के कारण 1990 में प्रकाशित इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के कुछ हिस्सों की सार्थकता पूरी तरह से समाप्त हो गई है। इसके प्रकाशन के एक साल के अंदर ही सोवियत संघ जिसे संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ विश्व की सर्वप्रमुख सैनिक शक्ति बताया जाता था, अपना अस्तित्व ही खो बैठा। जिस तरह के समाजवाद की रचना सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों में की गई थी, वह पूँजीवाद के विकल्प के रूप में लोगों के लिए अपना आकर्षण खो बैठा। प्रथम विश्वयुद्ध के अंत में राज्य के रूप में जन्म लेने वाला और गुटनिरपेक्ष आंदोलन में अग्रणी भूमिका निभाने वाला यूगोस्लाविया टूट गया। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की व्यवस्था का अंत हो गया और वहाँ लोकतांत्रिक पद्धति से निर्वाचित ग़ैर-नस्ली सरकार सत्तारूढ़ हुई। विकास के अलग-अलग मार्गों का अनुसरण करने वाले दो स्वतंत्र राज्यों के रूप में जर्मनी का विभाजन समाप्त हो गया। इनमें से कुछ बदलावों के बारे में हमें कोई पूर्वाभास तक नहीं था और न हम सोचते थे कि यह बदलाव इतनी तेज़ी से हो सकते हैं। इस प्रकार समकालीन इतिहास के बहुत बड़े अंश में वह निर्णायकता या अंतिमता नहीं है जो पहले के कालों के इतिहास में है।

लेकिन साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि पूरा का पूरा समकालीन इतिहास 'अनंतिम' या ऐसा नहीं होता जिसके बारे में हम कुछ भी यकीन से नहीं कह सकते। उदाहरण के लिए जिस प्रकार किसी भी नए वैज्ञानिक शोध से यह कथन ग़लत साबित होने वाला नहीं है कि पृथ्वी चौरस नहीं है, इसी प्रकार यह कथन भी किसी बात से झुठलाया नहीं जा सकता कि यूरोपीय शक्तियों ने 19वीं सदी या उससे पहले से जिस साम्राज्यवाद प्रणाली की रचना की थी, वह द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत लगभग दो दशकों के अंदर ही बिखर गई। साम्राज्यवाद के बिखराव से संबंधित यह कथन समकालीन विश्व के अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विकास प्रक्रम की जानकारी देता है। समकालीन इतिहास के और भी कई महत्वपूर्ण विकास प्रक्रम हैं जिनके बारे में हमारी जानकारी को 'अनंतिम' नहीं कहा जा सकता यद्यपि काफी कुछ ऐसी बातें भी होंगी जिनके बारे में हमारी जानकारी फ़िलहाल अनंतिम ही रहेगी। इस सबके बावजूद हम जिस दुनिया में जी रहे हैं उसे और उसकी समस्याओं को समझने के लिए समकालीन इतिहास की जानकारी बहुत ज़रूरी है, भले ही वह जानकारी अनंतिम ही क्यों न हो।

'समकालीन इतिहास' क्या है ? इस प्रश्न के अनेक और विविध उत्तर दिए जा सकते हैं। शब्दार्थ की दृष्टि से देखें तो इसका मतलब होगा सिर्फ वह सब जो समकालीन इतिहास लिखते समय ही घटित हो रहा है या फिर उन घटनाओं का विवरण जिनके बीच इतिहासकार जिया है। लेकिन अधिकतर इतिहासकार इसे इतिहास का एक निश्चित काल मानते हैं, और जिसकी अपनी कुछ ख़ास विशेषताएँ हैं। ग़रज़ यह कि यहाँ भी स्थिति वैसी ही है जैसी कि प्राचीन, मध्य या यहाँ तक कि आधुनिक काल के इतिहास के बारे में है जिनमें से प्रत्येक से एक विशिष्ट काल और, मोटे ढंग की ही सही, कुछ ख़ास विशेषताओं का बोध होता है। कुछ इतिहासकार हाल के आधुनिक इतिहास को समकालीन इतिहास मानते हैं। 1960 वाले दशक के आरंभ में लिखते हुए एक इतिहासकार कहता है, ". . . हमारे युग का एक ऐसा सुपरिभाषित स्वरूप है कि हम समकालीन इतिहास की बात एक विशिष्ट अर्थ में कर सकते हैं। 1945 से आज तक के महत्वपूर्ण वर्षों को समकालीन इतिहास का विशेष क्षेत्र माना जा सकता है।" 1986 में प्रकाशित अपनी एक कृति में एक रूसी इतिहासकार 1917 से 1945 तक के काल को समकालीन इतिहास का प्रथम चरण बताता है। वह आगे लिखता है: "समकालीन इतिहास रूस की 1917 की महान अक्तूबर क्रांति से आरंभ होता है। इस क्रांति ने मानव जाति के भाग्य में एक अमूल परिवर्तन का सामान जुटाया है। उसने शोषक वर्गों के शोषण की स्थिति से शोषण के उन्मूलन की ओर, सामाजिक न्याय की स्थापना की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।" पश्चिमी यूरोप के बहुत से इतिहासकारों ने 1914 से 1945 के बीच के वर्षों को समकालीन इतिहास का क्षेत्र माना। शायद यह इस दृष्टि का द्योतक है कि इस दौरान जो कुछ यूरोप में घटित हुआ वही विश्व इतिहास की केन्द्रीय शक्ति था। 1965 में एक फ्रांसीसी इतिहासकार की एक कृति, प्रकाशित हुई जिसका शीर्षक था *मेजर कंट्रोवर्सीज़ ऑफ़*

कंटेंपरेरी हिस्ट्री (समकालीन इतिहास के कुछ बड़े विवाद)। उसने 11 हज़ार प्रकाशित रचनाओं के विश्लेषण तथा व्यक्तिगत भेंटवार्ताओं के ज़रिये 1914 से 1945 तक के काल के 65 विवादों का अध्ययन किया। इस पुस्तक में अधिकांश विवादों का संबंध यूरोप की घटनाओं से था। कुछेक यूरोप के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका की नीति के बारे में थे और दो का संबंध रूस और संयुक्त राज्य से जापान के रिश्तों से था। इस पुस्तक में विश्व के अन्य किसी भी हिस्से की कोई चर्चा नहीं थी।

आज पूरी दुनिया के इतिहासकारों में बीसवीं सदी को समकालीन इतिहास का विशिष्ट क्षेत्र मानने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। बीसवीं सदी के इतिहास को समकालीन इतिहास मानने का कारण सिर्फ़ यही नहीं है कि तिथिक्रम की दृष्टि से यह एक सुविधाजनक काल है या यह हाल का आधुनिक इतिहास है बल्कि इसका कारण यह मान्यता है कि इस काल का एक सुपरिभाषित स्वरूप है और इस स्वरूप के कारण यह इतिहास का एक पृथक काल बन जाता है–आधुनिक इतिहास से भी पृथक काल।

समकालीन इतिहास या बीसवीं सदी के इतिहास को अधिकाधिक समकालीन विश्व के इतिहास के रूप में भी देखा जा रहा है। इसका कारण यह है कि आज मानव जाति में यह जागरूकता पैदा हो गई है कि "उसके सभी सदस्य विश्व समुदाय से अनिवार्य रूप से जुड़े हुए हैं"। बीसवीं सदी के ठीक पहले के काल को संकुचित दृष्टि से देखना और यह मानना संभव था कि यूरोप विश्व इतिहास में प्रमुख भूमिका निभाता है लेकिन अब ऐसी दृष्टि "सतही तौर पर भी तर्क संगत नहीं रह गई है और बीसवीं सदी के किसी भी इतिहास में पूरी दुनिया को दृष्टि में रखकर चलना आवश्यक हो गया है, जैसा पहले नहीं था"। जाफ़्री बैरकलॉ ने अपनी पुस्तक *एन इंट्रोडक्शन टू कंटेंपरेरी हिस्ट्री* (समकालीन इतिहास का परिचय) में लिखा है, "समकालीन इतिहास का एक विशिष्टता-सूचक तथ्य यह है कि वह विश्व का इतिहास है और उसको रूपाकार देने वाली शक्तियों को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक हम विश्वव्यापी दृष्टि अपनाकर विचार करने को तैयार न हों।" जिस काल को उन्होंने समकालीन कहा है उसे वे आधुनिक इतिहास से गुणवत्ता तथा अंतर्वस्तु दोनों दृष्टियों से भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार समकालीन इतिहास की अपनी ऐसी विशेषताएँ हैं "जो उसे उससे पहले के काल से उसी तरह अलग करती हैं जिस तरह मध्यकालीन नाम से जाना जाने वाला इतिहास आधुनिक कहे जाने वाले इतिहास से अलग दिखता है।" यद्यपि समकालीन इतिहास को कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती, तथापि बैरकलॉ के अनुसार "इस इतिहास की शुरुआत उस समय से होती है जब आज की दुनिया की वास्तविक समस्याएँ स्पष्ट रूप ग्रहण करने लगती हैं।" वे मानते हैं कि वह समय उन्नीसवीं सदी का अंतिम दशक था।

एरिक हॉब्सबॉम की पूर्व उद्धृत पुस्तक *एज ऑफ़ एक्स्ट्रीम्स* (चरमसीमाओं का युग) का उपशीर्षक "लघु बीसवीं सदी 1914–1991" है। इस पुस्तक के अनुसार "प्रथम युद्ध के शुरू होने से लेकर सोवियत संघ के ध्वस्त होने तक की अवधि को जब हम आज देखते हैं तो यह अवधि एक सम्बद्ध ऐतिहासिक युग के रूप में नज़र आती है, एक ऐसा युग जो अब समाप्त हो गया है"। और "अब इस बात में किसी गम्भीर संदेह की गुंजाइश नहीं है कि बीसवीं सदी के नवें दशक के अंतिम वर्षों तथा दसवें दशक के प्रारंभिक वर्षों के दौरान विश्व इतिहास का एक युग समाप्त हो गया और एक नए युग का प्रारंभ हुआ।"

इस पुस्तक में समकालीन इतिहास का प्रारंभ उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक से प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसमें 1991 के बाद के भी कुछ परिवर्तनों एवं घटनाओं की चर्चा की गई है। किंतु 1980 के दशक के अंतिम वर्षों और 1990 के दशक के प्रारंभिक वर्षों को एक युग की समाप्ति के वर्षों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

समकालीन इतिहास : कुछ ख़ास विशेषताएँ

जैसा की ऊपर संकेत किया गया है, समकालीन इतिहास की मुख्य विशेषता यह है कि इस दौर में "दुनिया इस तरह से एक हो गई है जैसी वह पहले कभी नहीं थी।" आज भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जो दुनिया को अलग-अलग हिस्सों में बाँटती हैं। कुछ देश ऐसे हैं जिनकी अर्थव्यवस्था अत्यंत विकसित है

लेकिन कुछ ऐसे भी देश हैं जो घोर आर्थिक पिछड़ेपन से ग्रस्त हैं। इसके अलावा विचारात्मक तथा राजनीतिक विभाजन भी हैं, हालाँकि केवल दस साल पहले के मुकाबले में भी इनमें से कई कम महत्वपूर्ण लगते हैं। समकालीन इतिहास अधिकांश में मुकाबलों और संघर्षों का इतिहास रहा है किंतु इन विभाजनों तथा संघर्षों के बावजूद मानव जाति की सामान्य समस्याएँ समान रूप से सबकी समस्याएँ बन गई हैं।

समकालीन इतिहास की एक अन्य विशेषता यह है कि सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन के हर पहलू में तथा मानव कार्यकलाप के प्रत्येक क्षेत्र में ज़बरदस्त परिवर्तन हुए हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान तथा फिर 1951 से 1956 तक इंग्लैंड के प्रधानमंत्री पद का दायित्व संभालने वाले विंस्टन चर्चिल ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि जब वे राजनीति में प्रवेश कर रहे थे उस समय एक वरिष्ठ राजनीतिज्ञ ने उन्हें एक सलाह दी थी, "भाई चर्चिल, अपने दीर्घ जीवन के अनुभव से मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कहीं कुछ नहीं होता, कुछ नहीं बदलता।" इस सलाह पर टिप्पणी करते हुए चर्चिल का कहना है, "वह दिन और आज का दिन, ऐसा कभी नही हुआ जब कुछ न कुछ होता नहीं रहा, बदलता नहीं रहा।" चर्चिल ने वर्तमान सदी को "भयावह बीसवीं सदी" कहा है। समकालीन युग जिसमें मुख्यत: बीसवीं सदी का समावेश है, कई प्रकार से सचमुच एक "भयावह" युग रहा है। जैसा सामूहिक विनाश इस सदी में हुआ है, जैसा दुख दर्द इस सदी को सहना पड़ा, वैसा पहले की किसी सदी में नहीं हुआ और ख़ास बात तो यह है कि इसमें हुई तबाही और बहुत सा दुख दर्द ऐसे थे जिनसे विश्व को बचाया जा सकता था। लेकिन इन बातों के अलावा इस सदी में और भी बहुत सी बातें हुई हैं। इसी सदी के दौरान विश्वव्यापी स्तर पर साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का अवसान हुआ। यूरोप आधुनिक काल के आरंभ से ही दुनिया पर जिस प्रभुत्व का उपभोग कर रहा था, उसका अंत हुआ और जिसे तीसरी दुनिया के नाम से जाना जाता है उसका यानि एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के जन समाजों का विश्व के रंगमंच पर एक बड़ी शक्ति के रूप में उदय हुआ। इसी काल में संयुक्त राज्य अमरीका और कई दशकों के लिए सोवियत संघ भी विश्व शक्तियों या महाशक्तियों के रूप में उदित हुआ। इस प्रकार पिछले सौ सालों में विश्व राजनीति का पूरा कायाकल्प हो गया है।

पूरी दुनिया में राज्य के स्वरूप और दायित्वों में परिवर्तन आए हैं तथा नए प्रकार के राज्यों का उदय हुआ है। राज्य के रूपों की भिन्नता के बावजूद, राज्य की सत्ता और शक्ति में सर्वत्र वृद्धि हुई है और आज का राज्य पहले के राज्य की अपेक्षा बहुत ज्यादा किस्म के कार्य करता है। अपने-अपने देश के राजनीतिक मामलों में जनता की सक्रिय भागीदारी बहुत बढ़ गई है और आज वह इतिहास के निर्माण में पहले की अपेक्षा अधिक योगदान कर रही है। स्मरणीय है कि 1890 में सार्वजनीन मताधिकार दुनिया के लगभग हर हिस्से में एक अनजानी चीज़ थी। आज विश्व के अधिकांश देशों में यह राजनीतिक जीवन की एक सामान्य विशेषता है।

सारी दुनिया में अर्थव्यवस्था तथा समाज में भारी परिवर्तन हुए हैं। अठारहवीं सदी के अंतिम दशक में इंग्लैंड में आरंभ होने वाली औद्योगिक क्रांति उन्नीसवीं सदी के अंत तक यूरोप के कुछ देशों तथा उत्तर अमरीका में फैल चुकी थी। बीसवीं सदी में उद्योगवाद एक विश्वव्यापी प्रवृत्ति बन चुका है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी (टैक्नॉलोजी) के क्षेत्र में ऐसी दूरगामी और मौलिक प्रगति हुई है कि उसे हम बहुधा क्रांति की संज्ञा देते हैं। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का उद्योग में सीधा उपयोग किया जा रहा है जिससे आर्थिक जीवन में प्रगति की रफ्तार और भी तेज़ हो रही है। लेकिन इस दौर में एक बात यह हुई है कि जिन देशों को आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का लाभ प्राप्त नहीं है, वे बहुत पिछड़ गए हैं और आर्थिक दृष्टि से विकसित तथा अन्य देशों के बीच का अंतर और भी बढ़ गया है। सभी समाजों का भारी रूपांतरण हुआ है। मानवीय आकांक्षाओं में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है–"मानव जाति का अपेक्षाकृत बहुत बड़ा प्रतिशत पहले की तुलना में बहुत ज्यादा माँग कर रहा है और यह भी मान रहा है कि उसे पूरा करना संभव है।" उन्नीसवीं सदी के मध्य में उदित होने वाली समाजवाद जैसी विचारधारात्मक चुनौतियाँ बीसवीं सदी में ज़बरदस्त ताकतें बन गईं और विश्व

के सभी भागों में करोड़ों लोग उनके प्रभाव में आए। यद्यपि समाजवादी मार्ग पर चलने वाली बहुत सी राज्य व्यवस्थाएँ बिखर गई हैं तथापि समाजवादी आदर्श ने मानवाधिकारों तथा लोकतंत्र की कल्पना को समृद्ध किया है। सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को सर्वत्र स्वीकृति प्राप्त हुई है।

राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन, कला एवं साहित्य और विचार तथा दर्शन धर्म की गिरफ़्त से ज़्यादा से ज़्यादा आज़ाद हो चले हैं, और धर्म निरपेक्ष होते गए हैं, यद्यपि दुनिया के कुछ हिस्से आज भी सांप्रदायिक संघर्षों तथा हिंसा से ग्रस्त हैं। कुल मिलाकर धर्म की पकड़ ढीली हुई है और "मनुष्य के इहलौकिक जीवन की आकांक्षाओं की पूर्ति की माँग प्रबल से प्रबलतर होती गई है।" पहले के किसी भी काल की कला और साहित्य से समकालीन विश्व की कला एवं साहित्य का फ़र्क साफ़ देखा जा सकता है। बहुत से कलाकारों और साहित्यकारों ने कला एवं साहित्य की समस्त परंपराओं के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने नए रूपों, नए विधानों और बिंबों के प्रयोग किए और नवीन अनुभवों को अभिव्यक्ति दी। जिन देशों में राष्ट्रीय जागरण के अंग के रूप में राष्ट्रीय परंपराओं का सुविचारित पुनरुद्धार किया गया उनमें भी जिस कला तथा साहित्य का विकास हुआ वह पुरातन की नकल तो नहीं ही थी, पारंपरिक रूपों का सातत्य-मात्र भी नहीं था बल्कि यह स्पष्ट रूप से एक नई चीज़ थी। दुनिया के लगभग सभी हिस्सों की कला और साहित्य, मानव इतिहास के किसी भी दौर की तुलना में, दुनिया के दूसरे हिस्सों की कला और साहित्य से अधिक प्रभावित हुए हैं।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं समकालीन इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता "मानव-जाति के सभी सदस्यों के विश्व समुदाय से अनिवार्य रूप से जुड़े होने की भावना" का उदय है। वस्तुत: यह भावना उत्तरोत्तर सर्वप्रमुख भावना बनती जा रही है। मानव-जाति की सर्वमान्य समस्याओं के प्रति सर्वसामान्य चिंता का भाव अधिकाधिक बढ़ता गया है। इन समस्याओं में सबसे प्रधान है परमाणु अस्त्रों तथा अन्य विनाशकारी हथियारों के कारण मानव-जीवन के अस्तित्व पर उपस्थित सर्वव्यापी ख़तरा। अन्य समस्याएँ भी हैं–जैसे गरीबी और पिछड़ेपन की समस्या, जनाधिक्य की समस्या और पर्यावरण की समस्या। यद्यपि पर्यावरण की समस्या की ओर हमारा ध्यान अपेक्षाकृत हाल ही में गया है तथापि इसकी गंभीरता को सर्वत्र सभी लोग स्वीकार करते हैं।

समकालीन इतिहास और आधुनिक इतिहास

ऊपर हमने संक्षेप में इस बात की विवेचना की है कि समकालीन इतिहास आधुनिक इतिहास से भिन्न है। इसलिए आधुनिक इतिहास पर थोड़ा दृष्टिपात कर लेना उपयोगी होगा। याद रहे कि कोई भी ऐतिहासिक काल सर्वथा नया नहीं होता। हर ऐतिहासिक काल में उससे पहले के काल के बहुत से तत्व समाए होते हैं। उसमें हमेशा सातत्व के अनेकानेक तत्व होते हैं। इसलिए अनुवर्ती काल में क्या कुछ नया है इसे ठीक से समझने के लिए पूर्ववर्ती काल को जानना ज़रूरी है।

यदि हम विश्व को एक समग्र दृष्टि से देखें तो कहा जा सकता है कि इतिहास का आधुनिक काल पंद्रहवीं-सत्रहवीं सदियों में आरंभ हुआ। (कहने की ज़रूरत नहीं कि यह कथन विश्व के सभी क्षेत्रों और देशों पर लागू नहीं होता।) इन सदियों के दौरान पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों ने मध्य काल का केंचुल उतारना शुरू कर दिया था। पुनर्जागरण, धर्म-सुधार, आधुनिक विज्ञान का आरंभ, यूरोपीय लोगों द्वारा नए देशों और नए मार्गों (विशेषकर नए समुद्री मार्गों) की खोज जिससे अमरीकी महाद्वीपों तथा एशिया और अफ़्रीका के कुछ हिस्सों में उपनिवेश बसाए गए, तथा राष्ट्र-राज्यों का उदय–ये संक्रमण की इन सदियों की प्रमुख ऐतिहासिक घटनाएँ थीं। ये तमाम घटनाएँ लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के संगठन में एक बुनियादी परिवर्तन से जुड़ी हुई थीं। इस परिवर्तन की विशेषता यह थी कि सामंती व्यवस्था बिखर गई और उसके स्थान पर एक नई व्यवस्था प्रतिष्ठित हुई जिसे पूँजीवाद कहते हैं। इन घटनाओं के फलस्वरूप विश्व का एक बहुत बड़ा भाग आपस में जुड़ गया। इस जुड़ाव को लाने में बहुधा पशुबल का प्रयोग किया गया और अफ़्रीका के मामले में तो लोगों को गुलाम बनाने का भी सहारा लिया गया। एक अन्य घटना जिसका दौर अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में आरंभ हुआ और जिसके फलस्वरूप और भी बुनियादी परिवर्तन हुए, औद्योगिक क्रांति थी। इसका आरंभ

इंग्लैंड में माल बनाने के लिए यंत्रों के उपयोग से हुआ। उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण तक औद्योगिक क्रांति, विभिन्न परिमाणों में यूरोप के अनेक देशों और उत्तर अमरीका में, ख़ास तौर से संयुक्त राज्य अमरीका में, फैल चुकी थी। जिन देशों में औद्योगिक क्रांति फैली, उनका सामाजिक तथा आर्थिक जीवन बिल्कुल बदल गया। आर्थिक प्रवृत्तियों का केन्द्र गांवों से खिसककर शहरों में चला गया। कृषि के स्थान पर औद्योगिक उत्पादन और उससे संबंधित कार्यकलाप का बोलबाला हो गया। इन देशों की संपत्ति का अधिकाधिक भाग इन्हें खेतीबाड़ी की बजाय उद्योगों से प्राप्त होने लगा। समाज में दो नए वर्गों का जन्म हुआ। एक था पूँजीपति या *बुर्जुआ* वर्ग, जो उद्योगों का स्वामी था और जिसका वाणिज्य-व्यापार पर नियंत्रण था। दूसरा था श्रमिक वर्ग अथवा *प्रॉलितेरियत*। इससे मज़दूरी के एवज़ में काम लिया जाता था। साथ ही यह यूरोप के औद्योगीकृत देशों के श्रमिक वर्गों की दुर्गति का काल था। वे लोग श्रमिक संघों में संगठित होने लगे यद्यपि कई देशों में श्रमिक संघ बनाना अवैध था। समाजवादी विचारधारा के प्रभाव में वे एक अलग राजनीतिक शक्ति के रूप में भी संगठित होने लगे। इस प्रकार समाजवादी आंदोलन का जन्म हुआ जिसके तहत न केवल श्रमिकों की आर्थिक माँगों की पूर्ति का प्रयत्न किया गया बल्कि श्रमिकों को स्वयं पूँजीवादी व्यवस्था को ही उखाड़ फेंकने के लिए लामबंद किया जाने लगा। समाजवादी विचारधारा को एक शास्त्रीय रूप देने में कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एंगेल्स ने प्रमुख भूमिका निभाई। उन्हाने यूरोप के कई देशों में समाजवादी आंदोलन का संगठन करने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। समाजवादी विचार संयुक्त राज्य में भी पहुँचे। 1864 में इंटरनेशनल वर्किंगमेंस एसोसिएशन (अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ) का गठन किया गया जो फर्स्ट इंटरनेशनल या प्रथम अंतर्राष्ट्रीय के नाम से प्रसिद्ध है। जब 1876 में उसे औपचारिक रूप से समाप्त किया गया तब तक तो यूरोप के कई देशों में समाजवादी दल गठित हो चुके थे। उनमें से कुछ के समर्थकों की संख्या खासी बड़ी थी। 1871 में समाजवादी विचारों से प्रेरित प्रथम क्रांति पेरिस में हुई। इसे इतिहास में पेरिस कम्यून के नाम से जानते हैं। यद्यपि यह क्रांति मुशकिल से तीन महीने कायम रह सकी तथापि इसका ऐतिहासिक महत्व बहुत है। 1889 में द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय (सेकंड इंटरनेशनल) का गठन किया गया और विभिन्न देशों के समाजवादी दलों को इससे जोड़ दिया गया। इस बीच कई देशों में औद्योगिक क्रांति तथा पूँजीवादी शोषण के कतिपय घोर कुप्रभावों से श्रमिकों की रक्षा करने के लिए कानून बनाए गए।

इन परिवर्तनों के साथ-साथ राजनीतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण बदलाव आ रहे थे। हम ऊपर बता चुके हैं कि मध्यकाल से आधुनिक काल की ओर संक्रमण की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि राष्ट्र राज्यों का गठन हो रहा था। यूरोप में राष्ट्र राज्यों का गठन उन्नीसवीं सदी के दौरान जारी रहा बल्कि कुछ देशों के मामले में तो यह सिलसिला बीसवीं सदी के पहले दो दशकों तक भी कायम रहा। राष्ट्रवाद यूरोप के इतिहास में एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरा।

कई राष्ट्र कई राज्यों में बँटे हुए थे, जैसे जर्मनी। इसके अलावा कई राष्ट्र ऐसे राज्यों में बँटे हुए थे जिनमें से कुछ विदेशी शासन के आधीन थे। ऐसा ही एक राष्ट्र था–इटली। इन सभी राष्ट्रों ने स्वयं को स्वतंत्र राज्यों में एकीकृत और संगठित करने का प्रयत्न किया। यूरोप के कई देशों में राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में एक और भी बड़ा परिवर्तन आया। प्राय: सभी यूरोपीय देशों की राजनीतिक व्यवस्था राजतंत्रिक तथा निरंकुशतापूर्ण थी। सत्रहवीं सदी के गृहयुद्ध के बाद केवल इंग्लैंड ही संसद की सर्वोच्चता स्थापित कर पाया था। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों के दौरान लोकतंत्र तथा जन संप्रभुता के विचारों ने ज़ोर पकड़ा। 1789 में फ्रांसीसी क्रांति हुई, जिसने स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के सिद्धांतों की उद्घोषणा की। इसी क्रांति में सर्वप्रथम *मनुष्य और नागरिक के अधिकारों* का एलान किया गया। इसके पूर्व उत्तर अमरीका में अंग्रेज़ उपनिवेशियों ने *स्वतंत्रता की घोषणा* जारी की थी, जिसमें कहा गया था कि "सभी मनुष्य जन्म से समान होते हैं और उनके कुछ ऐसे अधिकार हैं जिनसे उन्हें वंचित नहीं किया जा सकता।" घोषणा में यह भी कहा गया था कि जनता को अत्याचारी शासन को उखाड़ फेंकने का अधिकार है। उपनिवेशी लोग अपने स्वातंत्र्य युद्ध में सफल रहे थे और उन्होंने एक नए गणतंत्र की स्थापना की थी, जिसका नाम था संयुक्त राज्य अमरीका।

राष्ट्रवाद के साथ ही लोकतंत्र उन्नीसवीं सदी के यूरोप के इतिहास में एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरा। अधिकतर यूरोपीय देशों में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था स्थापित करने के लिए कई क्रांतियाँ और आंदोलन हुए। यद्यपि यूरोप के प्रायः सभी देशों में राजतंत्रिक शासन व्यवस्था ही कायम रही, तथापि कई राजतंत्र संवैधानिक थे, अर्थात् उनका संचालन संविधान के अनुसार होता था और वास्तविक सत्ता संसद के हाथों में थी। किंतु अधिकांश देशों में मताधिकार सबको प्राप्त नहीं था और बहुत से पुरुष तथा सभी स्त्रियां इस अधिकार से वंचित थे।

ये तमाम परिवर्तन यूरोप तथा उत्तर अमरीका तक सीमित थे, बल्कि यूरोप में भी कुछ ऐसे देश थे जो इन नई बातों से अछूते रहे। दुनिया के बाकी हिस्सों में न तो कोई औद्योगिक क्रांति हुई (उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में जापान को छोड़कर) और न उपर्युक्त किस्म के सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन हुए। नए जल थल मार्गों की खोज के परिणामस्वरूप दोनों अमरीकी महाद्वीपों तथा एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशीकरण का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। उन्नीसवीं सदी के अंतिम तीन दशकों के दौरान साम्राज्यवाद की एक नई लहर उठी और उस सदी का अंत होने के पूर्व ही दुनिया का लगभग हर हिस्सा चंद यूरोपीय देशों तथा संयुक्त राज्य की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष अधीनता में आ गया। कुछ देशों में साम्राज्यवाद का प्रतिरोध काफी तीव्र रहा और इसलिए उन पर वास्तविक कब्ज़ा करने में साम्राज्यवादी देशों को ज़्यादा समय लगा। भारत जैसे कुछ देशों पर साम्राज्यवादी विजय इससे भी पहले संपन्न हो चुकी थी। विश्व के जो देश आज तीसरी दुनिया के देश कहलाते हैं, उनका आर्थिक शोषण तो साम्राज्यवादी देश तब भी करते थे जब कि वे प्रत्यक्ष साम्राज्यवादी शासन में नहीं थे। उपनिवेशों की जनता साम्राज्यवादी शासन का विरोध आरंभ से ही करती रही। उन्नीसवीं सदी के समाप्त होने के पूर्व भी उपनिवेशी प्रभुत्व के अधीन आए देशों में बहुत प्रबल शक्तियाँ उभरने लगी थीं, जिन्होंने औपनिवेशिक शासन को समाप्त करने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न इसलिए नहीं था कि उन देशों में फिर से प्रागोपनिवेशिक व्यवस्था कायम की जा सके बल्कि इसलिए कि उन्हें स्वतंत्र *आधुनिक* राष्ट्रों का रूप दिया जा सके। उनका औद्योगीकरण किया जा सके और उनके समाजों की रचना समानता के सिद्धांत के आधार पर की जा सके।

जो दुनिया उन्नीसवीं सदी में विकसित हुई वह बीसवीं सदी में सामने आने वाली दुनिया से बहुत भिन्न थी, ख़ासकर जो दुनिया हमारे आज के जीवन में देखने को मिल रही है उससे। फिर भी यह याद रखना चाहिए कि जो शक्तियाँ बीसवीं सदी की दुनिया का निर्माण करने वाली थीं उनमें से कुछेक उन्नीसवीं सदी से ही उभरने लगी थीं।

अभ्यास

1. इतिहास को विभिन्न कालों में क्यों विभाजित किया जाता है ? इतिहास को अलग-अलग कालों में बाँटने के लिए इतिहासकार सामान्यतः किन मापदंडों का उपयोग करते हैं ?
2. "काफी सारा समकालीन इतिहास अनंतिम होता है।" इस कथन को ध्यान में रखकर समकालीन इतिहास की अवधारणा पर विचार कीजिए।
3. समकालीन इतिहास के लेखकों को किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है ? उदाहरण देकर समझाइए।
4. समकालीन विश्व की उन विशेषताओं का वर्णन कीजिए जिनके कारण वह मानव इतिहास के आधुनिक काल से भिन्न दिखता है।
5. समकालीन इतिहास का अध्ययन क्यों महत्वपूर्ण है ? विवेचना कीजिए।
6. बहुत से इतिहासकार मानते हैं कि सभी समकालीन इतिहास विश्व इतिहास है। क्या आप इससे सहमत हैं ? हैं तो क्यों ? नहीं तो क्यों नहीं ?

अध्याय 2

1890 वाले दशक से प्रथम विश्व युद्ध तक की दुनिया

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक के आसपास से लेकर 1914 में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ने तक दुनिया में यूरोप का बोलबाला था। लेकिन यूरोपीय प्रभुत्व के अवसान के लक्षण पहले से ही प्रकट होने लगे थे। यूरोप के बाहर जापान और संयुक्त राज्य अमरीका, ये दो देश बड़ी शक्तियों के रूप में उदित हो चुके थे। उपनिवेशों में राष्ट्रवादी आंदोलन उभरने लगे थे। उपनिवेशों को लेकर यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच चलने वाली स्पर्धा और यूरोपीय मामलों को लेकर विभिन्न संघर्षों से प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा जो उस महाद्वीप के लिए विनाशकारी साबित हुआ। यूरोप के कई देशों में प्रबल आंदोलन छिड़ गए थे जिनका उद्देश्य तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाना था। युद्ध की समाप्ति के पूर्व ही यूरोप के सबसे बड़े देश रूस में सफल क्रांति संपन्न हो चुकी थी। 1918 ई. में प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होने पर दुनिया का जो रूप सामने आया वह पिछले तीन दशकों की दुनिया से काफ़ी भिन्न था।

यूरोप

यूरोप का प्रभुत्व और साम्राज्यवादी स्पर्धा

उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक में, जब साम्राज्यवादी विस्तार का नया दौर आरंभ हुआ तब से लेकर 1914 तक, एशिया और अफ्रीका के लगभग सभी हिस्से तथा विश्व के कुछ अन्य भाग भी यूरोप के किसी-न-किसी साम्राज्यवादी देश के नियंत्रण में आ चुके थे। एशिया के भारत, मलाया (वर्तमान मलेशिया), सीलोन (आज का श्रीलंका) और बर्मा (वर्तमान म्यानमार) ब्रिटिश शासन के अधीन थे। हिंद-चीन (इंडो-चाइना) के देश फ्रांस के अधीन थे और इंडोनेशिया, डच शासन के अधीन था। चीन पर किसी साम्राज्यवादी देश का प्रत्यक्ष शासन नहीं था लेकिन उसे भी कई देशों ने आपस में अलग-अलग प्रभाव क्षेत्रों में बाँट लिया था। उसकी स्थिति एक अंतर्राष्ट्रीय उपनिवेश की-सी हो गई थी। उसका विखंडन रुका तो 1899-1900 के बॉक्सर विद्रोह के कारण। इस विद्रोह को अंग्रेज़ों जर्मनों, फ्रांसीसियों, जापानियों तथा अमरीकियों की संयुक्त सेनाओं ने दबाया और वे सब बेजिंग पर काबिज़ हो गए, लेकिन इस तरह चीन का विखंडन रुक गया। 1907 में ईरान को तीन हिस्सों में बाँट लिया गया। एक हिस्सा ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया, दूसरा रूसी प्रभाव क्षेत्र में और तीसरे के दरवाज़े इन दोनों देशों के लिए खुले रहे। ब्रिटेन का थोड़ा-बहुत नियंत्रण अफ़गानिस्तान पर भी था। मध्य एशिया रूसी साम्राज्य के अधीन चला गया था। एशिया का एकमात्र बड़ा देश जो स्वतंत्र था, वह जापान था। 1895 में उसने चीन को हराकर फ़ार्मूसा पर कब्ज़ा कर लिया था। बाद के वर्षों में उसने चीन पर अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार किया और मंचूरिया को लेकर छिड़ी एक लड़ाई में रूस को शिकस्त दी। 1910 ई. में उसने कोरिया पर कब्ज़ा कर लिया।

इथियोपिया और लाइबेरिया को छोड़कर बाकी सारा अफ्रीका भी यूरोपीय ताकतों के बीच बँटा हुआ था। 1876 में बेल्जियम के राजा लियोपोल्ड द्वितीय ने कांगो पर न्यूनाधिक निजी संपत्ति के तौर पर कब्ज़ा कर लिया था। यह देश बेल्जियम की सरकार को सन् 1908 में सौंपा गया। ब्रिटेन के अफ्रीकी साम्राज्य में मिस्र, सूडान, रोडेशिया, युगांडा, ब्रिटिश पूर्व अफ्रीका, सियरा लियोन, गोल्ड कोस्ट (घाना), नाइजीरिया और दक्षिण अफ्रीका शामिल थे। फ्रांसीसी लोग अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, मोरक्को, सहारा, फ्रांसीसी कांगो, फ्रांसीसी गिनी, सेनेगल, दाहोमी और मैडागास्कर पर काबिज़ हो गए थे। जर्मनी ने जर्मन पूर्व अफ्रीका, दक्षिण पश्चिम अफ्रीका, कैमरून और टोगोलैंड पर अपना अधिकार जमा लिया था। इटली के अफ्रीकी प्रदेशों में लीबिया और

सोमालीलैंड शामिल थे। पुर्तगाल के कब्ज़े में अंगोला, मोज़ांबीक और पुर्तगाली गिनी थे। रिओ-द-ओरो तथा स्पेनी गिनी पर स्पेन का अधिकार था। इथियोपिया विजय की महत्वाकांक्षा से इटली को 1896 में मुँह मोड़ना पड़ा, जब अडोवा की प्रसिद्ध लड़ाई में इथियोपियाई सेना के हाथों उसे गहरी शिकस्त खानी पड़ी।

इस अध्याय में दिए गए एशिया और अफ्रीका के मानचित्रों में 1914 में इन दोनों महाद्वीपों में विभिन्न यूरोपीय देशों के औपनिवेशिक विस्तार की स्थिति देखी जा सकती है। 1918 ई. तक जापान के औपनिवेशक क्षेत्रों का विस्तार तथा प्रशांत महासागर से लगे देशों में औपनिवेशिक क्षेत्रों का विस्तार अलग मानचित्रों में दिखाए गए हैं।

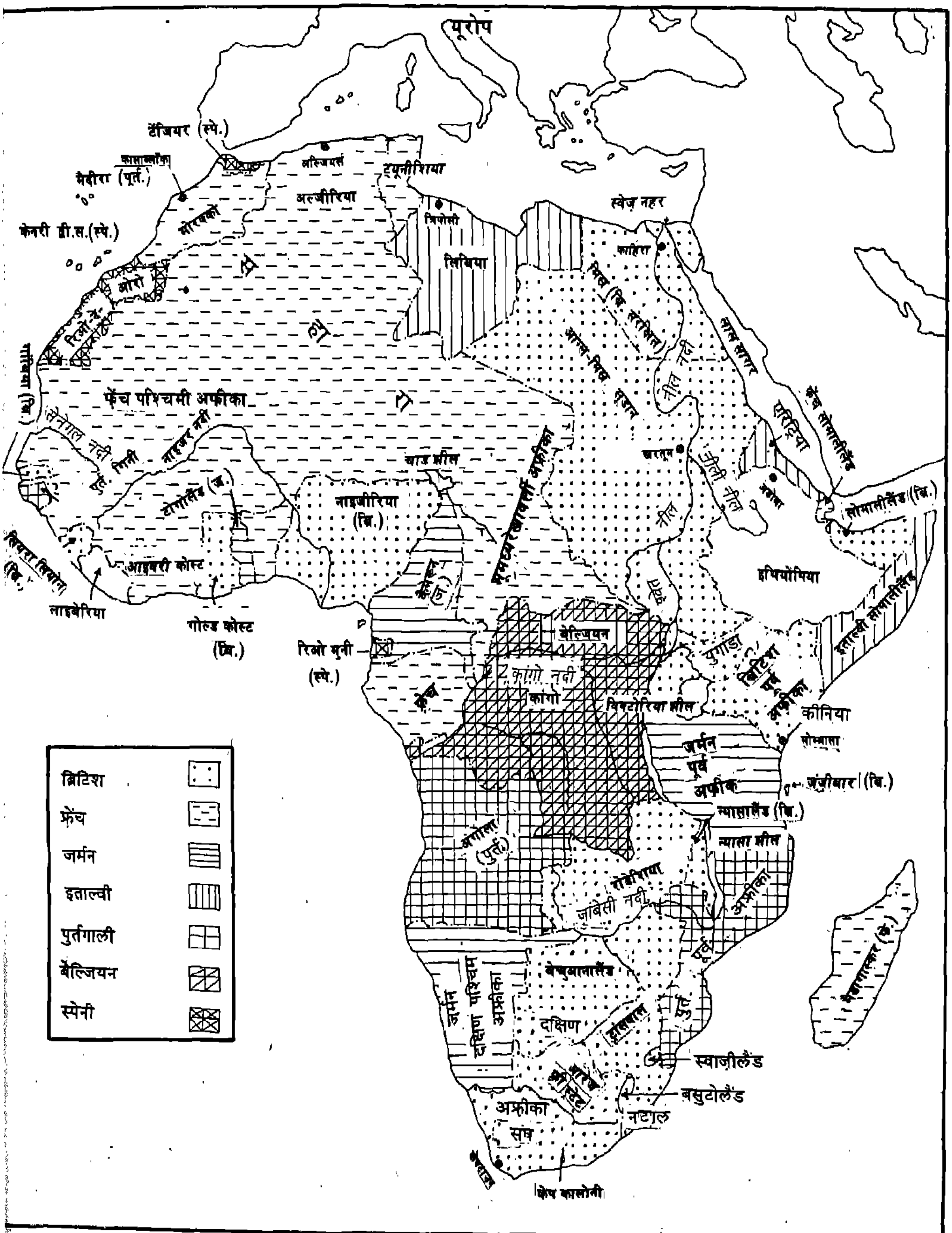
शासित लोगों की संख्या तथा शासित क्षेत्रों के फैलाव–इन दोनों दृष्टियों से ब्रिटिश साम्राज्य सबसे बड़ा था। कहते थे, ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता। इस समय ब्रिटेन की आबादी लगभग 4.5 करोड़ थी, लेकिन उसका औपनिवेशिक साम्राज्य 2.3 करोड़ वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ था और इस क्षेत्र की आबादी लगभग 40 करोड़ थी। प्राय: 3.9 करोड़ आबादी वाला क्षेत्र फ्रांस 5 करोड़ से अधिक आबादी वाले एक करोड़ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर शासन करता था।

यूरोप का विश्व पर केवल राजनीतिक ही नहीं, वरन् आर्थिक प्रभुत्व भी था। ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस–इन तीन यूरोपीय देशों का दुनिया के लगभग 45 प्रतिशत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर नियंत्रण था और विश्व बाज़ार से जितने औद्योगिक उत्पादनों की खपत होती थी, उसका प्राय: 60 प्रतिशत इन्हीं देशों का होता था।

एशिया और अफ्रीका की साम्राज्यवादी विजय के साथ-साथ यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच तीव्र स्पर्धा और संघर्ष भी चलते रहते थे। लेकिन सामान्यत: अधिकांश विवादों का निबटारा यूरोप के सम्मेलन कक्षों में हो जाया करता था और युद्ध टल जाते थे। यूरोपीय शक्तियाँ अपने परस्पर विरोधी दावों का निबटारा आपसी लेन-देन के आधार पर कर लिया करती थीं। उदाहरण के लिए, दावों-प्रति दावों के एक ऐसे दौर के बाद, जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस के बीच लड़ाई की नौबत आ गई थी, 1904 में दोनों देशों के बीच एक गुप्त समझौता हुआ, जिसके अनुसार ब्रिटेन को मिस्र के मामले में "खुली छूट" दे दी गई और बदले में मोरक्को फ्रांस को दे देने का फैसला हुआ। जब इस बात की भनक जर्मनी को लगी तो उसने फ्रांस से मोरक्को पर से अपना दावा वापस लेने को कहा। इसके पश्चात् एक के बाद एक अंतर्राष्ट्रीय संकट उपस्थित होते गए और यूरोप युद्ध के कगार तक पहुँच गया। आख़िर मोरक्को के मसले का निबटारा 1911 में हुआ। फ्रांस जर्मनी को फ्रांसीसी कांगों का एक हिस्सा देने पर राज़ी हो गया और बदले में जर्मनी ने उसे सूचित किया कि जर्मनी की ओर से उसे मोरक्को में चाहे जो करने की छूट है। न ये संकट खड़े करने में और न इनका समाधान ढूंढने में ही फ़ांसीसी कांगों या मोरक्को के लोगों की इच्छा को कोई महत्व दिया गया, जबकि उन्हीं के देशों को लेकर सौदेबाज़ी की जा रही थी।

उपनिवेशों को लेकर छिड़ने वाले अधिकांश विवादों का निबटारा करने वाले इन तथाकथित "सज्जनोचित समझौतों" के बावजूद यूरोपीय राज्यों का सैन्यीकरण बढ़ता ही जा रहा था। हर देश दूसरे देश से डरता था और उसे शंका की दृष्टि से देखता था। फलत: वह अपनी सैनिक तथा नौसैनिक शक्ति बढ़ाने की फ़िक्र में लगा रहता था। हर देश की थलसेना और नौसेना का आकार बढ़ता चला जा रहा था। अधिकांश यूरोपीय देशों ने अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण लागू कर दिया। यूरोप धीरे-धीरे एक सैनिक शिविर में परिणत होता जा रहा था। कहने की ज़रूरत नहीं कि हर देश दावा करता था कि उसकी सैनिक शक्ति की वृद्धि का उद्देश्य मात्र प्रतिरक्षात्मक है, जबकि दूसरों का आक्रामक है। जर्मनी अपनी नौसेना का विस्तार करने लगा तो ब्रिटेन ने उसका विरोध करते हुए कहा कि इतनी शक्तिशाली थलसेना के रहते नौसेना का विस्तार उसके लिए बिलकुल ग़ैर-ज़रूरी है। जर्मन सम्राट द्वितीय कैसर विलियम ने घोषणा की, "जर्मन बेड़े का निर्माण किसी के ख़िलाफ़ नहीं किया जा रहा है, इंग्लैंड के ख़िलाफ़ तो नहीं ही। इसका निर्माण हमारी ज़रूरतों को देखते हुए किया जा रहा है . . . मैं फ्रांस और रूस से और इंग्लैंड से भी स्वयं को सुरक्षित करना चाहता हूँ। और मैं काले लोगों के ख़िलाफ़ पूरे मन से गोरों के पक्ष में हूँ।" उधर ब्रिटेन अपनी नौसैनिक श्रेष्ठता कायम रखने को कटिबद्ध

अफ्रीका में औपनिवेशिक आधिपत्य 1914



था। वह इस श्रेष्ठता का उपभोग पिछले प्राय: तीन सौ वर्षों से करता आ रहा था और अपने साम्राज्य तथा वाणिज्य व्यवसाय की रक्षा के लिए एवं स्वयं को सुरक्षा का भाव देने के लिए वह इसमें किसी तरह की कमी करने को तैयार नहीं था। जिस सरगरमी से विभिन्न यूरोपीय राज्यों की सैनिक शक्ति में वृद्धि की जा रही थी और जिस लगन से युद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं उससे लगने लगा था कि लड़ाई अवश्यम्भावी है। सच तो यह है कि तब युद्ध को एक सामान्य कुदरती बात माना जाता था, बल्कि एक श्रेष्ठ गुण की तरह उसका बखान भी किया जाता था। युद्ध की तैयारियों के साथ-साथ युद्ध का प्रचार भी चलता रहता था और कुछ राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक लोग युद्ध को सृष्टि का एक दैवी नियम और "प्रगति की शर्त" मानते थे।

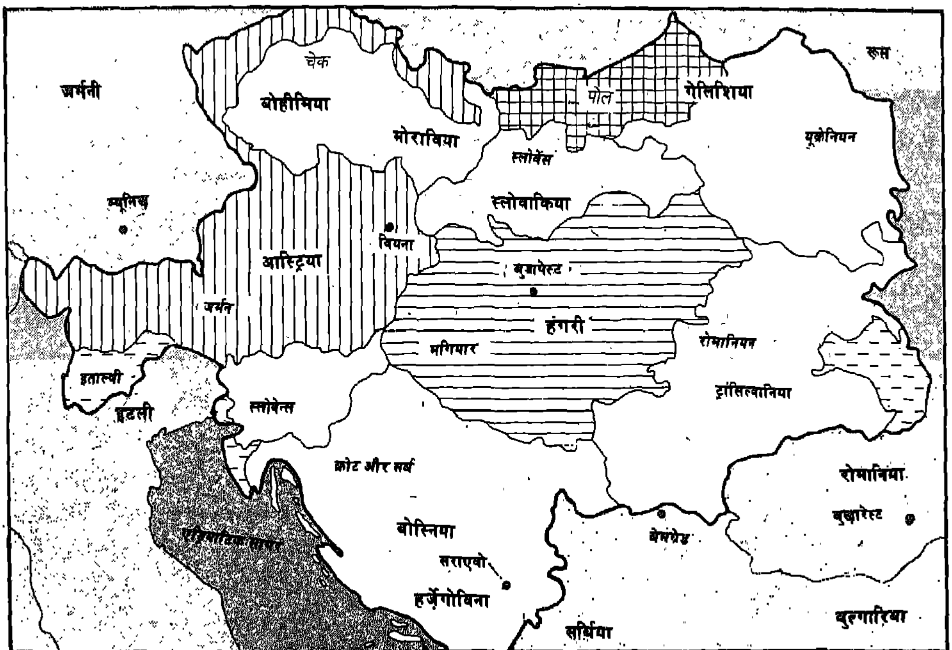
जब हम यूरोप की आर्थिक तथा सैनिक शक्ति की बात करते हैं तो यह याद रखना चाहिए कि उस महाद्वीप के सभी देश उसमें भागीदार नहीं थे। 1914 में जब लड़ाई शुरू हुई उस समय यूरोप में कोई पच्चीस छोटे-बड़े देश थे। ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस इनमें सबसे अधिक औद्योगीकृत थे, लेकिन बाकी के देशों में से अधिकांश जैसे आइबेरियाई प्रायद्वीप में स्पेन और पुर्तगाल, अल्बानिया, सरबिया और बुल्गारिया जैसे बाल्कन राज्य तथा ग्रीस (यूनान) और पूर्वी यूरोप के देश–मुख्य रूप से प्रौद्योगिक (प्री-इंडस्ट्रियल) अवस्था में थे, यद्यपि इनमें से कुछ ने जहाँ-तहाँ अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए थे। यूरोप का सबसे बड़ी आबादी वाला देश रूस भी, जिसका अपना एक विशाल साम्राज्य था, प्रधानत: कृषकों का देश था, वहाँ औद्योगीकरण अभी आरंभ ही हुआ था और वो मुख्य रूप से दूसरे देशों के निवेशों के बल पर। इसके अलावा ये सभी राज्य राष्ट्रीयता के सिद्धांत के अनुसार गठित नहीं थे। एस्तोनिया, लात्विया और लिथुआनिया के बाल्टिक राज्य तथा फिनलैंड रूसी साम्राज्य के अंग थे। राज्य के रूप में पोलैंड का कोई अस्तित्व ही नहीं था। उसका एक हिस्सा रूस के कब्ज़े में था, दूसरा आस्ट्रो-हंगेरियाई (आस्ट्रिया-हंगरी) साम्राज्य का अंग था और तीसरा जर्मनी में शामिल था। चेकोस्लोवाकिया और इसी तरह स्लाव जाति की बसावट वाले अनेक इलाके (जो बाद में कुछ समय पहले तक यूगोस्लाविया का अंग थे) भी आस्ट्रो-हंगेरियाई साम्राज्य के हिस्से थे। आयरलैंड सदियों से ब्रिटेन का उपनिवेश बना हुआ था। इन देशों की राज्य व्यवस्थाओं में भी अंतर था। इनमें से कुछ गणतंत्र थे, हालाँकि सभी गणतंत्र लोकतांत्रिक नहीं थे। कुछ में संवैधानिक राजतंत्र कायम था। संवैधानिक राजतंत्रों में भी सभी राजाओं के अधिकार समान नहीं थे। बाकी के राज्य कुलीनतंत्र के अधीन थे।

यूरोप के अंदर संघर्ष

यूरोपीय देशों के संघर्ष उपनिवेशों के प्रश्न तक ही सीमित नहीं थे। यूरोपीय मामलों को लेकर भी उनके बीच तनाव और वैर-विरोध था। उस समय के पच्चीस में से पाँच यूरोपीय राज्यों को शक्तिशाली राज्य कहा जा सकता है। ये थे ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रिया-हंगरी तथा रूस। इनमें से ब्रिटेन सबसे समृद्ध और शक्तिशाली था। ब्रिटेन में संसदीय शासन-प्रणाली लागू थी, यद्यपि राजपद को कायम रखा गया था। उन्नीसवीं सदी के दौरान पारित अनेक सुधार अधिनियमों के बाद भी ब्रिटिश संसद के निर्वाचित सदस्यों के सदन (हाउस ऑफ कामन्स) को (दूसरा सदन हाउस ऑफ लॉर्ड्स था जिसके सदस्य वंशानुगत होते थे) सच्चे अर्थों में लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता। अब भी सभी पुरुषों को मताधिकार प्राप्त नहीं था और स्त्रियों को तो बिलकुल ही नहीं। उन दिनों ब्रिटेन के सामने जो एक बड़ी समस्या थी वह थी आयरलैंडवासियों की स्वशासन (होम रूल) की माँग। आयरलैंड में स्वतंत्रता के लिए एक शक्तिशाली आंदोलन खड़ा हो रहा था, भले ही उत्तरी आयरलैंड में बहुत-से लोग, जिनमें से अधिकांश इंग्लैंड और स्कॉटलैंड से जाकर वहाँ बस गए थे, इस आंदोलन के ख़िलाफ़ थे।

जर्मनी आर्थिक तथा सैनिक दोनों दृष्टियों से यूरोपीय महाद्वीप के सबसे शक्तिशाली देश के रूप में उभर रहा था और वह ब्रिटेन का मुख्य प्रतिद्वंद्वी था। वहाँ भी संसदीय शासन-प्रणाली लागू थी, हालाँकि जर्मन सम्राट की स्थिति ब्रिटेन के राजा से बहुत अधिक मज़बूत थी। जर्मन भूभाग में पोलैंड का एक हिस्सा और 1870-71 की लड़ाई में फ्रांस

आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य में राष्ट्रीय समुदाय (1914)



मानचित्र में विभिन्न भाषाई समूहों के क्षेत्र दर्शाए गए हैं। यूरोप में भाषा राष्ट्रीयता का मुख्य आधार थी। दर्शाए गए क्षेत्र अनुमानित हैं। प्रत्येक क्षेत्र में दूसरी भाषा समुदायों के लोग भी रहते थे।

से छीना गया अलसेस-लोरेन भी शामिल था। यूरोप के तीसरे सबसे अधिक औद्योगीकृत राज्य फ्रांस में 1871 से ही गणतंत्र कायम था। उसके मन में जर्मनी के हाथों अपनी अपमानजनक पराजय का बदला लेने की आकांक्षा 1871 से ही पल रही थी। वह प्रतिशोध की लड़ाई में अलसेस-लोरेन वापस लेने के लिए कसमसा रहा था। मध्य यूरोप की एक प्रभुत्वशाली शक्ति हैब्सबर्ग साम्राज्य था। हैब्सबर्ग राजवंश आस्ट्रिया और हंगरी—इन दो देशों पर राज करता था। इसलिए इसे "डुअल मोनार्की" अर्थात् "द्विदेशीय राजतंत्र" कहा जाता था। फ्रांसिस जोज़फ़ आस्ट्रिया का सम्राट होने के साथ ही हंगरी का राजा भी था। राजनीतिक दृष्टि से आस्ट्रिया-हंगरी यूरोप का सबसे अधिक अशांत राज्य था। यूरोप के एक बड़े क्षेत्र में फैले इस साम्राज्य के प्रदेशों में आस्ट्रिया तथा हंगरी के अतिरिक्त ऐसे अनेक इलाके शामिल थे जिनमें अलग-अलग राष्ट्रीयता वाले लोगों का निवास था। इनमें बोहेमिया और मोराविया के चेक, तथा स्लाव, पोल, रोमानियाई, सर्ब, क्रोट तथा इलातवी—ये सब सम्मिलित थे। इन सभी प्रदेशों में राष्ट्रवाद की भावना जागृत हो चुकी थी जिससे तीव्र असंतोष और विभेद फैला। आस्ट्रिया-हंगरी के स्लाव लोगों के राष्ट्रवाद को रूस और सर्बिया से बढ़ावा मिलता था। इससे इन दोनों देशों और आस्ट्रिया-हंगरी के बीच प्रबल वैर-भाव पैदा हो गया।

रूस यूरोप का सबसे बड़ा देश था और उसने जो विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया था उसमें यूरोप के बाल्टिक राज्य, फिनलैंड और पोलैंड का कुछ हिस्सा शामिल थे। इसके अलावा उत्तरी और मध्य एशिया भी उसके अंग थे। उसके जो थोड़े-बहुत उद्योग थे वे कुछ बड़े नगरों तक ही सीमित थे। उसकी राजनीतिक व्यवस्था युग-जर्जर हो चली थी। उस पर

ज़ार कहे जाने वाले रूसी सम्राट का निरंकुश शासन था। 1905 तक वहाँ नाममात्र को भी कोई संसद नहीं थी। 1905 की क्रांति के बाद ड्यूमा नामक एक संसद स्थापित की गई, लेकिन उसके हाथ में कोई सत्ता नहीं थी। रूसी साम्राज्य की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के कारण वहाँ की ग़ैर-रूसी जातियों में असंतोष की आग भड़क रही थी। यूरोप का एक और राष्ट्र जो शक्तिशाली होने का दम भरता था वह था–इटली। उसकी औपनिवेशिक महत्वाकांक्षाएँ प्रबल थीं, लेकिन उत्तरी हिस्से को छोड़ कर बाकी का इटली पिछड़ा हुआ था।

यूरोप के कुछ तनावों का कारण उस्मानिया (ऑटोमन) साम्राज्य का बिखराव भी था। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दौर तक पूरा बाल्कन प्रायद्वीप उस्मानिया साम्राज्य का हिस्सा था। पूरे उन्नीसवीं सदी के काल में उस्मानिया और रूसी साम्राज्यों के बीच युद्ध चलते रहे थे। उस्मानिया साम्राज्य के यूरोपीय प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के रूस के प्रयत्नों को यूरोपीय देशों, ख़ास तौर से ब्रिटेन, जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी ने विफल कर दिया। बीसवीं सदी का आरंभ होते-होते बाल्कन देशों पर उस्मानिया हुकूमत लगभग समाप्त हो चुकी थी। सर्बिया, बुल्गारिया और अल्बानिया स्वतंत्र राज्य बन चुके थे। लेकिन उस्मानिया साम्राज्य के टूटने से विभिन्न यूरोपीय देशों की राष्ट्रीयता की समस्या का समाधान नहीं हुआ। सर्बिया स्लाव जाति के रक्षक के रूप में सामने आया। इस जाति के बहुत से लोग अस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य के बाशिंदे थे। सर्बिया की आकांक्षा बृहत्तर सर्बिया के निर्माण की थी जिसमें वह उस्मानिया साम्राज्य से आस्ट्रिया-हंगरी द्वारा छीने गए बोसनिया और हर्ज़ेगोविना प्रांतों के अलावा उसके उन दक्षिण प्रदेशों को भी शामिल करना चाहता था जहाँ क्रोट, स्लोविन और सर्ब मूल के स्लाव लोग रहते थे। अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए वह रूसी सहायता पर निर्भर कर रहा था। उसने इन प्रदेशों में असंतोष भड़काना शुरू किया और आस्ट्रिया-हंगरी के ख़िलाफ़ षड्यंत्र रचने लगा। यह क्षेत्र यूरोप में बढ़ते तनावों का स्रोत बन गया और अंत में यहीं वह घटना घटी जिसको लेकर प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा।

1908 में आस्ट्रिया-हंगरी ने बोसनिया-हर्ज़ेगोविना को अपने साम्राज्य में मिला लिया। यद्यपि ये दोनों प्रांत औपचारिक रूप से उस्मानिया साम्राज्य के हिस्से थे, तथापि वास्तव में इन पर आस्ट्रिया-हंगरी ने पहले से ही अपना नियंत्रण स्थापित कर रखा था। अब जब कि उसने इन्हें विधिवत अपने साम्राज्य में मिला लिया तो सर्बिया चाहता था कि इस बात को लेकर रूस आस्ट्रिया-हंगरी के ख़िलाफ़ लड़ाई छेड़ दे। लेकिन जर्मनी ने धमकी दी कि अगर लड़ाई छिड़ी तो वह आस्ट्रिया-हंगरी की मदद करेगा। फलत: रूस लड़ाई छेड़ने की हिम्मत नहीं कर पाया। 1912-13 ई. के बाल्कन युद्ध के फलस्वरूप सर्बिया में आस्ट्रिया-हंगरी के ख़िलाफ़ और भी कटुता बढ़ी। सर्बिया तथा कुछ अन्य बाल्कन राज्यों ने मिल कर, रूस की सहायता से उस्मानिया साम्राज्य से मैसिडोनिया को जीत लिया। लेकिन उस्मानियों की पराजय के बाद आस्ट्रिया-हंगरी ब्रिटेन और जर्मनी की सहायता से अल्बानिया को एक स्वतंत्र राज्य बनाने में सफल हो गया, जबकि सर्ब लोगों को आशा थी कि उनकी जीत के फलस्वरूप वह सर्बिया का हिस्सा बन जाएगा।

संधियों का सिलसिला

इस काल में अनेक संधियों और गुप्त समझौतों पर हस्ताक्षर हुए और युद्ध की कई धमकियाँ जारी की गईं और वापस ली गईं। वह सब विभिन्न शक्तियों के स्वार्थ पर आधारित बनते-बिगड़ते संबंधों का द्योतक था। इस दौर में कोई भी देश किसी दूसरे देश का स्थायी मित्र नहीं था और न किसी की मैत्री पर भरोसा करके चल सकता था। कौन किसका दोस्त या दुश्मन है, इस संबंध में लड़ाई छिड़ने तक अनिश्चितता बनी रही, जिससे तनाव में और भी वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए रूस ने बोसनिया-हर्ज़ेगोविना के सवाल पर लड़ाई छेड़ने की धमकी दी। लेकिन इससे पहले उसने आस्ट्रिया-हंगरी के साथ एक गुप्त समझौता करके उससे वादा किया था कि यदि आस्ट्रिया-हंगरी भूमध्य सागर के द्वार का काम करने वाले जलडमरूमध्यों को रूस के लिए खोल दिए जाने में उसकी सहायता करे तो रूस आस्ट्रिया-हंगरी की बोसनिया-हर्ज़ेगोविना संबंधी योजना के आड़े नहीं आएगा। लेकिन इन अनिश्चितताओं के बावजूद बीसवीं सदी के प्रथम

दशक तक दो प्रतिद्वंद्वी गठजोड़ कायम हो गए थे। इसके पहले 1882 में जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और इटली के बीच त्रिपक्षीय संधि (ट्रिपल एलायंस) कायम हो चुकी थी। यद्यपि जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी दोस्त बने रहे, लेकिन 1890 तक स्पष्ट हो चला था कि इस गठजोड़ के प्रति इटली की वफ़ादारी संदिग्ध है। 1894 में रूस और फ़्रांस ने गुप्त समझौते किए थे जिनके फलस्वरूप वे त्रिपक्षीय संधि वाले राज्यों, ख़ासकर जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी के ख़िलाफ़ एक हो गए थे। इंग्लैंड और फ़्रांस लंबे अर्से से एक-दूसरे के शत्रु थे और औपनिवेशिक स्पर्धा के कारण उनके बीच कई बार लड़ाई तक की नौबत आ गई थी। लेकिन 1904 में उनके बीच संधि हो गई जो "आंटांट कोर्डेल" या "सौहार्द समझौता" के नाम से प्रसिद्ध है। यह कोई औपचारिक संधि नहीं, बल्कि मैत्रीपूर्ण समझौता था। इस "सौहार्द समझौते" की एक गुप्त शर्त यह भी थी कि फ़्रांस मिस्र पर अपना दावा छोड़ देगा और बदले में उसे मोरक्को में ब्रिटेन की ओर से चाहे जो करने की छूट होगी। इस प्रक्रिया का अगला चरण ब्रिटेन और रूस के बीच संपन्न हुआ 1907 का समझौता था, यद्यपि ये दोनों देश दीर्घकाल से एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी और शत्रु रहे थे। इस समझौते का उद्देश्य, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ईरान का बँटवारा था। इस समझौते के साथ ही त्रिपक्षी समझौता (ट्रिपल आंटांट) संपन्न हो गया। ब्रिटेन, फ़्रांस और रूस इसके तीन फ़रीक थे। यह कोई औपचारिक संधि नहीं, बल्कि अनौपचारिक समझौता था। लड़ाई छिड़ने पर संधि-संबंध या मैत्री संबंध से जुड़े देशों की वफ़ादारी के बारे में संदेह के बावजूद संधियों (या समझौतों) के संपन्न होने से युद्ध और भी नज़दीक आ गया और एक देश के ख़िलाफ़ दूसरे के अविश्वास तथा भय में और भी वृद्धि हुई। संधियों के कारण एक प्रकार से यह भी अवश्यंभावी हो गया कि यदि लड़ाई छिड़ी तो वह एक-दो देशों तक सीमित स्थानीय लड़ाई नहीं रह जाएगी, बल्कि वह एक विस्तृत लड़ाई होगी जिसमें अनेक देश शामिल होंगे।

सामाजिक तनाव

राज्यों के बीच के संघर्षों के अलावा प्रत्येक राज्य के अंदर भी गंभीर तनाव और समस्याएँ थीं। राष्ट्रीयताओं की समस्या, जिसका ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं, आंतरिक तनावों का अकेला कारण नहीं था। पूँजीवाद के उदय के समय से और औद्योगिक क्रांति के आरंभ होने के लगभग सौ वर्षों के दौरान जो परिवर्तन हुए थे उन्हीं के कारण यूरोप पूरी दुनिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर पाया था। लेकिन सभी यूरोपीय देशों की समाज व्यवस्था घोर असमानता से ग्रस्त थी। जिन देशों का औद्योगीकरण ठीक से नहीं हो पाया था वहाँ आबादी में अब भी ज़्यादातर किसान ही थे और वे लोग दुख-दैन्य और शोषण को झेलते हुए पुराने तौर-तरीके से ही जी रहे थे। जो देश औद्योगीकरण के बल पर प्रबल आर्थिक ताकतें बन गए थे उनकी सामाजिक-व्यवस्था मज़दूरों के खुल्लमखुल्ला शोषण पर आधारित थी। उद्योगों के कारण माल का उत्पादन तो दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा था, लेकिन आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा झोंपड़पटि्टयों में विपन्न अवस्था में रहते हुए आधे पेट ज़िंदगी गुज़ार रहा था। कभी भी बेरोज़गार हो जाने का भय उसे अलग सताता रहता था। 1899-1902 ई. में दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटेन बोअर (डच प्रवासियों) के ख़िलाफ़ जो लड़ाई लड़ रहा था उसके कारण उसे अपनी फ़ौज में और लोगों को भरती करने की सख़्त ज़रूरत पड़ी। लेकिन भरती केंद्र में आनेवाले लोगों में से बहुत-से लोगों को इसलिए अस्वीकार कर दिया गया कि वे रोगी और कमज़ोर पाए गए। वे जिस ग़रीबी और गंदे परिवेश में जी रहे थे उसमें अन्यथा हो भी कैसे सकते थे ? पूँजीवाद और औद्योगिक क्रांति की कुछ घोर बुराइयों का इलाज करने की कोशिशें अवश्य की गई थीं, लेकिन उन्नीसवीं सदी के अंत तक दलितों और वंचितों की अवस्था में कोई ख़ास सुधार नहीं आ पाया था। बीसवीं सदी के यूरोप के एक अंग्रेज़ इतिहासकार ने लिखा है-"बड़े-बड़े शहरों और औद्योगिक इलाकों की ठसाठस भरी गंदी बस्तियों में जो ग़रीब लोग जमा होते जा रहे थे वे मानो मनुष्य जाति के एक घटिया श्रेणी के लोग थे और उनके साथ व्यवहार भी वैसा ही किया जाता था। उनकी औकात श्रम के एक स्रोत से ज़्यादा कुछ नहीं थी और यह श्रम बराबर ज़रूरत से ज़्यादा मात्रा में ही सुलभ रहता था, हालाँकि उस समय की समाज व्यवस्था और साथ ही अर्थव्यवस्था भी उन्हीं पर निर्भर थी।"

समाजवादी आंदोलन

ऊपर श्रमिक आंदोलन और समाजवादी आंदोलन की विचारधारा के उदय का उल्लेख किया जा चुका है। पूँजीवाद शोषण पर आधारित व्यवस्था है जिसे मिटाना आवश्यक है—यह समाजवादी विचार उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण से ही यूरोप के श्रमिकों के बीच काफ़ी ज़ोर पकड़ता जा रहा था और फलत: प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व यूरोप में हड़तालों का ताँता-सा लग गया था। यूरोप के लगभग हर देश में समाजवादी दल का गठन हो चुका था और वह धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ता जा रहा था। 1914 तक यूरोप में विभिन्न समाजवादी दलों के पक्ष में मत देनेवाले लोगों की संख्या भी धीरे-धीरे काफ़ी बढ़ चली थी। 1914 में जर्मनी, फ़्रांस और इटली के समाजवादी दल इन देशों की संसदों के सबसे बड़े एकल दल के रूप में सामने आए।

ऊपर 1889 में द्वितीय अंतर्राष्ट्र (सैकेंड इंटरनेशनल) नामक समाजवादी संगठन के गठन का उल्लेख किया जा चुका है। जिस सम्मेलन (कांग्रेस) में द्वितीय अंतर्राष्ट्र का गठन किया गया उनके द्वारा लिए गए निर्णयों में से एक यह था कि "पहली मई के दिन को एक विराट अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शन का आयोजन इस प्रकार किया जाए" कि एक ही दिन "सभी देशों और नगरों के मज़दूर संबंधित सत्ताधारियों से एक स्वर में माँग करें कि कार्य-दिवस को आठ घंटों तक सीमित कर दिया जाए।" तभी से मई दिवस सारी दुनिया में श्रमिक दिवस तथा विश्व-भर के श्रमिकों की एकता के दिवस के रूप में मनाया जाता है।



द्वितीय अंतर्राष्ट्र के स्टुटगार्ट में हुए सम्मेलन के प्रतिनिधि, 1907

समाजवादी आंदोलनों के अंदर और हर देश के समाजवादी दल के भीतर समाजवाद के अर्थ तथा समाजवाद की प्राप्ति के तरीकों को लेकर अनेक मतभेद थे। कुछ समाजवादियों का विचार था कि पूँजीवाद का अंत क्रांतिकारी संघर्ष से शासक वर्ग को हटाकर ही किया जा सकता है, लेकिन कुछ अन्य समाजवादी मानते थे कि श्रमिक वर्ग के बढ़ते हुए प्रभाव के बल पर धीरे-धीरे पूँजीवाद का कायाकल्प किया जा सकता है और इसके लिए क्रांति ज़रूरी नहीं है। ये मतभेद द्वितीय अंतर्राष्ट्र (सैकेंड इंटरनेशनल) की नीतियों में भी प्रतिबिंबित हुए और बाद के वर्षों में समाजवादी आंदोलन इनको लेकर विभाजित रहा।

उपनिवेशवाद,सैन्यीकरण और युद्ध

जो दो बड़े मसले सभी समाजवादी दलों और द्वितीय अंतर्राष्ट्र की चिंता के कारण बने रहे वे थे उपनिवेशों तथा सैन्यीकरण और युद्ध के मसले। इन दोनों मसलों पर मतभेद थे, हालाँकि इनके कुछ पहलुओं के संबंध में सभी समाजवादियों में मतैक्य था। कुछ समाजवादी इस विचार के हिमायती थे कि हर राष्ट्र की स्वतंत्रता और स्वाधीनता का अधिकार समाजवाद का मूलमंत्र है और इसलिए उपनिवेशवाद पूर्णरूप से अस्वीकार्य होना चाहिए। कुछ अन्य समाजवादी पूँजीवादी सरकारों की औपनिवेशिक नीतियों की तो निंदा करते थे, लेकिन साथ ही यह भी मानते थे कि समाजवादी सरकार के अधीन उपनिवेशवाद दुनिया को सभ्य बनाने की सकारात्मक भूमिका निभा सकता है। समाजवादी आंदोलन में शरीक कुछ लोग इस दूसरे दृष्टिकोण का उपयोग, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से, बहुधा अपनी-अपनी सरकारों की औपनिवेशिक नीतियों के समर्थन के लिए करते थे। ये मतभेद कई दशकों तक चलते रहे और औपनिवेशिक प्रणाली के बिखरने के बाद ही वह स्थिति आई जब सभी समाजवादी उपनिवेशवाद की "सभ्य बनाने वाली भूमिका" के समर्थन से विमुख हुए।

लेकिन इन मतभेदों के बावजूद यूरोप के समाजवादी दलों ने, जिनमें साम्राज्यवादी देशों के समाजवादी दल भी शामिल थे, अपनी-अपनी सरकारों की औपनिवेशिक नीतियों से अलग रुख़ अख़्तियार किया। 1907 में स्टुटगार्ट में आयोजित अपने सम्मेलन (कांग्रेस) में द्वितीय अंतर्राष्ट्र ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें समाजवादी सांसदों को इस बात के लिए प्रतिबद्ध किया गया कि वे उपनिवेशों के मूल निवासियों को लूटने और दबाने की कार्रवाइयों का विरोध करें और ऐसे सुधारों के लिए संघर्ष करें जिनसे उनकी अवस्था में सुधार हो सके, उनके अधिकारों की रक्षा हो सके तथा "उन्हें स्वाधीनता के लिए तैयार करने के लिए हर संभव प्रयत्न किया जा सके।" उपनिवेशों के स्वतंत्रता संग्राम के नेता समाजवादी दलों और उपनिवेशवादी देशों के नेताओं से बहुधा घनिष्ठ संबंध स्थापित करते थे। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के पितामह माने जानेवाले दादाभाई नौरोजी ने द्वितीय अंतर्राष्ट्र के सम्मेलन में भाग लिया, जिसमें उनका स्वागत "कई मिंटों तक चलने वाले जयजयकार और करतल ध्वनि के साथ" किया गया। अधिवेशन के अध्यक्ष ने प्रतिनिधियों से अनुरोध किया कि आप लोग "भारतीय प्रतिनिधि की, अपने लोगों की आज़ादी और खुशी के लिए अपने जीवन के पचपन साल उत्सर्ग कर देने वाले अस्सी साल के इस वयोवृद्ध की, बातों को अधिक से अधिक श्रद्धा और ध्यान से सुनें।" भारतीय क्रांतिकारी मैडम भिकाजी कामा ने द्वितीय अंतर्राष्ट्र के ही एक सम्मेलन में भारत की आज़ादी का झंडा फहराया, जिसका नमूना उन्होंने खुद तैयार किया था।

अपने आरंभिक काल से ही समाजवादी आंदोलन युद्ध को मौजूदा समाज-व्यवस्था की बुराई की तीव्रतम अभिव्यक्ति मानता आया था। उसकी दृष्टि में वह एक बर्बरतापूर्ण उपकरण था, जिसके ज़रिए विभिन्न देशों के शासक वर्ग अपनी आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति की अभिवृद्धि करते थे। शांति तथा मानव भ्रातृत्व की स्थापना समाजवादी आंदोलन का एक प्रमुख लक्ष्य रही थी। बढ़ते सैन्यीकरण तथा युद्ध के ख़तरे को देखते हुए समाजवादी दलों तथा द्वितीय अंतर्राष्ट्र ने इन मसलों की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया। इस पूरे दौर में वे जिन प्रश्नों पर विशेष ध्यान देते रहे उनमें से एक यह था कि "दुनिया के श्रमिक एक होकर किस प्रकार लड़ाइयों को रोक सकते हैं।" सभी समाजवादी दल इस बात पर सहमत थे कि लड़ाइयों को रोकने के लिए हर संभव प्रयत्न किया



व्लादीमीर इलिइच लेनिन

जाना चाहिए। वे अपने-अपने देशों की संसदों में शस्त्रास्त्र स्पर्धा का विरोध करने और युद्ध ऋणों के ख़िलाफ़ मत देने के लिए वचनबद्ध थे। कई समाजवादी नेताओं ने सुझाव दिया कि लड़ाई को रोकने के लिए श्रमिकों को आम हड़ताल करनी चाहिए और यदि लड़ाई छिड़ ही जाए तो उसे जल्दी समाप्त कराने के लिए इस तरीके का इस्तेमाल करना चाहिए। ब्रिटिश समाजवादी नेता कीर हार्डी ने लड़ाइयाँ रोकने के लिए शस्त्रास्त्र उद्योग, परिवहन तथा खनन में हड़ताल के विचार की हिमायत की। द्वितीय अंतर्राष्ट्र के स्टुटगार्ट सम्मेलन ने "सैन्यवाद तथा अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष" पर सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में कहा गया कि युद्ध "पूँजीवाद की प्रकृति के अंग हैं।" इसमें घोषणा की गई कि सैन्यवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष समाजवाद के लिए चलने वाले संघर्ष का अभिन्न अंग है। इस प्रस्ताव के अनुसार, समाजवादी दल और संसदों में उनके प्रतिनिधि इस बात के लिए प्रतिबद्ध थे कि वे "नौसैनिक तथा थलसैनिक शस्त्रास्त्रों की वृद्धि का अपनी पूरी ताकत से विरोध करेंगे और अपनी-अपनी सरकारों को इन्हें प्राप्त करने के वित्तीय संसाधन हासिल नहीं करने देंगे। श्रमिक वर्ग के नौजवानों में राष्ट्रों के भ्रातृत्वता समाजवाद की भावना भरने के लिए काम करना" भी समाजवादी प्रतिनिधियों का कर्तव्य बताया गया। प्रस्ताव के अंत में कहा गया था—"यदि लड़ाई छिड़ने का ख़तरा हो तो संबंधित देशों के श्रमिक वर्गों तथा उनके संसदीय प्रतिनिधियों का यह कर्तव्य है कि वे... लड़ाई को रोकने के लिए अपनी समझ के मुताबिक अधिक से अधिक कारगर तरीके से हर संभव प्रयास करें।. . . फिर भी अगर युद्ध छिड़ ही जाए तो उनका फ़र्ज़ है कि वे उसकी शीघ्र समाप्ति के लिए कोशिश करें और युद्ध से जो आर्थिक तथा राजनीतिक संकट उत्पन्न हो उसका उपयोग वे जनसाधारण को जागृत करके पूँजीवादी शासन को जल्दी ख़त्म कराने के लिए करें।"

इस प्रस्ताव का जो अंतिम अंश ऊपर उद्धृत किया गया है उसका मसौदा तीन समाजवादी नेताओं ने तैयार किया था। ये नेता थे रूस के लेनिन और मारतोव तथा जर्मनी की रोज़ा लुक्संबर्ग। वे इस प्रस्ताव का पालन हमेशा दृढ़ता से करते रहे। सैन्यवाद तथा युद्ध के विरुद्ध जीवन-पर्यंत जूझते रहने वाला एक बड़ा नेता फ़्रांस का याँ यार्स था। सैन्यवाद तथा युद्ध के ख़िलाफ़ प्रचार करने के कारण उसे फ़्रांस के प्रतिशोध-पिपासुओं का कोपभाजन बनना पड़ा था। 1912 के बाल्कन युद्ध के समय जब पूरे यूरोप में लड़ाई भड़क उठने का ख़तरा दिखाई देने लगा था उस समय उसने घोषणा की थी, "सरकारों को याद रखना चाहिए कि युद्ध का ख़तरा उपस्थित करके वे लोगों को एक सीधा-सादा हिसाब लगाने का निमंत्रण दे रही हैं। वह हिसाब यह है कि वे जिस युद्ध के लिए तैयारी कर रही हैं, उस युद्ध में जो लोगों को बलिदान देना पड़ेगा, उसके मुकाबले क्रांति करने में जो बलिदान करना पड़ेगा वह कहीं कम होगा।" 28 जुलाई, 1914 को आस्ट्रिया-हंगरी ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उसके शीघ्र बाद द्वितीय अंतर्राष्ट्र की एक बैठक ब्रूसेल्स में हुई। इस बैठक में युद्ध के ख़तरे से घिरे सभी देशों के मज़दूरों का आह्वान किया गया कि वे शांति-सभाओं का आयोजन करें और आस्ट्रिया-हंगरी और सर्बिया के बीच के

विवाद के निबटारे के लिए काम करें। इस बैठक में यह भी तय किया गया कि "जर्मन और फ़्रांसीसी श्रमिक अपनी-अपनी सरकारों पर इस बात के लिए अधिक से अधिक दबाव डालने की कोशिश करेंगे कि जर्मनी आस्ट्रिया पर अंकुश लगाएगा और फ़्रांस रूस को लड़ाई से अलग रहने के लिए राज़ी करेगा।" "लड़ाई के ख़िलाफ़ लड़ाई" के नारे के साथ ब्रूसेल्स में श्रमिकों का एक विशाल जुलूस निकाला गया। प्रदर्शनकारियों को संबोधित करनेवालों में याँ यार्स भी थे।

31 जुलाई को पेरिस लौटने के बाद एक शिष्टमंडल में शामिल होकर उन्होंने फ़्रांसीसी सरकार को यह समझाने की कोशिश की कि वह अपने सुहृद देश रूस पर लड़ाई के लिए लामबंदी न करने के लिए दबाव डाले। इसके कुछ ही घंटे बाद प्रथम विश्व युद्ध छिड़ने की पूर्व-संध्या को एक कैफ़े में किसी ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी।



रोज़ा लुक्संबर्ग

लेकिन जब अंत में लड़ाई छिड़ी तो अधिकांश समाजवादी दलों ने अपनी-अपनी सरकारों का समर्थन करने का फ़ैसला किया और वे अपने यहाँ के शासक वर्गों के साथ हो गए, उन्हीं शासक वर्गों के साथ जो लड़ाई छेड़ने के लिए अकेले ज़िम्मेदार थे। उन्होंने युद्ध का विरोध करके उसे शीघ्र समाप्त कराने में स्वयं को असमर्थ पाया। यद्यपि लड़ाई साम्राज्यवादी शक्तियों की आपसी प्रतिद्वंद्विता के कारण छिड़ी थी और इस से शासक वर्गों के संकीर्ण साम्राज्यवादी हितों की ही सिद्धि होनेवाली थी, तथापि बहुत-से समाजवादियों ने उसे अपने-अपने राष्ट्रों के अस्तित्व का संघर्ष माना। इसके साथ ही समाजवादी आंदोलन का एक महत्वपूर्ण चरण समाप्त हो गया। समाजवादी आंदोलन अंतर्राष्ट्रीयता की जिस भावना से आरंभ से ही अनुप्राणित रहा था उस पर यह एक घातक प्रहार था। सभी देशों में समाजवादी आंदोलनों में विभाजन पैदा हो गए और रूसी क्रांति के बाद ये विभाजन और भी तीव्र हो गए।

प्रथम विश्व युद्ध के आरंभ होने के पूर्व की चौथाई सदी यूरोप में समाजवादी आंदोलन के ज़बरदस्त विकास का काल थी। समाजवादी आंदोलन ने यूरोप की तत्कालीन व्यवस्था को, यह व्यवस्था जिस पूँजीवादी प्रणाली पर आधारित थी उस प्रणाली को, साम्राज्यवादी विजय तथा उपनिवेशों के शोषण की नीति को और सैन्यवाद एवं युद्ध को चुनौती दी। यूरोप में क्रांति की आशंका उत्पन्न हो गई थी, यद्यपि 1905 में रूस के अलावा और कहीं क्रांति नहीं हुई, और रूस में भी उस क्रांति को दबा दिया गया। "किसी भी यूरोपीय सरकार ने युद्ध में शामिल होने में तनिक भी झिझक नहीं दिखाई, किसी को भी यह भय नहीं हुआ कि उसकी प्रजा उसके युद्ध के आह्वान को अनसुना कर देगी या अपने ही शासकों के ख़िलाफ़ हथियार उठा लेगी। उनका अंदाज़ा बिलकुल सही निकला।" एक इतिहासकार का यह कथन अंततः जो परिस्थिति पैदा हुई उसका बिलकुल सही निरूपण करता है। इसका अपवाद सिर्फ़ रूस रहा, जहाँ शासकों का अंदाज़ा ग़लत साबित हुआ।

संयुक्त राज्य अमरीका और जापान

इस काल में जो देश बड़ी शक्तियों के रूप में उभरे वे थे—संयुक्त राज्य अमरीका तथा जापान।

संयुक्त राज्य अमरीका

उत्तरी अमरीका के पूर्वी तट पर स्थित अंग्रेज़ों के तेरह उपनिवेश जब इंग्लैंड से स्वतंत्र होकर संयुक्त राज्य अमरीका के रूप में उदित हुए, उसके लगभग सौ वर्षों के दौरान उस देश ने अपने वर्तमान प्रादेशिक विस्तार प्राप्त कर लिया। संयुक्त राज्य का पश्चिम की ओर जो विस्तार हुआ उसका ख़मियाज़ा उन क्षेत्रों में रहने वाले अमरीकी इंडियन कबीलों को भोगना पड़ा। अमरीकी इंडियनों ने गोरों के अतिक्रमण का प्रतिरोध अवश्य किया, लेकिन आख़िर 1890 में दक्षिण डकोटा में वूंडिड नी नामक स्थान में गोरों द्वारा मचाए गए कत्ले आम के साथ ही इस प्रतिरोध का अंत हो गया। संयुक्त राज्य ने फ़्रांस और रूस से क्रमश: लुइसियाना और अलास्का के विस्तृत प्रदेश भी ख़रीद लिए। एक लड़ाई में मैक्सिको को हराकर उसने उससे टेक्सास और केलीफ़ोर्निया के प्रदेश छीन लिए। 1861 से 1865 तक संयुक्त राज्य को गृह युद्ध की आग में से गुज़रना पड़ा। इसका कारण यह था कि देश के दक्षिणी राज्यों के बगानों में ग़ुलामों से काम लिया जाता था। जब इन राज्यों ने संघ से अलग होने की घोषणा की तो देश में गृह युद्ध छिड़ गया। युद्ध में इन राज्यों की पराजय हुई, अमरीकी संघ बना रह गया और ग़ुलामी समाप्त कर दी गई।

गृह युद्ध की समाप्ति के लगभग तीन दशकों के अंदर संयुक्त राज्य अमरीका विश्व की एक प्रमुख औद्योगिक शक्ति बन गया। उन्नीसवीं सदी का अंत होते-होते वह दुनिया के लोहे और इस्पात के कुल उत्पादन का लगभग एक तिहाई हिस्सा उत्पादित करने लगा। उद्योग के लगभग हर क्षेत्र में उसने दुनिया के अन्य देशों को पीछे छोड़ दिया। देश में रेलपथों की लंबाई लगभग तीन लाख किलोमीटर हो चली। पूरे यूरोप के रेलमार्गों की लंबाई भी इतनी नहीं थी। दुनिया के सभी देश मिलकर जितने तेल और प्राकृतिक गैस का उत्पादन और उपभोग करते थे उससे कहीं अधिक का उत्पादन और उपभोग अमरीका अकेले करता था। काफ़ी लंबे अर्से तक अमरीका के इस आश्चर्यजनक आर्थिक विकास की ओर दुनिया का ध्यान नहीं गया। इसका एक कारण यह था कि अमरीका के अधिकांश उत्पादों की खपत इसके अपने ही विशाल बाज़ार में हो जाती थी। 1790 में उसकी आबादी लगभग चालीस लाख थी, लेकिन 1910 में वह लगभग 9.2 करोड़ तक पहुँच गई। उन्नीसवीं सदी में और बीसवीं सदी के प्रथम दशक के दौरान लगभग 2.5 करोड़ यूरोपीयन अमरीका में जाकर बस गए थे। इसके अलावा अमरीका, यूरोप तथा दुनिया के मामलों में कोई ख़ास दिलचस्पी भी नहीं ले रहा था।

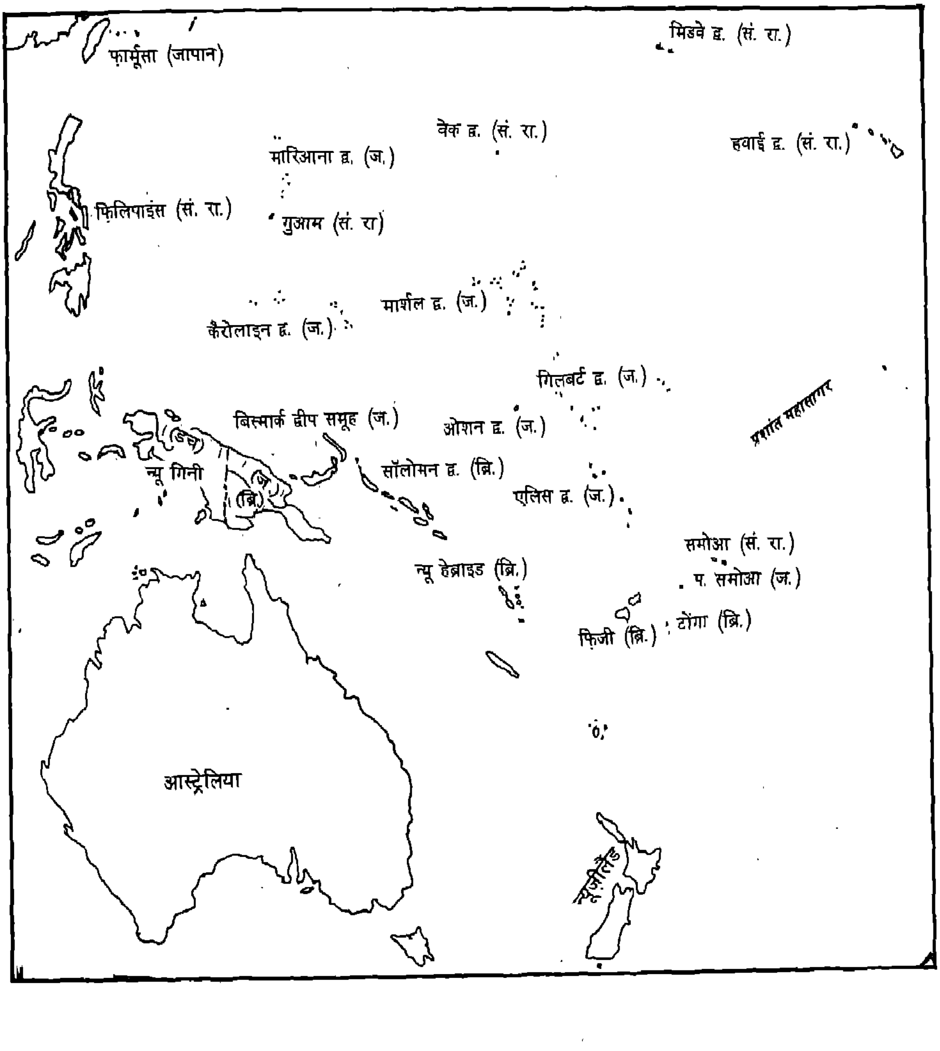
संयुक्त राज्य अमरीका साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में

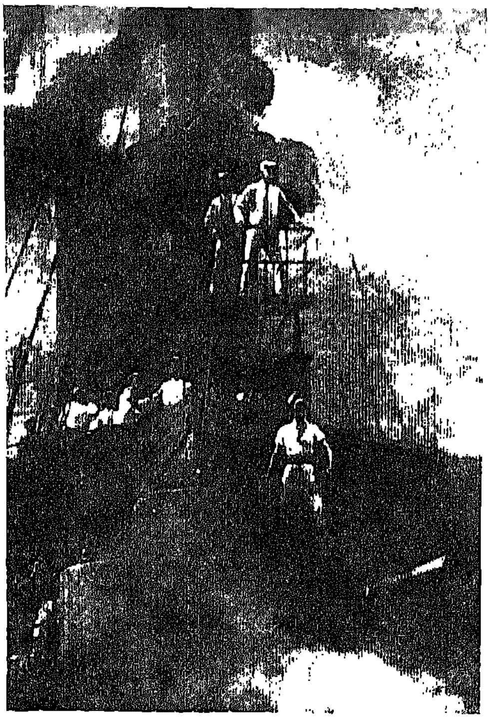
उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक तक अमरीका एक नई साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में उभर चुका था। 1889 में अमरीकी सीनेट के एक सदस्य ने कहा, "आज हम जितने का उपभोग कर सकते हैं उससे ज्यादा पैदा कर रहे हैं। आज हम जितनी चीज़ों का उपयोग कर सकते है उससे कहीं अधिक का निर्माण कर रहे हैं। इसलिए हमें अपने उत्पाद के लिए नए बाज़ार ढूँढने हैं, अपनी पूँजी के लिए निवेश के नए क्षेत्रों की तलाश करनी है। अपने श्रम के लिए नए काम खोजने हैं।" एक अन्य सीनेट-सदस्य ने चेतावनी के स्वर में कहा था कि संयुक्त राज्य को दुनिया की दौड़ से अलग नहीं पड़ जाना चाहिए। इस समय के बहुत से यूरोपीयनों की तरह अमरीकी लोग भी सभ्य राष्ट्रों के पिछड़े राष्ट्रों को ऊपर उठाने के दायित्व की बात करने लगे थे। वे भी कहने लगे थे कि कमज़ोर राष्ट्रों पर सबल राष्ट्रों का प्रभुत्व प्रकृति का नियम है। प्रशांत क्षेत्र में अमरीका का विस्तार इससे भी पहले शुरू हो चुका था। हवाई द्वीपों को उन्होंने 1881 में ही अमरीकी प्रणाली का हिस्सा बनाया, हालाँकि इन द्वीपों को 1898 ई. में अमरीकी संघ में मिलाया गया। 1880 ई. वाले दशक में समोआई द्वीपों को लेकर अमरीका, जर्मनी तथा ब्रिटेन में प्रतिद्वंद्विता के कारण युद्ध जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। कुछ काल के लिए तीनों देशों ने इन द्वीपों पर त्रिपक्षीय नियंत्रण कायम रखा, लेकिन 1894 ई. में जर्मनी और संयुक्त राज्य ने इन्हें आपस में बाँट लिया तथा ब्रिटेन को इसकी भरपाई अन्यत्र कर दी गई। 1893 ई. में संयुक्त राज्य ने पूरे अमरीकी महाद्वीप पर अपने प्रभुत्व की घोषणा कर दी। वेनेजुएला और ब्रिटिश गयाना (वर्तमान गईयाना) के बीच के प्रादेशिक विवाद के दौरान संयुक्त राज्य ने ब्रिटेन

को यह मामला पंच-फ़ैसले के सुपुर्द करने के लिए मजबूर कर दिया और साथ ही ऐलान किया कि "आज संयुक्त राज्य इस महाद्वीप की लगभग संप्रभु (सावरेन) शक्ति है और उसका आदेश ही यहां के लोगों के लिए कानून है।"

1898 में संयुक्त राज्य ने क्यूबा को लेकर स्पेन के ख़िलाफ़ लड़ाई छेड़ दी। उन दिनों प्योर्तो रिको के अलावा यही अमरीका में स्पेन का एक उपनिवेश था। इसे "एक शानदार छोटी लड़ाई" बताया गया, हालाँकि जो लोग इसमें लड़े उनके लिए यह न तो शानदार थी और न छोटी। संयुक्त राज्य ने प्रशांत स्थित स्पेनी उपनिवेश फ़िलिपाइंस पर भी आक्रमण कर दिया। स्पेन की पराजय हुई और उसे प्योर्तो रिको तथा प्रशांत क्षेत्र में गुआम द्वीप संयुक्त राज्य के हवाले कर देने पड़े। फ़िलिपिनो लोगों को स्वशासन के लिए अयोग्य माना गया और संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति ने यह कहते हुए

प्रशांत महासागर क्षेत्र में औपनिवेशिक आधिपत्य (1914 तक)





मनीला, फिलिपाइंस में अमरीकी गनबोट

फ़िलिपाइंस को अमरीका का उपनिवेश बना दिया कि उसे ऐसा करने के लिए ईश्वरीय प्रेरणा मिली है। क्यूबा को अन्य किसी भी देश में कोई संधि-संबंध स्थापित करने से मना कर दिया गया और संयुक्त राज्य ने दावा किया कि क्यूबा की स्वतंत्रता और उसके जीवन एवं सपत्ति की रक्षा के लिए उसे उस देश में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। यद्यपि कहने को क्यूबा स्वतंत्र था तथापि वह संयुक्त राज्य का पुछल्ला बन कर रह गया था।

1890 वाले दशक में जब यूरोपीय शक्तियाँ चीन को विभाजित करने की तैयारी कर रही थीं तो संयुक्त राज्य को लगा कि इस तरह तो वह इस बंदरबाँट से बाहर रह जाएगा। इसलिए उसने खुले दरवाज़े की नीति की घोषणा की जिसका मतलब यह था कि चीन में–यहाँ तक कि जिन-जिन प्रदेशों पर अलग अलग देश अपना विशेष प्रभाव–क्षेत्र होने का दावा करते थे उनमें भी-कोई देश किसी अन्य देश के साथ भेदभाव न करे। बॉक्सर विद्रोह भड़कने पर उसे दबाने और बीजिंग पर कब्ज़ा करने में संयुक्त राज्य की सेना भी यूरोपीय ताकतों के साथ शामिल थी।

बीसवीं सदी के आरंभिक वर्ष आते-आते संयुक्त राज्य को स्वयं के एक विश्व-शक्ति होने का पूरा एहसास हो चला था। अन्य जातियों के प्रति संयुक्त राज्य के रुख़ में प्रजातिवाद (रेसिसम) का भी तत्व था। संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट के अनुसार, 'सभ्य' राज्य मुख्य रूप से गोरे थे और 'असभ्य' राष्ट्र प्रधानतः ग़ैर-गोरे। अपनी विदेश नीति को उसने इस सूत्र में व्यक्त किया–"मीठा बोलो, लेकिन हाथ में डंडा रखो।" उसे चीन में रूसी मंसूबे को लेकर चिंता थी, इसलिए जब 1904 में जापान ने रूसी बेड़े पर हमला किया तो संयुक्त राज्य बहुत खुश हुआ। बाद में उसने रूस-जापान के बीच चल रहे युद्ध को समाप्त कराने में बीच-बचाव किया और इस लड़ाई में जापान ने जिन क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया था उन पर उसके वर्चस्व को स्वीकार करने के लिए रूस को राज़ी किया। इस प्रकार कोरिया तथा दक्षिण मंचूरिया पर जापान के नियंत्रण को स्वीकार कर लिया

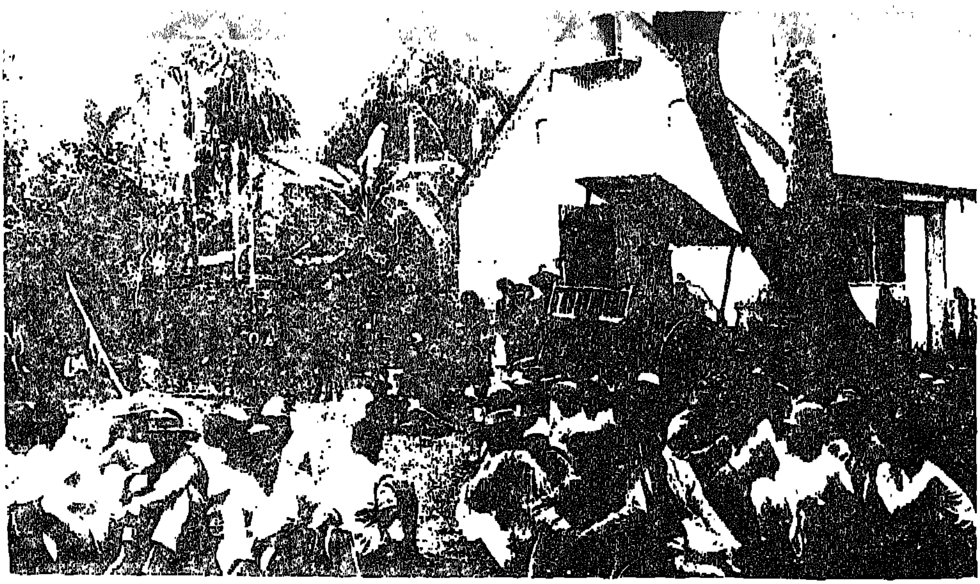


थियोडोर रूज़वेल्ट

साखालिन द्वीप भी, जिस पर पहले रूस का आधिपत्य था, जापान के नियंत्रण में आ गया। रूज़वेल्ट ने जापान के साथ एक गुप्त समझौता भी किया जिसके फलस्वरूप संयुक्त राज्य को उस क्षेत्र में निर्बाध रूप से व्यापार करने की सुविधा मिल गई। लेकिन संयुक्त राज्य की जापान की औपनिवेशिक महत्वाकांक्षा की तुष्टि की नीति बाद में उसे काफ़ी मँहगी पड़ी, क्योंकि बाद में जापान ही प्रशांत क्षेत्र में उसका प्रमुख प्रतिद्वंद्वी बन गया।

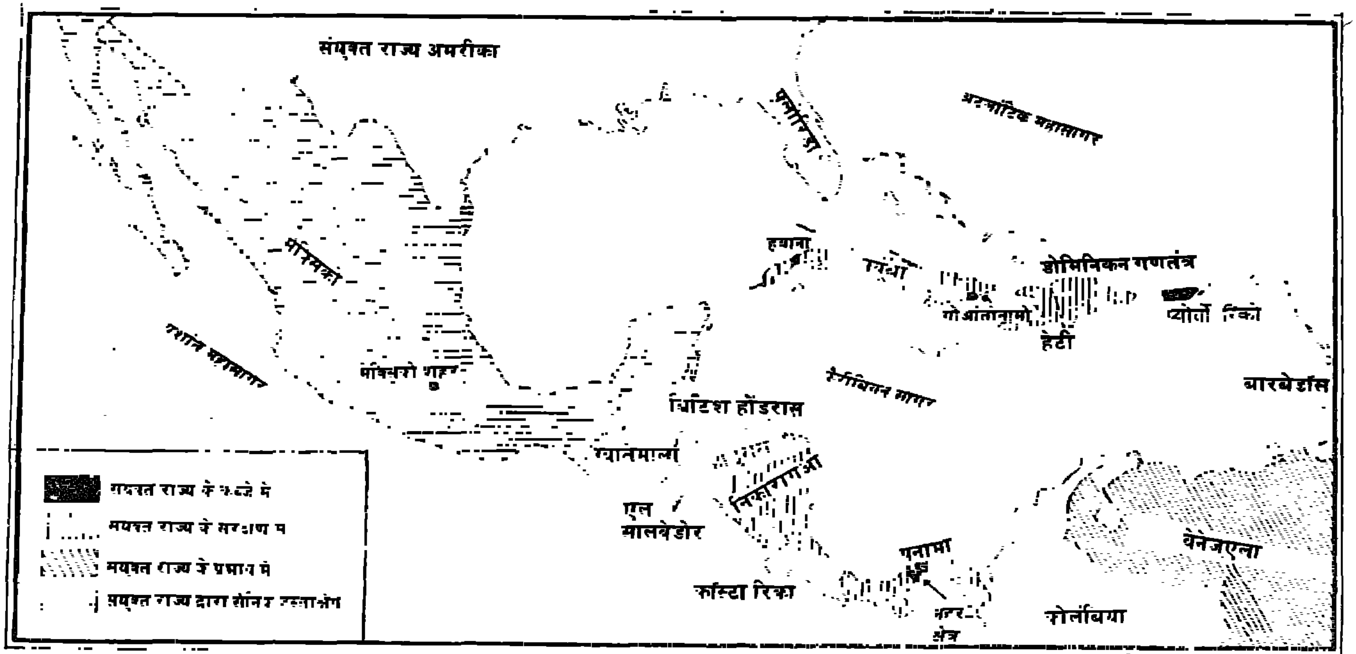
लैटिन अमरीका को संयुक्त राज्य के विशेष हित के क्षेत्र के रूप में देखा जाने लगा जिसमें केवल संयुक्त राज्य ही हस्तक्षेप कर सकता था। 1904 में रूज़वेल्ट ने घोषणा की कि संयुक्त राज्य को न केवल अमरीकी माहद्वीप में यूरोपीयों के हस्तक्षेप का विरोध करने का अधिकार हैं, बल्कि व्यवस्था कायम रखने के लिए उसे अपने पड़ोसियों के मामलों में दख़लंदाज़ी करने का भी हक है। यह नीति बाद में चलकर 'मनरो सिद्धांत' के नए "उपसिद्धांत" के रूप में विख्यात हुई। तीस वर्षों से अधिक काल तक संयुक्त राज्य ने डोमिनिकन रिपब्लिक के तटकर राजस्व को अपने नियंत्रण में रखा। 1906 ई. में संयुक्त राज्य के सैनिक क्यूबा में उतरे और वहाँ शांति-सुव्यवस्था कायम रखने के नाम पर तीन वर्षों तक जमे रहे।

पनामा नहर का निर्माण पूरा किया जाना रूज़वेल्ट की "सबसे से बड़ी कीर्ति" मानी जाती है। एक फ़्रांसीसी कंपनी ने कोलंबिया में पनामा नहर के निर्माण का लगभग चालीस प्रतिशत कार्य पूरा कर दिया था। संयुक्त राज्य ने फ़्रांसीसी कंपनी से उसकी यह संपत्ति ख़रीद ली, लेकिन कोलंबिया की भूमि पर यह नहर बनाने के अधिकार के एवज़ में संयुक्त राज्य जो-कुछ देने को तैयार था, वह कोलंबिया की सरकार को स्वीकार नहीं हुआ। रूज़वेल्ट ने कहा कि कोलंबिया वाले "लुटेरे" और "ब्लेकमेलर" मजबूरी का नाजायज़ फायदा उठाने वाले लोग हैं। इसके शीघ्र बाद एक अमरीकी उद्योगपति के पैसे के ज़ोर पर पनामा में एक "क्रांति" रची गई। व्यवस्था बनाए रखने के नाम पर (लेकिन वास्तव में कोलंबिया को इस तथा कथित "क्रांति" को दबाने से रोकने के लिए) संयुक्त राज्य की सेना पनामा में उतरी और तीन दिन बाद पनामा को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में मान्यता



संयुक्त राज्य अमरीकी फ़ौजों द्वारा पकड़े गए फिलिपाइंस के गुरिल्ला

मध्य अमरीका और कैरीबियन में संयुक्त राज्य का शक्ति विस्तार (1917 तक)



दे दी गई। पनामा की नई सरकार ने संयुक्त राज्य के साथ पनामा नहर के बारे में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते की शर्तें संयुक्त राज्य के लिए उन शर्तों से भी अधिक अनुकूल थीं जो पिछले समझौते में कोलंबिया के सामने रखी गई थीं और जिन्हें कोलंबिया ने अस्वीकार कर दिया था। आख़िर 1914 में पनामा नहर खुल गई। इस बीच रूस-जापान युद्ध को समाप्त करने में रूज़वेल्ट की भूमिका के लिए उसे 1906 में नोबेल शांति पुरस्कार प्रदान किया गया था।

लैटिन अमरीकी देशों के मामलों में संयुक्त राज्य की हस्तक्षेप की नीति विलियम हॉवर्ड टैफ्ट तथा वुड्रो विल्सन के राष्ट्रपतित्व काल में भी चलती रही। टैफ्ट ने लैटिन अमरीकी देशों में तथा अन्यत्र भी अमरीकी निवेशों को बढ़ावा देने तथा इनके ज़रिए उन पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित करने की नीति अपनाई। लेकिन इस नीति में ज़रूरत पड़ने पर गनबोटों के इस्तेमाल और सैनिक हस्तक्षेप के लिए भी गुंजाइश रखी गई थी। विल्सन के राष्ट्रपतित्वकाल में संयुक्त राज्य ने मैक्सिको के प्रति जो नीति अपनाई उसके कारण मैक्सिको संयुक्त राज्य का स्थायी शत्रु बन गया। 1910 में फ्रैंसिस्को मेदेरो नामक एक जनप्रिय नेता ने मैक्सिको के एक भ्रष्ट तानाशाह को अपदस्थ कर दिया था। 1913 में संयुक्त राज्य की शह पर एक अन्य तानाशाह ने मेदेरो को अपदस्थ करके मरवा डाला। कुछ काल बाद इस तानाशाह को भी अपदस्थ कर दिया गया। लेकिन संयुक्त राज्य मैक्सिको के मामलों में दख़लंदाज़ी की अपनी नाकामयाब कोशिशें करता रहा।

विरोध आंदोलन

जिस औद्योगिक विस्तार के कारण संयुक्त राज्य अमरीका एक अग्रणी औद्योगिक शक्ति बन गया था और जिसके बल पर वह शीघ्र ही एक विश्वशक्ति बनने जा रहा था, उसके अपने कुछ दोष भी थे। औद्योगिक विस्तार के साथ ही भ्रष्टाचार भी परवान चढ़ रहा था, शोषण का सिलसिला तीव्र से तीव्रतर होता जा रहा था और समृद्धि प्राप्त करने के लिए अमानवीय उपायों से काम लेने में कोई संकोच नहीं किया जा रहा था। आम लोगों के हितों की कहीं किसी को परवाह ही नहीं थी। कहते हैं, एक विशालतम रेलमार्ग कंपनी के मालिक ने एक बार बेलाग शब्दों में कहा, "भाड़ में जाएँ आम लोग।" नृशंसतापूर्ण और अमानवीय उपायों से कुछेक निगमों पर नियंत्रण रखने वाले चंद व्यक्तियों ने अपार आर्थिक सत्ता हथिया ली थी। इस समृद्धि को प्राप्त करने के लिए बहुधा नियम-कानूनों का उल्लंघन किया जाता था और घूस-पेंच का इस्तेमाल किया जाता था। एक विशाल औद्योगिक साम्राज्य के मालिक से जब कहा गया कि वह जो कुछ कर रहा है वह कानून के ख़िलाफ़ है तो उसने बड़े गर्व के साथ उत्तर दिया-"कौन परवाह करता है क़ानून की ? क्या मेरे हाथों में सत्ता नहीं है ?" आर्थिक सत्ता के चंद हाथों में सिमटते जाने के सिलसिले को रोकना 1890 वाले दशक से संयुक्त राज्य की आंतरिक राजनीति का एक प्रमुख मुद्दा बन गया। उसके फलस्वरूप एक आंदोलन का जन्म हुआ, जो "प्रोग्रेसिविज़्म" या 'प्रगतिवाद' के नाम से विख्यात हुआ।

ऊपर जो बात यूरोप के आम लोगों के बारे में, ख़ासकर औद्योगिक श्रमिकों के संबंध में, कही गई है वह संयुक्त राज्य के लोगों पर भी लागू होती थी। श्रमिकों की काम करने और रहने-सहने की स्थिति दयनीय थी। अर्थव्यवस्था की भारी अभिवृद्धि के बावजूद बेरोज़गारी उनके जीवन का अंग बन गई थी। ग़रीबी के बादल उनके सिर पर बराबर मँडराते रहते थे। उनसे उनका रोज़गार कभी भी छीना जा सकता था, उनकी मज़दूरी में चाहे जब कटौती कर दी जा सकती थी। बालश्रम आम था और कपड़ा मिलों में काम करने वाले बच्चों को रात में जगाए रखने के लिए उनके चेहरों पर ठंडा पानी डाल दिया जाता था। कुछ उद्योगों में बालिकाएँ प्रतिदिन सोलह-सोलह घंटे काम करती थीं। वस्तु-निर्माण उद्योग में काम करने वाले श्रमिकों में लगभग बीस प्रतिशत स्त्रियाँ थीं। उन्हें पुरुषों के मुकाबले बहुत कम मज़दूरी दी जाती थी। औद्योगिक दुर्घटनाएँ रोकने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। ऐसी दुर्घटनाएँ बराबर होती ही रहती थीं।

इन परिस्थितियों में संयुक्त राज्य अमरीका के श्रमिक संगठित होने लगे और 1880 वाले दशक से हड़तालों का सिलसिला ज़ोरों से चल निकला। इनमें से अधिकांश व

निष्ठुरतापूर्वक दबा दिया गया। श्रमिकों को आतंकित करने के लिए पुलिस का इस्तेमाल किया जाता था। उद्योगपति हड़तालों को तुड़वाने और मज़दूरों को आतंकित करने के लिए किराए के गार्डों का भी उपयोग करते थे। इस उद्देश्य से अपने गार्डों की सेवा सुलभ करानेवाली एक एजेंसी का नाम था–पिंकर्टन डिटेक्टिव एजेंसी, जो कई दशक तक यह काम करती रही। श्रमिक नेताओं की हत्या हो जाना भी आम बात थी। इस काल में मज़दूरों के एक राष्ट्रीय स्तर के संगठन का उदय हुआ, जिसका नाम अमेरिकन फ़ेडरेशन ऑफ़ लेबर (अमरीकी श्रमिक संघ) था। उसके आह्वान पर 1 मई 1886 को आठ घंटे के कार्य-दिवस की माँग करते हुए पूरे देश में हड़तालें और प्रदर्शन किए गए। शिकागो शहर के हड़तालियों पर पुलिस द्वारा किए गए जुल्मों के ख़िलाफ़ विरोध का प्रदर्शन करनेवाले श्रमिकों पर उस दिन हे मार्किट स्क्वेयर में पुलिस ने गोलियाँ चलाईं। चार श्रमिक मारे गए। इसके पूर्व किसी ने पुलिस पर बम फैंका था जिससे सात पुलिसकर्मी मारे गए थे। बम फैंकनेवाले की इस कार्रवाई के लिए भड़काने के आरोप में आठ लोगों को गिरफ़्तार किया गया। उनमें से सात को मृत्युदंड दे दिया गया। इस मुकदमे की गिनती अमरीकी इतिहास के सबसे अधिक "अन्यायपूर्ण मुकदमों" में की जाती है। आठ घंटे के कार्यदिवस की माँग करते हुए 1 मई को हड़ताल करने के लिए श्रमिकों का आह्वान करने के द्वितीय अंतर्राष्ट्र के निर्णय का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। शिकागो के हेमार्किट स्क्वेयर की 1 मई 1886 की घटनाओं को ध्यान में रखते हुए ही द्वितीय अंतर्राष्ट्र ने आम हड़ताल के लिए इस दिन को चुना था।

समाज में व्याप्त घोर असमानता, बाल श्रमिकों तथा महिला मज़दूरों के शोषण, संपत्ति के अधिकाधिक परिमाण में चंद हाथों में सिमटते जाने के सिलसिले तथा भ्रष्ट बैंकरों, उद्योगपतियों, राजनीतिज्ञों एवं अधिकारियों के ख़िलाफ़ कई अमरीकियों ने आवाज़ उठाई। लेखकों और पत्रकारों ने इस सबके विरोध में ओजस्वी साहित्य की रचना की। संयुक्त राज्य की सरकार की साम्राज्यवादी नीतियों का भी प्रबल विरोध किया गया। यूरोप से बाहर सबसे आरंभ में संगठित किए जाने वाले समाजवादी गुटों में से सबसे आरंभ में संगठित किए जाने वाले कई गुट संयुक्त राज्य में थे। 1901 में सोशलिस्ट पार्टी ऑफ़ अमेरिका (अमरीकी समाजवादी दल) का गठन किया



युजीन डेब्स

गया। उसका सबसे विख्यात नेता युजीन बी. डेब्स था जिसे 1912 में राष्ट्रपति-पद के लिए कोई दस लाख मत प्राप्त हुए। एक अन्य महत्वपूर्ण श्रमिक संगठन था इंडस्ट्रियल वर्कर्स ऑफ़ द वर्ल्ड (विश्व के औद्योगिक मज़दूर)। जब प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा तो राष्ट्रपति विलसन के शब्दों में संयुक्त राज्य ने "विचार और कर्म, दोनों से निष्पक्ष" रहने का फ़ैसला किया। अप्रैल 1917 में संयुक्त राज्य ने "युद्धमात्र को समाप्त कराने" और "विश्व को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित बनाने" के उद्देश्य से युद्ध में शामिल होने का फ़ैसला किया। हम ऊपर बता चुके हैं कि जब लड़ाई छिड़ गई तो यूरोप के समाजवादी दलों ने अपनी-अपनी सरकारों का समर्थन करने का निर्णय किया। लेकिन अमरीकी सोशलिस्ट पार्टी तथा इंडस्ट्रियल वर्कर्स ऑफ़ द वर्ल्ड अपनी युद्ध-विरोध की नीति पर डटे रहे। संयुक्त राज्य की सरकार ने ऐसे कानून बनाए थे जिनके अनुसार युद्ध का सार्वजनिक विरोध करने को देशद्रोह और तोड़-फोड़ की कार्रवाई माना जाता था। युद्ध का विरोध करने के अपराध में कई अमरीकियों के ख़िलाफ़ मुकदमे चलाए गए। युजीन डेब्स को दस साल के कारावास की सज़ा सुनाई गई।

एक लिंचिंग

दहशत से नीग्रो अब चीख़ पड़ा, औंधे मुँह गिरा और बेहोश हो गया। मिट्टी के फ़र्श पर मरणासन्न अवस्था में धप्प की आवाज़ के साथ जब वह गिरा, तो उसका पूरा शरीर ऐंठ सा गया। वह अपने होशोहवास खो चुका था और औंधा पड़ा हुआ था। उसके मुँह से झाग निकल रहा था। अंतिम बार उसे जब होश आया था, तब उसे पीछा करते हुए उत्पीड़कों की आँखें नज़र आई थीं।

डेवीस इस दृश्य के पास ऊँची घास की आड़ में खड़ा था, वहाँ से बस दस फुट की दूरी पर। भीड़ उसको पकड़कर और बांधकर फिर जमा होने लगी थी। यद्यपि इस दृश्य ने उसके पूरे अस्तित्व को झकझोर डाला था, लेकिन एक प्रशिक्षित संवाददाता में निष्ठुरता से किसी भी दृश्य को देखने-समझने की जो क्षमता होनी चाहिए वह क्षमता उसमें थी। अब भी वह उस दृश्य के अलग-अलग रंगों को पहचान सकता था, मशालों की लाल और धुएँदार शिखाएँ, आदमियों के बिगड़े हुए चेहरे, अफ़रा-तफ़री और घसीटने की क्रियाओं को वह साफ़ देख सकता था। तभी एकदम उसके हाथ की हथेलियों ने उसके मुँह को ढक दिया। वह इस बात से बिल्कुल बेख़बर था कि वह क्या कर रहा है। "हे भगवान" वह बुदबुदाया, उसकी बोलने की शक्ति लुप्त होती जा रही थी।

नीग्रो के मुँह से निकलती हुई झाग, उसकी आँखें रक्तिम लाल, बेहोशी की हालत में हिलते हुए उसके हाथ, सीढ़ियों के ऊपर उसकी टाँगें पकड़कर घसीटना, इस घिनौने दृश्य को देखकर उसे मतली आ रही थी। भीड़ ने उसकी कमर और पैरों के चारों तरफ़ उसे रस्सी से बाँध रखा था। उसका सिर लटक रहा था और उसे बाहर घसीटा जा रहा था। उसका काला चेहरा ऐसा विद्रूप हो गया था कि वह मनुष्य मुखाकृति का लगता ही नहीं था।

"हे भगवान।" डेवीस के मुँह से फिर यह शब्द निकले। उसने दाँतों तले अँगुली दबा ली।

अब आसपास बहुत भीड़ जमा हो गई थी। अपने कारनामे पर लोगों में अब आतंक और दहशत ज़्यादा थी और उल्लास कम। लेकिन किसी में न तो यह साहस था और न दया का भाव कि जो कुछ हो रहा है, उसका विरोध करे। अब एक प्रकार की यांत्रिक कुशलता के साथ नीग्रो को बेरहमी के साथ गेहूँ के बोरे की तरह गाड़ी में फेंक दिया गया। बाप और बेटा गाड़ी हाँकने के लिए आगे बैठ गए। भीड़ के लोग अपने-अपने घोड़ों पर सवार हो गए और घुड़सवारों का जुलूस चुपचाप आगे बढ़ चला। डेवीस को लगा कि यह लोग शायद कट्टर हत्यारे कम हैं, कुछ कौतूहल करने और देखने के उत्सुक अधिक। उनमें से अधिकांश शायद अपने जीवन की ऊब को मिटाने के लिए कुछ नया देखना चाहते हैं, उनके लिए यह सब एक नया कारनामा था। आँखें फाड़े हैरान और परेशान डेवीस भी दौड़कर अपने घोड़े पर सवार होकर जुलूस के पीछे हो लिया। वह इतना उत्तेजित था कि उसको इसका एहसास ही नहीं था कि वह क्या कर रहा है।

धीरे-धीरे यह भीड़ चुपचाप सैंड नदी के चुंगी घर की तरफ़ बढ़ी, जहाँ से वह आई थी। चाँद आसमान में अब भी बहुत ऊँचाई पर था। सारे वातावरण को उसने दूधिया चांदनी से धो दिया था। अपने घोड़े पर सवार डेवीस अपने मन में सोच रहा था कि वह अपने अख़बार को ख़बर की तार कब भेजेगा। उसके लिए तो वक्त ही नहीं होगा। उसने सोच लिया कि यह आज मुमकिन नहीं होगा। जब यह मामला ख़त्म होगा, तब तो कोई वक्त बचेगा नहीं। पता नहीं, वे उसे कब फाँसी पर लटकाएँगे ? या फांसी देंगे भी या नहीं ? यह सब उसको इतना अस्वाभाविक और बर्बरतापूर्ण लग रहा था कि उस पर यकीन करना मुश्किल था। उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि यह सब वाकई हो रहा है और वह स्वयं उसका एक हिस्सा है। घुड़सवारों का जुलूस अब भी आगे बढ़ रहा था।

"क्या सचमुच लोग इसे फांसी पर लटकाएँगे ?" डेविस ने अपने साथ चलते एक घुड़सवार से पूछा। डेवीस के लिए वह एकदम अजनबी था लेकिन उसने डेवीस के साथ-साथ चलने का बुरा नहीं माना।

"इसीलिए तो उसे पकड़ा है।" उसने जवाब दिया।

कितनी अजीब बात है, डेवीस ने अपने मन में सोचा। कल रात को अपनी जगह पहुँच कर मैं अपने सुखद बिस्तर में लेटा आराम कर रहा हूँगा।

डेवीस फिर भीड़ से कुछ पीछे रह गया और सन्नाटे में खो गया। वह अपने आप पर काबू पाने की कोशिश करने लगा। उसे यह विश्वास नहीं हो रहा था कि वह जो शहर की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी, उसके शोर-शराबे और कम-से-कम बाहरी तौर पर व्यवस्थित सामाजिक जीवन से अभ्यस्त है, वह जो कुछ हो रहा है, उसका हिस्सा हो सकता है। रात बहुत सुहावनी थी और ताज़गी

भरी हवा चल रही थी। छायादार पेड़ रात की ठंडी हवा के झोंकों से झूम रहे थे। किसी को इस तरह क्यों मरना पड़े ? यह सब होने से पहले बाल्डविन के या और कहीं के लोगों में कानून का पक्ष लेने की, और यह मामला कानून के हवाले करने की चेतना क्यों नहीं जागी ? बाप-बेटा दोनों ही अब नृशंस, निरे पशु लग रहे थे। पुत्री और बहिन को जो क्षति पहुँची, वह अब असली बात नहीं थी, असली बात केवल यह थी जो अब हो रहा था। यह भी लगता था कि इस तरह की बात के लिए प्रथा के अनुसार इसी तरह की मौत दी जाए। लगता है जैसे यह कोई स्वयंसिद्ध गणित का सिद्धांत हो, कठोर लेकिन रिवाज के रूप में प्रचलित। वह मौन भीड़, अपनी यांत्रिक चाल-ढाल से भयावह, धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। यह सब भी जैसे स्वयंसिद्ध नियम हो। कुछ देर के बाद डेवीस ने गाड़ी के पास जाकर नीग्रो को फिर से देखा।

यह देखकर डेवीस को खुशी-सी हुई कि नीग्रो अब भी होश में नहीं था। वह ज़ोर-ज़ोर से सांस ले रहा था और कराह रहा था लेकिन शायद उसे पीड़ा का एहसास नहीं था। उसकी आंखें खुली पर जड़ थीं। उसके चेहरे और हाथों से खून बह रहा था, जैसे किसी ने नोच डाला हो या कुचल डाला हो। वह निढाल लुढ़का पड़ा था। लेकिन डेवीस इस दृश्य को अब ज़्यादा देर तक नहीं देख सका। वह गाड़ी से पीछे हट गया, उसका मन मर गया और वह निढाल हो गया। अब उसे कुछ नज़र नहीं आ रहा था। ऐसा दृश्य देखना ही एक भयानक और पाशविक बात थी। भीड़ अब भी आगे बढ़ रही थी। वह उसके पीछे-पीछे चलता रहा। खेत जहाँ से वे गुज़र रहे थे, चांदनी की रोशनी में चमक रहे थे। अंधेरे मौन वृक्षों से चांदनी छन कर आसपास बिखर रही थी। वे लोग छोटी-छोटी पहाड़ियों और घाटियों से होते हुए आगे बढ़ रहे थे। अब एक कलकल करती हुई पतली धारा दिखाई देने लगी थी। डेवीस ने इस धारा को आज दिन में देखा था। उस पर एक पुल बना हुआ था। धारा रात में विद्युत प्रवाह की तरह चमकती हुई बह रही थी। थोड़ी दूर पर पानी के बिल्कुल पास सड़क दिखने लगी थी और फिर वह पुल, जो अब साफ़ नज़र आ रहा था, के ऊपर तक पहुँच गई।

भीड़ का जुलूस वहाँ तक पहुँच कर रुक गया। गाड़ी को पुल के ऊपर ले जाया गया। बाप-बेटा दोनों गाड़ी से उतरे। सब घुड़सवार और डेवीस भी अपने-अपने घोड़ों से उतरे। कोई बीस-एक लोग गाड़ी के आसपास खड़े हो गए। नीग्रो को गाड़ी से निकाला गया, जैसे किसी बोरे को घसीटा जाता है। सौभाग्य से, डेवीस ने मन-ही-मन सोचा, वह अब भी बेहोश था। यह संयोग की मेहरबानी थी। बहरहाल, उसने अब फ़ैसला किया कि अब इसका अंत देखने की उसमें ताब नहीं है। इसलिए वह वहां से कुछ दूर पुल के आगे हट गया। आख़िर वह एक बिल्कुल निष्ठुर संवाददाता तो था नहीं। जहाँ वह खड़ा था, वहाँ से देख सकता था। पानी की सतह से ऊपर उठती हुई लंबी-लंबी छड़ों को। कुछ लोग एक छड़ों में रस्सी बांध रहे हैं। उसने यह भी देखा कि रस्सी के दूसरे सिरे से नीग्रो की गर्दन को बांधा जा रहा है।

बाद में उत्सुक भीड़ पीछे हटकर खड़ी हो गई। डेवीस ने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

"क्या तुम्हें कुछ कहना है ?" किसी ने कड़कदार आवाज़ में पूछा। लेकिन कोई जवाब नहीं मिला। नीग्रो शायद अब भी छटपटाते हुए कराहें भर रहा था, पहले की तरह बेहोशी की हालत में।

उसके बाद दस-बारह लोगों ने उस काले ढेर को ऊपर उठाया। फिर डेवीस ने उस ढेर को रस्सी के घिसने से किर्र - किर्र की आवाज़ के साथ लटकते देखा। मद्धिम चाँदनी की रोशनी में ऐसा लगा था जैसे नीग्रो का शरीर फड़फड़ा रहा हो, लेकिन वह यह विश्वास से नहीं कह सकता था। वह चुपचाप यह सब देखता रहा। अब नीग्रो के शरीर का हिलना-डुलना बंद हो गया। फिर उसे लगा कि भीड़ वहाँ से जाने की तैयारी कर रही है और फिर सब लोग चले गए, डेवीस को अपने विचारों में खोया अकेला छोड़ कर। कल-कल करती धारा पर पड़ रही मंद चाँदनी में रस्सी से लटकता झूलता हुआ काला ढेर ही केवल मनुष्य जैसा और ज़िंदा जान पड़ रहा था, वहाँ डेवीस का एकमात्र साथी।

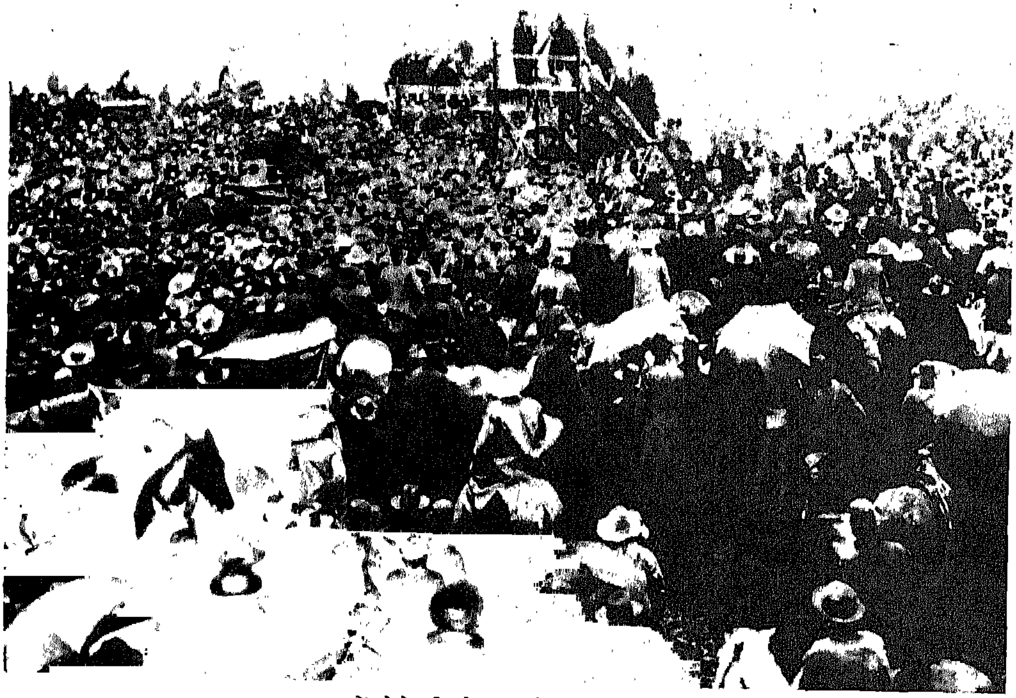
[थ्योडोर ड्राज़र की अंग्रेज़ी कहानी "निग्गर जेफ़" के अंश]

नोट : जब कोई उत्तेजित भीड़ बिना सुनवाई के, बिना मुकदमा चलाए और बिना किसी कानून को मानते हुए किसी व्यक्ति को अपराधी मान लेती है और उसे फाँसी पर लटका देती है, उसे लिंचिंग कहते हैं। इस शब्द का प्रयोग विशेषकर संयुक्त राज्य के संदर्भ में किया जाता है। उन्नीसवीं सदी के आख़िरी सालों के बाद से संयुक्त राज्य में लिंचिंग के शिकार अधिकतर अश्वेत लोग हुए हैं।

समानता के लिए काले लोगों का संघर्ष

संयुक्त राज्य के अंदर अन्य प्रकार के तनाव और संघर्ष भी चल रहे थे जिनमें से कुछ तो आज भी समाप्त नहीं हुए हैं। संपत्ति के चंद हाथों में सिमट आने से उत्पन्न कठिनाइयों के अलावा अमरीकी जनसमाज के बहुत बड़े हिस्से अन्य अनेक असुविधाएँ भी झेल रहे थे। औद्योगिक विकास का मतलब आम लोगों की खुशहाली में बढ़ोतरी नहीं था। सौ साल से कुछ ही अधिक काल के दौर में उत्तर अमरीका में रहनेवाले अमरीकी इंडियन कबीलों की लगभग सारी ज़र-ज़मीन छीन ली गई और उनकी जीवन पद्धति बिलकुल बिखर कर रह गई। 1890 ई. तक उनकी परवशता की प्रक्रिया प्रायः पूर्ण रूप से संपन्न हो चुकी थी और गोरों ने उनके लिए जितना-कुछ छोड़ दिया था, उन्हें इसी पर संतोष कर लेना पड़ा।

स्वतंत्रता और समानता के लिए काले लोगों (अफ्रीकी-अमरीकी) का संघर्ष उन्नीसवीं सदी से अमरीकी इतिहास का एक बड़ा मसला रहा है। संयुक्त राज्य अमरीका जब गणतांत्रिक शासन पद्धति वाले एक स्वाधीन राष्ट्र के रूप में उदित हुआ तब से लगभग 80 वर्षों तक उस देश में गुलामी की प्रथा चलती रही। 1860 में लगभग तीन करोड़ दस लाख की कुल आबादी में लगभग चालीस लाख गुलाम थे जो संयुक्त राज्य के दक्षिणी राज्यों के लगभग सवा दो लाख लोगों की इच्छा के दास थे। 1865 में गृह-युद्ध के बाद वहाँ से गुलामी की कुप्रथा समाप्त कर दी गई। उसके बाद लगभग दस वर्षों तक कालों को उनके अधिकार दिलाने की कोशिशें चलती रहीं। 1868 ई. से संयुक्त राज्य में "जन्मे या पले-बढ़े" सभी लोगों को "नागरिकता" के अधिकार प्रदान किए गए। इन अधिकारों में किसी भी तरह से कोई काट-छाँट नहीं की जा सकती थी। 1870 में संविधान का पंद्रहवाँ संशोधन पारित हुआ और अब यह कानून बन गया कि "प्रजाति, रंग या पहले की गुलामी की स्थिति के कारण" किसी भी नागरिक को मत देने के अधिकार से "वंचित नहीं किया जाएगा और न उसके इस अधिकार में कोई काट-छाँट की जाएगी।" इससे पहले तक उत्तरी राज्यों में भी, जहाँ गुलामी नहीं थी,



1893 में गोरों की भीड़ एक लिंचिंग होते देख रही है

ज्यादातर कालों को किसी-न-किसी बहाने से इस अधिकार से वंचित रखा गया था। अब दक्षिणी राज्यों में भी, जहाँ काले लोग स्वतंत्र तो हो गए थे लेकिन बहुत ग़रीब थे, उन्हें न केवल मताधिकार प्रदान किया गया, बल्कि उस पर अमल भी करवाया जाने लगा। 1870 के दशक तक चलने वाले इस काल को पुनर्निर्माण काल (रिकंस्ट्रक्शन पीरियड) कहा जाता है। कई मायनों में यह पहला दौर था जब संयुक्त राज्य में सच्चे अर्थों में लोकतांत्रिक प्रणाली लागू हुई थी। लेकिन जब दक्षिणी राज्यों के भूतपूर्व गुलाम-मालिकों को फिर से सत्ता सौंप दी गई और वहाँ से संघीय सेना वापस बुला ली गई तो उसी के साथ यह स्वर्णिम दौर भी समाप्त हो गया, और कालों को राजनीतिक तथा कानूनी अधिकारों से वंचित रखने तथा प्रजातिगत भेदभाव एवं जोर-ज़ुल्म का सिलसिला फिर से आरंभ हो गया।

बीसवीं सदी का आरंभ होते-होते तो काले लोग अपने सभी कानूनी तथा राजनीति अधिकारों से वंचित कर दिए गए और गोरों तथा कालों के अलगाव पर सख़्ती से अमल किया जाने लगा। काले और गोरे रेलगाड़ी के एक ही डिब्बे में साथ-साथ यात्रा नहीं कर सकते थे, वे एक ही पार्क या समुद्र-तट पर नहीं जा सकते थे, एक भोजनालय में खाना नहीं खा सकते थे, साथ-साथ स्कूल में नहीं पढ़ सकते थे, एक ही थियेटर में मनोरंजन के लिए नहीं जा सकते थे और न एक ही अस्पताल में अपना इलाज करवा सकते थे। अलगाव के साथ-साथ हिंसा का दौर भी चल निकला था। अनुमान है कि उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में हर साल गोरों की भीड़ें लगभग दो सौ कालों को पकड़ कर मार डाला करती थीं। (इसे अंग्रेज़ी में लिंचिंग कहा जाता है।) नस्लवाद समाज में आर्थिक असमानताओं को पुख़्ता करने का भी एक उपकरण बन गया। काले लोग अमरीकी समाज के आर्थिक दृष्टि से सबसे दलित लोग थे। लेकिन ज़्यादातर गोरे भी ग़रीब थे और उनका भी खूब शोषण होता था। नस्लवादी भावना को उभारने का यह भी मक्सद था की काले-गोरे दोनों वर्गों के आम लोग शोषण के ख़िलाफ़ एक जुट न होने पाएं। वैसे तो काले लोगों को पूरे देश में भेदभाव के दंश को सहना पड़ता था, लेकिन दक्षिणी राज्यों में उनकी स्थिति उत्तरी राज्यों की अपेक्षा बहुत बुरी थी। बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों तक नस्ली भेदभाव के ख़िलाफ़ एक प्रबल आंदोलन खड़ा हो गया। लगभग आधी सदी तक डब्ल्यू.ई.बी.दु. बॉइस इस आंदोलन के शलाका पुरुष बने रहें। 1909 में ग़ैर-गोरे लोगों की तरक्की के लिए नेशनल एसोसिएशन फ़ॉर द एडवांसमैंट ऑफ़ कलर्ड पीपुल, नाम की संस्था गठित की गई। नस्लवाद के विरोधी बहुत-से गोरों ने भी काले लोगों के संघर्ष को समर्थन दिया। लेकिन नस्ली भेदभाव मिटाने और नस्ली अलगाव की अमानवीय प्रथा को समाप्त करने की दिशा में ठोस प्रगति आधी सदी से भी कुछ अधिक काल के बाद ही संभव हो पाई।

ऊपर बताया जा चुका है कि जिन यूरोपीय देशों में लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली थी उनमें भी स्त्रियों को मताधिकार से वंचित रखा गया था। यही स्थिति संयुक्त राज्य अमरीका में भी थी। महिला मताधिकार आंदोलन उन्नीसवीं सदी के मध्य से आरंभ हुआ था और बीसवीं सदी के प्रारंभ में यह एक अहम मसला बन गया। लेकिन अमरीकी स्त्रियों को संयुक्त राज्य के संविधान द्वारा 1920 में जाकर मताधिकार प्रदान हुआ।

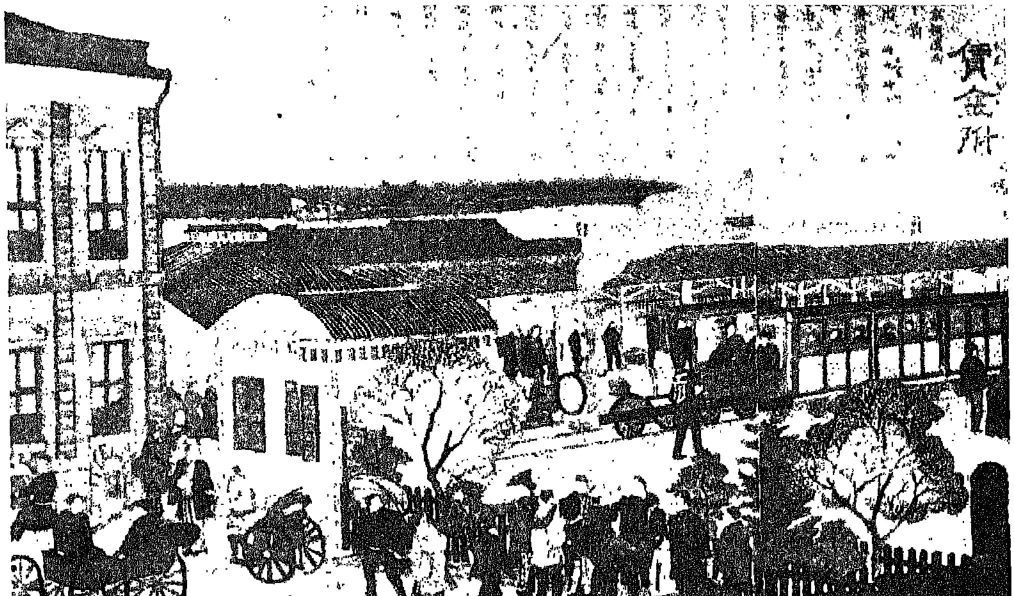
जापान

आधुनिक जापान का उदय

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि साम्राज्यवादी नियंत्रण से बचा रहने वाला एकमात्र एशियाई देश जापान ही था। जापान में असली सत्ता सदियों से शोगुन कहे जाने वाले सैनिक नेताओं के हाथों में थी और जापानी सम्राट नाममात्र का शासनाध्यक्ष था। लगभग दो सो वर्षों से जापान बाकी दुनिया से लगभग पूरी तरह कटा हुआ था। कई दृष्टियों से जापान की समाज व्यवस्था सामंती यूरोप के समान थी। लेकिन तभी उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब जापान की आज़ादी को ख़तरा पेश आया तो सहसा उसकी तंद्रा भंग हुई और वह आधुनिक विश्व की वास्तविकताओं के प्रति जागृत हो उठा। फिर कुछ ही दशकों के दौरान वह न केवल विदेशी प्रभुत्व के ख़तरे को दूर भगा देने में कामयाब हो गया बल्कि उसने अपने समाज के कुछ क्षेत्रों का आधुनिकीकरण भी कर लिया जिसके फलस्वरूप वह शीघ्र ही एक विश्व-शक्ति बन गया। 1853 ई. में कमोडोर पेरी ने संयुक्त राज्य के एक बेड़े के साथ जापान पहुँच कर उस पर एक अंतिम चेतावनी ठोंक दी जिसमें कहा गया था कि "अनिवार्य कारणों से यह ज़रूरी हो गया है कि दुनिया के इस सुदूर कोने में हम अपने व्यापारिक हितों की

रक्षा करें और इस उद्देश्य से चाहे जितनी सख़्त कार्रवाई करनी पड़े, ताकि उन शक्तियों के मंसूबों को विफल किया जा सके जो हमारी तरह सिद्धांतों के पालन में विश्वास नहीं करतीं।" आठ महीने बाद जब पेरी एक और भी बड़े बेड़े के साथ जापान लौटा तो जापान की सरकार ने संयुक्त राज्य के साथ एक संधि पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए जिसके अनुसार दो बंदरगाह अमरीकी जहाज़ों के लिए खोल दिए गए और संयुक्त राज्य को थोड़ा-बहुत व्यापार करने की इजाज़त दे दी गई। इसके बाद कई यूरोपीय देशों के साथ इसी तरह की संधियाँ की गईं। 1863 और 1864 में अमरीकी तथा यूरोपीय बेड़ों ने दो जापानी नगरों पर गोलाबारी करके अपनी सैनिक श्रेष्ठता का प्रदर्शन किया। 1868 में शोगुन का शासन समाप्त कर दिया गया और अब शासकों तथा सलाहकारों का एक नया समूह सामने आया। सैद्धांतिक रूप से सम्राट की सत्ता को पुनर्प्रतिष्ठित कर दिया गया और वे लोग सम्राट के नाम पर शासन करने लगे। नए सम्राट ने "मेजी" की उपाधि धारण की जिससे यह घटना मेजी पुनर्प्रतिष्ठा (मेजी रेस्टोरेशन) के नाम से विख्यात हुई।

मेजी पुनर्प्रतिष्ठा के चार दशकों के अंदर ही जापान की आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं का कायाकल्प हो गया। जापान सरकार ने उद्योगों में काफ़ी पूँजी लगाई जिसके लिए पैसा भारी कराधीन और किसानों के शोषण से जुटाया गया। बाद में ये उद्योग पूँजीपतियों के हाथों बेच दिए गए। आगे उद्योग आरंभ करने में सरकारी सहायता की ज़रूरत नहीं पड़ी क्योंकि जापानी पूँजीपति अपने ही बूते यह काम कर सकते थे। औद्योगीकरण की प्रक्रिया के साथ ही किसान विपन्न होते गए और वे अक्सर विद्रोह कर देते थे। उनमें से बहुत-से लोग शहरों में जा बसे, जहाँ वे उद्योगों के लिए सस्ता श्रम



टोकियो से याकोहामा तक प्रथम रेलगाड़ी जिसमें जापान के सम्राट सवार हैं (1872)

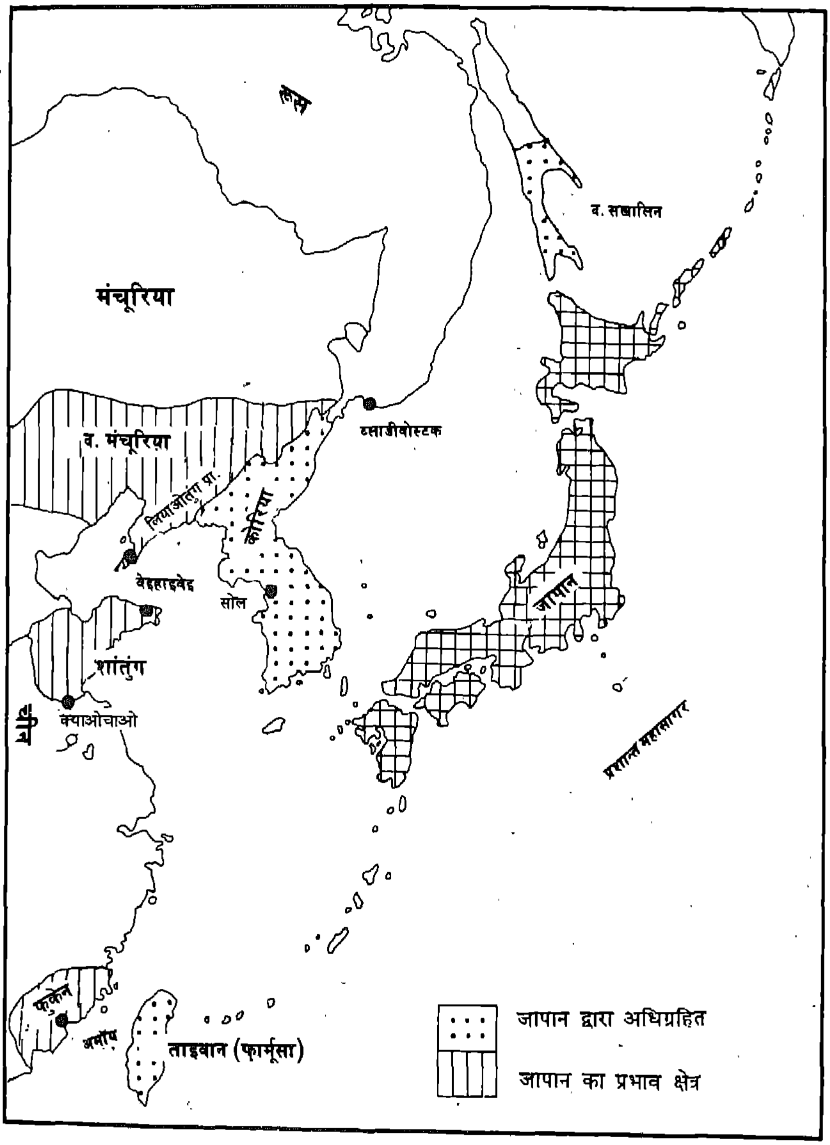
मुहैया करने लगे। बीसवीं सदी के आरंभिक वर्ष आते-आते तो अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में जापानी माल ख़ासकर जापनी कपड़े, यूरोपीय माल के साथ सफलतापूर्वक होड़ करने लगे। अधिकांश जापानियों के बहुत ग़रीब होने के कारण देश के अंदर जापानी माल की माँग बहुत सीमित थी।

1889 ई. में जापान में एक नया संविधान लागू किया गया जिसमें कार्यपालिका के प्रधान के रूप में सम्राट को एक विशेष स्थिति प्रदान की गई। उसे मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया और मंत्रियों को उसी के प्रति ज़िम्मेदार बनाया गया। सम्राट को "स्वर्ग से अवतरित, दिव्य एवं पुनीत" मानते हुए कहा गया कि "अपने समस्त प्रजाजनों में उसका स्थान सर्वोपरि है। उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा का भाव रखना चाहिए और वह परमपावन है जिसे कहीं से कोई कलुष नहीं लग सकता।" संविधान में एक संसद की व्यवस्था की गई जिसे "डाइट" संज्ञा दी गई। आबादी के तीन प्रतिशत से भी कम लोगों को मताधिकार दिया गया। डाइट को कोई ख़ास अधिकार नहीं दिया गया। मंत्री उसके प्रति ज़िम्मेदार नहीं थे और वित्तीय मामलों में भी उसके अधिकार सीमित थे। नई राजनीतिक व्यवस्था में सेना को विस्तृत अधिकार दिए गए और कालांतर में व्यवस्था पर उसका दबदबा कायम हो गया। थलसेना और नौसेना ही अपने अधिकारियों एवं थलसेना तथा नौसेना के मंत्रियों की नियुक्ति करती थी और डाइट का उन पर कोई नियंत्रण नहीं था। अब जो शैक्षिक व्यवस्था कायम की गई उसके अधीन कुछ ही समय में आबादी के एक विशाल भाग को साक्षर बना दिया गया। इससे जापानी लोगों को औद्योगीकरण के लिए आवश्यक तकनीकी कौशल सीखने में सहूलियत हुई। शिक्षा प्रणाली को ऐसा रूप दिया गया जिससे सम्राट के प्रति 'पूज्यभाव' को बल मिले और लोगों में प्रबल राष्ट्रवाद की भावना जगे। जापान में नागरिक स्वतंत्रताओं तथा खुली राजनीतिक स्पर्धा का अभाव था। राज्य एक अल्पतंत्र (ओलिगार्की) के नियंत्रण में था और उसके दमन के तंत्र को, ख़ासकर पुलिस को विस्तृत अधिकार दिए गए। वह समाचारपत्रों पर नियंत्रण रख सकता था और सार्वजनिक सभाओं तथा प्रदर्शनों का आयोजन रोक सकता था। राजनीतिक विसम्मति को सहन नहीं किया जाता था किंतु इन तमाम कठोर प्रतिबंधों के बावजूद एशिया में सबसे पहला समाजवादी ग़ुट जापान में ही गठित किया गया।

जापान एक सम्राज्यवादी शक्ति के रूप में

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक तक जापान औपनिवेशिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग पर चल निकला। इन महत्वाकांक्षाओं की दिशा मुख्य रूप से चीन की ओर थी और इनका उद्देश्य पूर्वी एशिया में जापानी प्रभुत्व की स्थापना करना था। बाद में जापानी महत्वाकांक्षाओं के दायरे में पूरे एशिया तथा प्रशांत क्षेत्र का समावेश हो गया। अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ बनाकर जापान ने 1895 में चीन के ख़िलाफ़ लड़ाई छेड़ दी और उसे पराजित कर दिया। उसने फ़ारमूसा (ताइवान) को, जो चीनी प्रदेश था, अपने साम्राज्य में मिला लिया और चीन को कोरिया की, जिस पर चीन का अपने अधिराजत्व (सुज़रेन्टी) का दावा था, स्वतंत्रता को मान्यता देने पर मजबूर किया। कोरिया में जापान का उद्देश्य कोरिया की स्वतंत्रता बनाए रखना नहीं बल्कि वहाँ से चीन के प्रभाव को समाप्त करना था ताकि वहाँ जापान को अपना असर बढ़ाने को पूरा अवसर मिल सके। 1905 में जापान ने कोरिया को अपना संरक्षित राज्य बना लिया और 1910 में उसे अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया। 1889 ई. में संयुक्त राज्य तथा यूरोपीय देशों ने एक महाशक्ति के रूप में जापान की स्थिति को स्वीकार करते हुए उन सभी रियायतों और अधिकारों का त्याग कर दिया जो उन्होंने 1854 के बाद जापान पर थोपी गई संधियों के फलस्वरूप प्राप्त किए थे। 1902 में इंग्लैंड और जापान के बीच मित्रता की संधि हुई। इस प्रकार जापान अन्य औपनिवेशिक शक्तियों के साथ बराबरी के दर्जे पर आने वाला प्रथम एशियाई देश बन गया। इस संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने में ब्रिटेन का उद्देश्य रूस के चीन संबंधी मंसूबों पर अंकुश लगाना था। 1904-1905 के रूस-जापान युद्ध का ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं। इस लड़ाई में रूस पराजित हुआ। दक्षिणी मंचूरिया को जापानी "प्रभाव-क्षेत्र" के रूप में स्वीकार कर लिया गया। जापान ने सखालिन द्वीप का भी आधा हिस्सा हासिल कर लया और लियाओतुंग प्रायद्वीप पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जापान ने चीन पर अपना संरक्षणत्व स्थापित करने की कोशिश की। भले ही अपने इस उद्देश्य में वह सफल नहीं हुआ लेकिन चीन में अपने प्रभाव का विस्तार करने में कामयाब हो गया।

जापान का औपनिवेशिक विस्तार (1895-1918)



हालाँकि जापान एशिया में साम्राज्यवादी नीतियों पर ही चल रहा था फिर भी एक महाशक्ति के रूप में उसके उदय से अनेक एशियाई देशों में राष्ट्रवाद को एक नई प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त हुई। रूस के ख़िलाफ़ उसकी लड़ाई से साबित हो गया कि कोई ग़ैर-गोरा एशियाई देश भी यूरोप की एक बड़ी शक्ति को परास्त कर सकता है। किंतु यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि जापानी साम्राज्यवाद के मुख्य शिकार यूरोपियन नहीं बल्कि एशिया के ही दूसरे देश थे।

संयुक्त राज्य अमरीका तथा जापान का महाशक्तियों के रूप में उदित होना इस बात का संकेत था कि विश्व में यूरोप का बोलबाला अधिक दिनों तक कायम रहने वाला नहीं है। प्रथम विश्व युद्ध ने इस प्रक्रिया को गति प्रदान की।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका

यूरोप, अमरीका तथा जापान की साम्राज्यवादी गतिविधियों की चर्चा करते हुए हम एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका की कुछ घटनाओं का ज़िक्र कर चुके हैं। जब से साम्राज्यवादी देशों ने इन महाद्वीपों पर अपना प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष नियंत्रण स्थापित किया तभी से वहाँ उन्हें प्रबल जन-विरोध का सामना करना पड़ा। कालांतर में इस विरोध के रूप में बदलाव आया और उसने राष्ट्रवादी आंदोलनों की शक्ल अपना ली। इन आंदोलनों का उद्देश्य प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष विदेशी नियंत्रण को समाप्त करना था। इन आंदोलनों से अनुप्राणित देशों ने अन्य राष्ट्रों के साथ समानता के दर्जे का दावा करते हुए यह संकल्प व्यक्त किया कि हम अपनी-अपनी अर्थव्यवस्थाओं का निर्माण आधुनिक पद्धतियों पर करेंगे तथा अपनी राजनीतिक एवं सामाजिक प्रणालियों की रचना लोकतंत्र और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों के आधार पर करेंगे। इन राष्ट्रवादी आंदोलनों को बहुधा अपने ही देश की युग-जर्जर राजनीतिक व्यवस्थाओं के ख़िलाफ़ जूझना पड़ा और साथ ही प्रगति के मार्ग में बाधक तत्वों के विरुद्ध भी संघर्ष करना पड़ा।

एशिया में राष्ट्रवादी आंदोलनों का उदय

भारतीय राष्ट्रवाद के उदय और उसकी अपनी ख़ास विशेषताओं से आप परिचित हैं। भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन उपनिवेशों में आरंभ होने वाले प्रथम राष्ट्रवादी आंदोलनों में से था। बीसवीं सदी के आरंभिक वर्ष आते-आते राष्ट्रीय मुक्ति के आंदोलन एशिया के अन्य भागों में भी उभरने लगे, ख़ासतौर से हिन्द-चीन (इंडो-चाइना), इंडोनेशिया, फिलिपाइंस, कोरिया तथा ईरान में।

ईरान में लगातार कई विद्रोहों के बाद वहाँ के शाह को ईरान की शासन व्यवस्था को 'मजलिस' नामक संसद से युक्त संवैधानिक राजतंत्र का रूप देने को बाध्य होना पड़ा। लेकिन इसके शीघ्र बाद विदेशी सहायता से, ख़ास तौर से रूस की मदद से, शाह ने अपना निरंकुश शासन फिर से स्थापित कर लिया और मजलिस को भंग कर दिया।

चीन में राष्ट्रीय जागरण अनेक क्रांतिकारी संगठनों के रूप में प्रकट हुआ। ये सब संगठन चाइनीज़ रिवॉल्युशनरी लीग (चीनी क्रांतिकारी संघ) में संगठित होकर एकजुट हो गए। डॉ. सुन यात-सेन इस लीग के अध्यक्ष थे। चीनियों के राष्ट्रीय जागरण में तथा विभिन्न क्रांतिकारी समूहों के एकीकरण में उन्होंने प्रमुख भूमिका निभाई थी। लीग डॉ. सुन यात-सेन द्वारा प्रतिपादित तीन सिद्धांतों का अनुसरण करता थी। ये तीन सिद्धांत थे—राष्ट्रवाद, लोकतंत्र तथा आजीविका (आजीविका का उल्लेख कभी-कभी समाजवाद के रूप में भी किया जाता है)। स्पष्ट शब्दों में कहें तो इन सिद्धांतों का मतलब था सत्रहवीं सदी के मध्य से चीन पर शासन करते आ रहे मांचू राजवंश की हुकूमत का अंत करना, लोकतांत्रिक गणतंत्र की स्थापना करना तथा भूमि का न्यायसम्मत वितरण करना। 1911 में दक्षिणी चीन में क्रांति की ज़बरदस्त लहर आई और 1 जनवरी 1912 को चीन को गणतंत्र घोषित कर दिया गया जिसका मुख्यालय नानजिंग (नानकिंग) को बनाया गया। डॉ. सुन यात-सेन को इस गणतंत्र का अध्यक्ष बनाया गया। इसी बीच उत्तरी चीन में चीन को एक संवैधानिक राजतंत्र को रूप देने के लिए कुछ कदम उठाए जा चुके थे। जनरल युआन शि-काई को प्रधानमंत्री बना दिया गया था। बेजिंग (पीकिंग) से उत्तरी चीन पर नियंत्रण रखने वाली संवैधानिक राजतांत्रिक सरकार तथा नानजिंग से काम करने वाले गणतंत्र के बीच संघर्ष की संभावना से बचने के लिए एक समझौता किया गया। मांचू

शासक ने राजपद छोड़ दिया और इस प्रकार चीन में सम्राट के शासन का अंत हो गया। युआन शि-काई को राष्ट्राध्यक्ष घोषित कर दिया गया और उसे संसद की बैठक बुलाने का दायित्व सौंपा गया। विदेशी ताकतों ने युआन शि-काई को अपना समर्थन दिया। 1913 में उसने संसद की बैठक बुलाई, लेकिन शीघ्र ही उसे भंग कर दिया। वह स्वयं को सम्राट घोषित करने का सपना देख रहा था। इस बीच डॉ. सुन यात-सेन ने गोमिंदांग (कोमिंतांग) या राष्ट्रवादी दल का गठन करके "दूसरी क्रांति" का आह्वान कर दिया था। युआन गोमिंदांग को दबाने में कामयाब हो गया। इस दल पर प्रतिबंध लगा दिया गया और डॉ. सुन को देश से निष्कासित कर दिया गया। 1916 में युआन की मृत्यु हो गई और चीन युद्ध नेताओं (वार लॉर्ड्स) के शासन में चला गया। इनमें से अलग-अलग युद्ध नेताओं का देश के विभिन्न भागों पर नियंत्रण था और इन्हें विदेशी शक्तियों से वित्तीय सहायता मिलती रहती थी। प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होने पर चीन में राष्ट्रवादी तथा क्रांतिकारी आंदोलन का एक नया दौर आरंभ हुआ।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, बीसवीं सदी के आरंभिक वर्ष आते-आते उस्मानिया साम्राज्य अपने अधिकांश यूरोपीय प्रदेश खो चुका था। उसके उत्तर अफ्रीका स्थित प्रदेशों में से भी काफ़ी कुछ यूरोप की औपनिवेशिक शक्तियाँ हथिया चुकी थीं। सीरिया, इराक, लेबनान, फ़िलस्तीन और अरब–इन पश्चिमी एशियाई देशों में भी राष्ट्रवादी भावनाएँ उदित हो रही थीं। स्वयं तुर्की के अंदर सुल्तान के जुल्मों के ख़िलाफ़ और तुर्की को आधुनिक लोकतांत्रिक तथा धर्मनिरपेक्ष देश बनाने के लिए ज़बरदस्त आंदोलन चल रहा था। इस आंदोलन का नेतृत्व बुद्धिजीवियों, सुधारकों और सैनिक अफ़सरों का एक समूह कर रहा था। ये लोग यंग टर्क अर्थात् युवा तुर्क कहे जाते थे। 1876 में तुर्की में एक संविधान लागू किया गया था जिसे बाद में रद्द कर दिया गया। विद्रोह के भय से डर कर 1908 में सुल्तान ने फिर से उस संविधान को लागू कर दिया। कुछ युवा तुर्क उस्मानिया साम्राज्य के अरब लोगों को समान अधिकार देने के पक्ष में थे, जबकि कुछ अन्य चाहते थे कि तुर्की की श्रेष्ठता को कायम रखा जाए। अंत में युवा तुर्कों की विफलता के फलस्वरूप तुर्की को जर्मनी तथा आस्ट्रिया-हंगरी के साथ होकर प्रथम विश्व युद्ध में उतरना पड़ा। उधर ब्रिटेन अरब देशों की उस्मानिया-विरोधी राष्ट्रवादी भावनाओं को भड़का कर अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में सफल हुआ।

अफ्रीका में उपनिवेशवाद का प्रतिरोध

उन्नीसवीं सदी का अंत होते-होते यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियाँ अफ्रीका को लगभग पूरी तरह से आपस में बाँट चुकी थीं। उत्तर अफ्रीका के कुछ हिस्से इस बंदरबाँट से ज़रूर बच गए थे, लेकिन बीसवीं सदी के प्रथम चरण के अंत तक उन्होंने इन्हें भी हासिल कर लिया। तथापि अफ्रीकी प्रदेशों पर वास्तव में कब्ज़ा करने में उन्हें काफ़ी समय लगा क्योंकि वहाँ उन्हें प्रबल प्रतिरोधों और विद्रोहों का सामना करना पड़ा। इनमें से कुछ विद्रोहों को दबाने में तो उन्हें काफ़ी लंबा अर्सा लगा। उदाहरण के लिए जर्मन पूर्व अफ्रीका में 1905 से लेकर 1907 तक माजी-माजी विद्रोह चला। अनेक एशियाई देशों के विपरीत अफ्रीका के अधिकांश देशों में आधुनिक राष्ट्रवादी आंदोलन प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही आरंभ हुए। जब ये आंदोलन शुरू हुए तो उनके पीछे प्रतिरोध और विद्रोह की एक दीर्घ परंपरा की शक्ति विद्यमान थी।

लैटिन अमरीकी परिदृश्य

स्पेनी तथा पुर्तगाली साम्राज्यों के पतन के बाद लैटिन अमरीका में बीस स्वतंत्र राज्य उदित हुए थे। उन्नीसवीं सदी के अंत तक उनमें से अधिकांश के अर्थतंत्र मुख्य रूप से कृषि पर आधारित थे और बहुत ही पिछड़ी अवस्था में थे। उनमें से ज़्यादातर राज्यों में भ्रष्ट अल्पतंत्रों का शासन था और वहाँ चूँकि कोई मज़बूत सरकार नहीं बन पाई थी इसलिए अन्य देशों के आर्थिक प्रभुत्व का प्रतिरोध भी नहीं किया जा सका। इन देशों के समृद्ध संसाधनों का उपयोग विकास तथा जन-कल्याण के लिए नहीं किया गया, बल्कि वे यूरोपीय कंपनियों के हाथों, और बाद में अधिकाधिक परिमाण में अमरीकी निगमों के हाथों बेच दिए गए। खानों, बागानों, रेलमार्गों, जहाज़रानी, बिजली आदि प्रायः सभी आर्थिक क्षेत्रों



मैपोनडेरा, जिन्होंने रोडेशिया और मोज़ांबीक में 1894 से 1903 तक ब्रिटिश और पुर्तगालियों के शासन के विरुद्ध गुरिल्ला प्रतिरोध का नेतृत्व किया

में विदेशी निवेशों के कारण लैटिन अमरीका एक "अनौपचारिक साम्राज्य" बन गया था। लैटिन अमरीका पर संयुक्त राज्य के बढ़ते नियंत्रण तथा प्रभुत्व का ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं।

अधिकतर लैटिन अमरीकी देशों की समाज-व्यवस्थाएँ घोर असमानताओं से ग्रस्त थीं। कुछ देशों में तो दास प्रथा को फ्रांसीसी क्रांति के बाद समाप्त कर दिया गया था लेकिन कुछ अन्य देशों में वह प्रथा संयुक्त राज्य अमरीका में समाप्त होने के बाद भी कायम रही। उदाहरण के लिए ब्राज़ील में दास प्रथा का उन्मूलन 1888 में किया गया लेकिन कुछेक लैटिन अमरीकी देशों में दास प्रथा के दीर्घकाल तक जारी रहने के बावजूद वहाँ वैसा नस्लवाद, नस्लवादी भेदभाव तथा अलगाव की भावना नहीं थी जो कि बीसवीं सदी तक भी संयुक्त राज्य में कायम रही।

लैटिन अमरीकी देशों की आबादी में यूरोपीय मूल के लोग, अफ्रीका से गुलाम बनाकर लाए गए काले लोगों की संततियाँ और अमरीकी इंडियन तथा इन सबके मिश्रण से पैदा हुए लोग शामिल थे। बाद में एशियाई देशों के कुछ लोग भी वहाँ जाकर बस गए। लेकिन लैटिन अमरीका की आबादी का आधे से अधिक हिस्सा मिश्रित नस्ल का था। जिन देशों में अमरीकी इंडियनों की आबादी बहुत अधिक थी उनमें भी, जैसे पेरू, इक्वेडोर, बोलिविया, कोलंबिया और वेनेज़ुएला में, सारी सत्ता गोरे शासक समूहों के हाथों में ही केंद्रित थी। गोरे लोग बड़ी-बड़ी जायदादों के मालिक होते थे, हालाँकि वे स्वयं उन जायदादों पर मौजूद नहीं रहते थे बल्कि वे तो ऐशोआराम की ज़िंदगी बिताते हुए दूर बैठे-बैठे ही सूत्र संचालन करते रहते थे। उधर मेहनत-मशक्कत करने वाले अमरीकी इंडियन घोर ग़रीबी का जीवन व्यतीत करते थे। केवल मेक्सिको ही एक ऐसा देश था जहाँ अमरीकी इंडियनों सहित अन्य सभी नस्लों के लोगों ने मिलकर संयुक्त जन-आंदोलन चलाए और सामाजिक असमानताओं को मिटाने, भूमि का न्यायसम्मत वितरण करने तथा जनसाधारण के समर्थन पर आधारित राज्य-व्यवस्था का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। लेकिन इस देश को राजनीतिक उथल-पुथल और संयुक्त राज्य के हस्तक्षेप के लंबे दौर से गुज़रना पड़ा जिसके बाद ही कहीं जाकर मेक्सिको की क्रांति के उद्देश्य कुछ हद तक फलीभूत हो पाए। अर्जेंटाइना ने भी अपनी अर्थव्यवस्था और लोकतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण में कुछ प्रगति की।

जब प्रथम विश्व युद्ध आरंभ हुआ तब तक लैटिन अमरीका के कई हिस्सों में लोकतांत्रिक आंदोलन छिड़ चुके थे। यद्यपि लैटिन अमरीकी राज्य लगभग एक सदी से आज़ाद थे, तथापि वे "अंतर्राष्ट्रीय जीवन के हाशिए पर ही खड़े रहे"



ओरोज़्को द्वारा बनाया गया मैक्सिको के किसान गुरिल्लों का भित्ति चित्र। मैक्सिको के क्रान्तिकारी नेता ज़पाटा के नाम पर इन्हें ज़पाटिस्ट कहा जाता है।

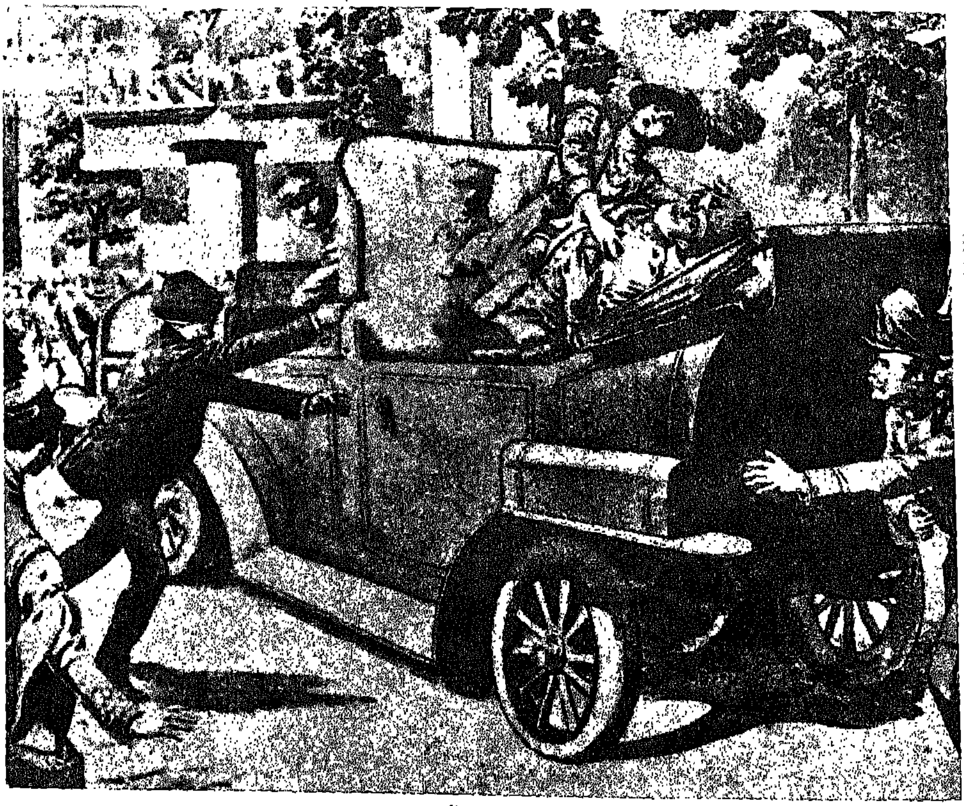
उसमें कोई स्वतंत्र भूमिका नहीं निभा पाए। औद्योगीकरण के अभाव में वे कच्चे माल के संभरक बन कर रह गए थे। उनमें से कुछ तो अपने शक्तिशाली पड़ोसी के लाभ के लिए एक-फ़सली अर्थव्यवस्था वाले राज्य बन गए थे। इससे उनकी पराश्रितता और भी बढ़ गई थी। उत्तर अमरीका और लैटिन अमरीका के बीच इतना ज़्यादा फ़र्क था कि वह हर एक को साफ़ नज़र आता था। लैटिन अमरीकी लोगों की आकांक्षाएँ जग रही थीं और उसी के साथ संयुक्त राज्य अमरीका के ख़िलाफ़ "उत्तर के महाकार दानव के विरुद्ध" उनका शत्रुता का भाव भी तीव्र होता जा रहा था।

प्रथम विश्व युद्ध

साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्व, यूरोप के अंदर प्रबल होता उग्र राष्ट्रवाद और वैर-विरोध तथा तनाव-टकराव, परस्पर विरोधी संधि-संबंधों की स्थापना और बढ़ता हुआ सैन्यीकरण तथा युद्ध की सरगरमी भरी तैयारियाँ -- ये बातें उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक से यूरोप के इतिहास की कुछ ख़ास विशेषताओं के रूप में सामने आई थीं। इस बीच कई संकट उपस्थित हुए थे लेकिन कम से कम अस्थायी रूप से उनका समाधान कर दिया गया। तथापि यूरोप में फैले तनाव के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी जिसमें युद्ध होना अटल माना जाने लगा। हर राज्य अपनी युद्ध-योजनाओं तथा रणनीतियों के साथ तैयार बैठा था। यह बात भी अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही थी कि अगर लड़ाई छिड़ी तो उसे सीमित रख पाना संभव नहीं होगा और वह एक आम लड़ाई का रूप ले लेगी, जिसमें हर देश शामिल हो जाएगा।

तात्कालिक कारण

28 जून 1914 को सरायेवो में आस्ट्रिया के राजसिंहासन के उत्तराधिकारी आर्चड्यूक फ्रांसिस फर्डिनेंड तथा उसकी पत्नी की हत्या ने युद्ध छिड़ने में तात्कालिक कारण का काम किया। सरायेवो, जहाँ ये हत्याएँ की गई थीं, बोसनिया की राजधानी थी। अभी कुछ ही साल पहले आस्ट्रिया-हंगरी ने बोसनिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इन हत्याओं की योजना "ब्लैक हैंड" या "यूनियन ऑफ़ डेथ" नामक एक गुप्त संस्था ने बनाई थी। यह उग्रपंथी सर्बियाई राष्ट्रवादियों की संस्था थी। इन राष्ट्रवादियों का लक्ष्य सभी सर्बियाइयों को एक सर्बियाई राज्य के रूप में संगठित करना था। इतिहासकार आम तौर पर इस बात से सहमत हैं कि सर्बिया की सरकार या कम-से-कम सर्बिया के प्रधानमंत्री को आर्चड्यूक की हत्या के षड्यंत्र की ख़बर थी, लेकिन इसने उसे रोकने की कोई कोशिश नहीं की। आस्ट्रिया-हंगरी को इन हत्याओं में सर्बिया की मिलीभगत होने का पूरा यकीन था, सो 23 जुलाई को उसने सर्बिया पर अंतिम चेतावनी ठोंक दी जिसमें ग्यारह माँगें रखी गई थीं। आस्ट्रिया को इन माँगों के स्वीकार किए जाने की आशा नहीं थी, इसलिए उसने इनकी बिना शर्त स्वीकृति के लिए अड़तालीस घंटे की समय-सीमा तय कर दी। सर्बिया ने सभी तो नहीं, लेकिन ज्यादातर माँगें स्वीकार कर लीं। सभी माँगों की स्वीकृति का मतलब होता सर्बिया का पूर्ण रूप से अपनी प्रभुसत्ता से वंचित होना। सर्बिया के 25 जुलाई के उत्तर से आस्ट्रिया संतुष्ट नहीं हुआ। सर्बिया को एहसास था कि आस्ट्रिया संतुष्ट होगा भी नहीं, सो उसने अपने सैनिकों की लामबंदी का आदेश जारी कर दिया था।



सरायेवो में आर्चड्यूक फ्रांसिस फर्डिनेंड की हत्या

उधर आस्ट्रिया ने सर्बिया के जवाब को अस्वीकार करते हुए उस पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेना को तत्काल लामबंद हो जाने का आदेश दे दिया। आस्ट्रिया के सम्राट ने जर्मन सम्राट के नाम अपने पत्र में लिखा कि आस्ट्रिया "मेरे राजघराने और मेरे प्रदेशों के लिए इस स्थायी ख़तरे को" सदा के लिए समाप्त कर देने को कृतसंकल्प है। 28 जुलाई को आस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 29 जुलाई को आस्ट्रियाई सेना ने सर्बिया की राजधानी बेलग्रेड पर बमबारी की।

सर्बिया और ऑस्ट्रिया के बीच युद्ध आरंभ होने के शीघ्र बाद दो और लड़ाइयाँ छिड़ गईं और सैनिक दृष्टि से इन तीनों लड़ाइयों के आपस में जुड़ जाने से आम लड़ाई अथवा प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया। युद्ध बंद करने के लिए आस्ट्रिया पर दबाव डालने हेतु रूस ने उसके ख़िलाफ़ लामबंदी का आदेश जारी कर दिया। बाल्कन क्षेत्र में आस्ट्रिया का विस्तार हो, यह रूस को बर्दाश्त नहीं था। बाल्कन क्षेत्र में इसकी अपनी महत्वाकांक्षाएँ थीं और अगर सर्बिया हार जाता तो उसकी इन महत्वाकांक्षाओं पर पानी फिर सकता था। अगर रूस आस्ट्रिया के ख़िलाफ़ युद्ध में उतरता तो आस्ट्रिया की मदद में जर्मनी का आगे आना तय था। इसलिए रूस ने जर्मनी के ख़िलाफ़ भी लड़ाई की तैयारी शुरू कर दी। जर्मनी को विश्वास था कि यदि रूस के साथ उसकी लड़ाई हुई तो फ्रांस उसके ख़िलाफ़ रूस का साथ देगा। इसका मतलब यह होगा कि जर्मनी को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ेगा – पश्चिम में फ्रांस के ख़िलाफ़ और पूरब में रूस के विरुद्ध। इस लड़ाई में कामयाब होने के लिए जर्मनी ने एक त्वरित युद्ध में पहले फ़्रांस को हराने की योजनाएँ बनाईं और अपनी अधिकांश सेना को इसी उद्देश्य से लामबंद किया। इसके बाद उसका इरादा रूस की ओर मुड़ने का था और वह जानता था कि रूस पर जल्दी जीत नहीं हासिल हो पाएगी। इस प्रकार दूसरी लड़ाई एक ओर आस्ट्रिया और जर्मनी तथा दूसरी ओर रूस और फ़्रांस के बीच होने जा रही थी। ब्रिटेन की स्थिति अब भी अस्पष्ट थी, क्योंकि ब्रिटिश सरकार के युद्ध में शामिल होने के बारे में मतभेद था। जब फ्रांस ने उससे मदद माँगी तो जवाब में उसने वादा किया कि जर्मनी के ख़िलाफ़ उसके उत्तरी तट की वह रक्षा करेगा। लेकिन जर्मनी ने जब तटस्थ बेल्जियम पर आक्रमण कर दिया तो ब्रिटेन की दुविधा समाप्त हो गई और जर्मनी तथा ब्रिटेन के बीच लड़ाई छिड़ गई। इस प्रकार पिछले वर्षों के दौरान जो प्रतिद्वद्वी संधि-संबंध स्थापित किए गए थे वे अब अपना रंग दिखाने लग गए। केवल इटली ही, जो त्रिपक्षीय संधि संगठन (ट्रिपल एलायंस) का सदस्य था, तटस्थ रहा। उसका तर्क था कि जर्मनी चूँकि रक्षात्मक लड़ाई नहीं लड़ रहा है इसलिए उसकी मदद करने के लिए वह बाध्य नहीं है।

युद्ध का विस्तार

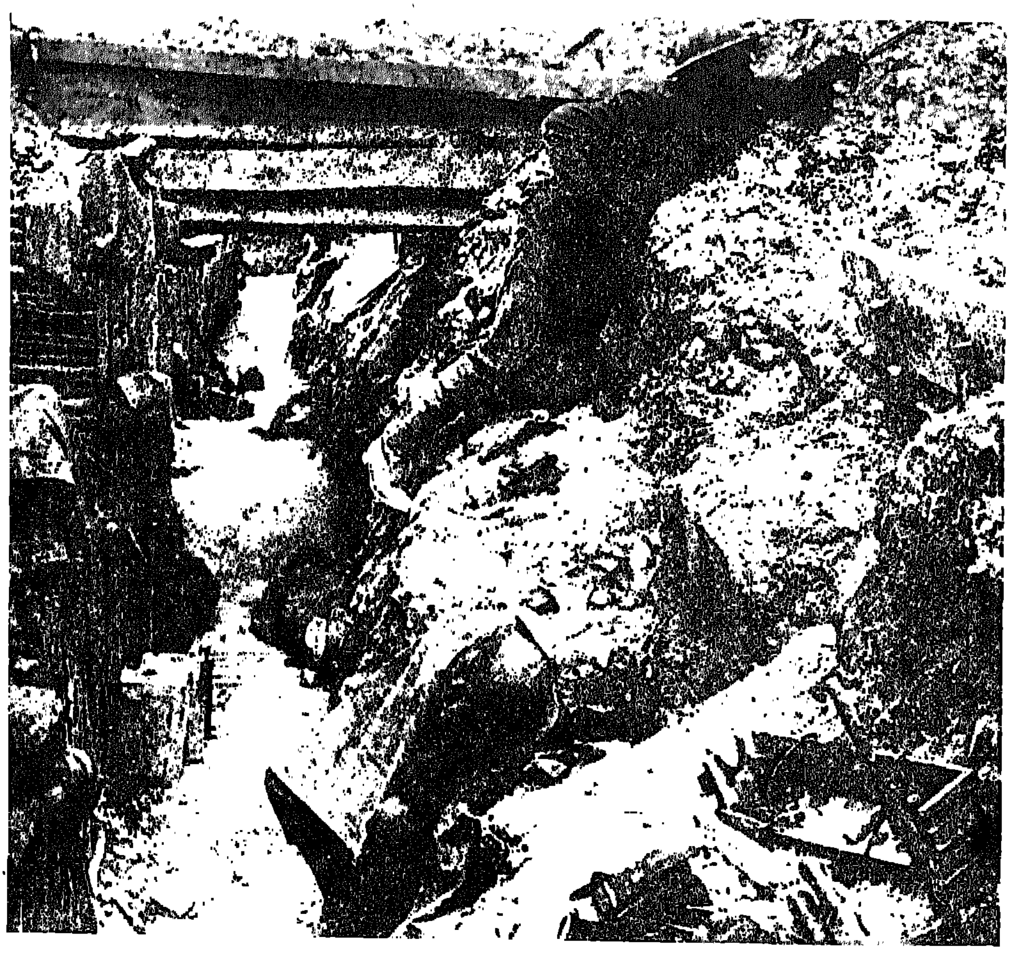
1 अगस्त 1914 को जर्मनी ने रूस के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा कर दी और 3 अगस्त को फ्रांस के विरुद्ध। 4 अगस्त को सुबह जर्मन सेना ने बेल्जियम में प्रवेश किया और उसी दिन आधी रात को इंग्लैंड ने जर्मनी के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया। इस बीच सर्बिया और आस्ट्रिया की लड़ाई– जिसके कारण जर्मनी, रूस, फ्रांस और ब्रिटेन जैसे बड़े देश युद्ध में जा फँसे थे – गौण होती जा रही प्रतीत हो रही थी। 6 अगस्त तक आस्ट्रिया की रूस के साथ लड़ाई नहीं थी और 12 अगस्त तक ब्रिटेन और फ्रांस के साथ भी नहीं थी। इस बीच दोनों पक्ष विभिन्न देशों को प्रादेशिक लाभ का लोभ देकर उन्हें अपने-अपने साथ लाने की कोशिश में लगे हुए थे। अगस्त में ही जापान ने जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा कर दी। उसने ब्रिटेन के साथ एक संधि की थी लेकिन उसका मुख्य लक्ष्य चीन और प्रशांत क्षेत्र में जर्मन प्रभाव वाले प्रदेशों को हथियाना था। पुर्तगाल भी, जिसे ब्रिटेन अक्सर अपना सबसे पुराना मित्र कहता था, लड़ाई में शामिल हो गया। मई 1915 में इटली ने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ब्रिटेन और फ्रांस ने उसे आस्ट्रिया और तुर्की के प्रदेश देने का वादा किया था। बाद में रोमानिया और यूनान (ग्रीस) भी ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के साथ हो लिए। अपने साथियों के साथ ये देश मित्र शक्तियों के रूप में विख्यात हुए। बुल्गारिया अक्तूबर में जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ शामिल हो गया। उसे सर्बिया तथा यूनान के प्रदेश देने का लोभ दिया गया था और तुर्की के कुछ इलाके दे भी दिए गए थे। नवंबर में तुर्की ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और वह जर्मनी तथा आस्ट्रिया की ओर से लड़ाई में शामिल

हो गया। जर्मनी और आस्ट्रिया तथा उसके मित्र देश केंद्रीय शक्तियों के रूप में प्रसिद्ध हुए। दुनिया के अन्य हिस्सों के भी कई देश लड़ाई में शामिल हो गए। अप्रैल 1917 में संयुक्त राज्य अमरीका मित्र शक्तियों की ओर से लड़ाई में शामिल हो गया। युद्धरत देशों की संख्या कुल मिलाकर सत्ताईस तक पहुँच गई। इनमें सभी महाद्वीपों के देश शामिल थे। इस प्रकार लड़ाई के क्षेत्र का विस्तार हुआ। इस लड़ाई के लिए लगभग 6.5 करोड़ सैनिकों को लामबंद किया गया था। इनमें से 4.2 करोड़ से अधिक मित्र-शक्तियों द्वारा लामबंद किए गए थे और 2.2 करोड़ से अधिक केंद्रीय शक्तियों द्वारा।

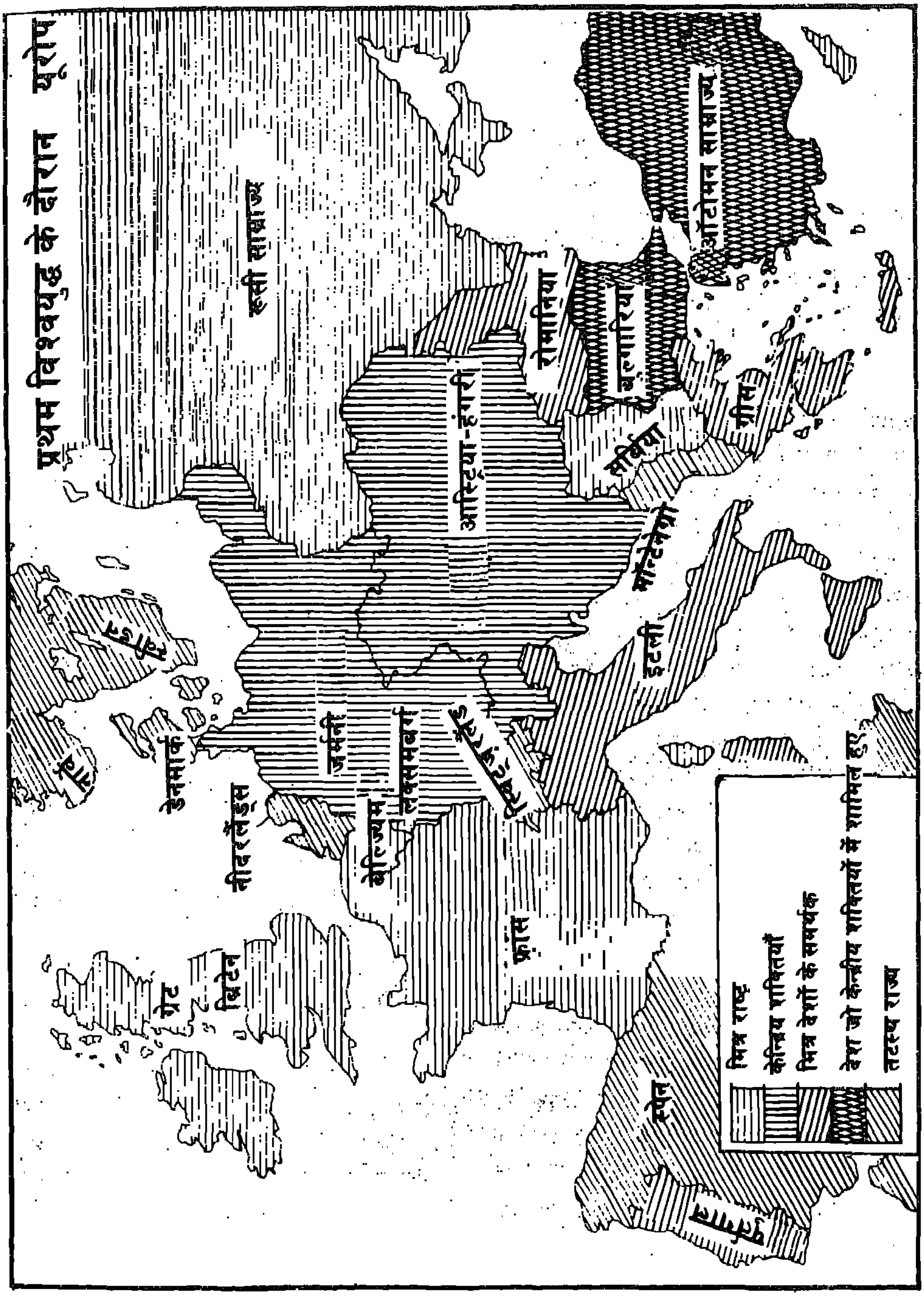
युद्ध के दौर का घटनाक्रम

यूरोपीय मोर्चों पर

प्रथम विश्व युद्ध की उपयुक्त संज्ञा से अभिहित इस युद्ध में विश्व के विभिन्न भागों में कई-कई लड़ाइयाँ लड़ी गईं। युद्ध की तीव्रता तथा नरसंहार की विराटता की दृष्टि से यूरोप में लड़ी गई लड़ाइयाँ दुनिया के दूसरे हिस्सों में लड़ी गई लड़ाइयों से बहुत अधिक भीषण थीं। यूरोप के पश्चिमी मोर्चे पर युद्ध की शुरुआत उस समय हुई जब जर्मन सेना ने



पश्चिमी मोर्चे की एक खंदक


प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान यूरोप
रूसी साम्राज्य
ऑटोमन साम्राज्य
रोमानिया
बल्गारिया
ऑस्ट्रिया-हंगरी
सर्बिया
ग्रीस
मॉन्टेनेग्रो
इटली
जर्मनी
लक्समबर्ग
स्विट्ज़रलैंड
बेल्जियम
नीदरलैंड्स
डेनमार्क
स्वीडन
नार्वे
ग्रेट ब्रिटेन
फ्रांस
स्पेन
पुर्तगाल
मित्र राष्ट्र
केन्द्रीय शक्तियाँ
मित्र देशों के समर्थक
देश जो केन्द्रीय शक्तियों में शामिल हुए
तटस्थ राज्य

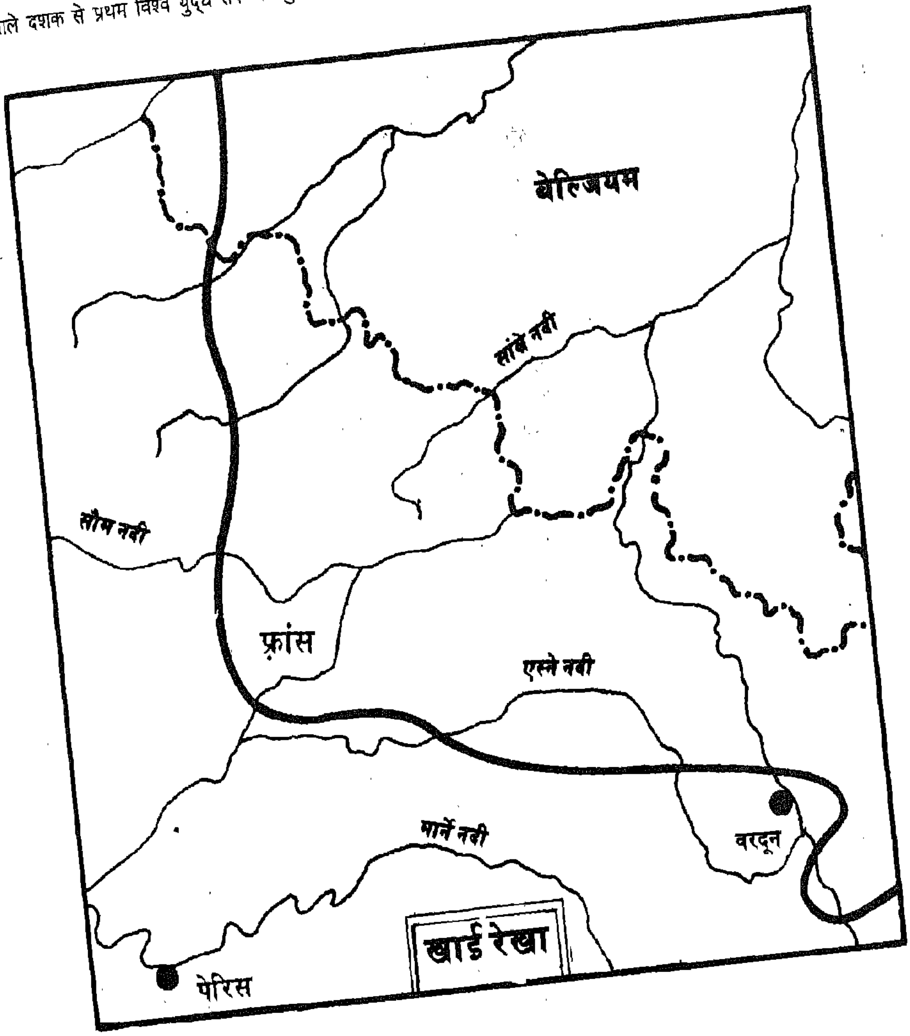
बेल्जियम को तेज़ी से लाँघते हुए दक्षिण फ्रांस में प्रवेश किया। सितंबर के आरंभ में जर्मन सेना पेरिस के बहुत पास तक पहुँच चुकी थी। इस बीच फ्रांसीसी सेना अलसास लोरेन में प्रवेश करने के इरादे से फ्रांस-जर्मनी सीमा पर पहुँच गई थी। जर्मन सेना को उम्मीद थी कि वह फ्रांसीसी सेना को घेर लेगी और आनन-फानन में जीत हासिल कर लेगी। अलसास लोरेन पर फ्रांसीसी आक्रमण को तो विफल कर दिया गया, लेकिन वापस लौटती फ्रांसीसी सेना ब्रिटिश सेना के साथ होकर मार्न की लड़ाई (यह लड़ाई मार्न नदी के निकट लड़ी गई थी, जिससे इसका नाम मार्न की लड़ाई पड़ा) में जर्मन सेना से भिड़ गई। दोनों पक्ष प्राण-प्रण से लड़े लेकिन नवंबर के अंत तक पश्चिमी मोर्चे पर गतिरोध पैदा हो गया। दोनों पक्ष चार वर्षों तक वहाँ डटे रहे लेकिन कोई किसी को अपने मोर्चे से पीछे नहीं हटा पाया। स्विट्ज़रलैंड से लगी फ्रांस की दक्षिणी सीमा से लेकर उसके उत्तरी तट तक सैकड़ों किलोमीटर की दूरी में दोनों ओर से खोदे गए खंदकों और कंटीले तार के बाड़ों के पीछे दोनों सेनाएँ मोर्चे लगाकर बैठ गईं। खंदकों के पीछे मशीनगनों और राइफ़लों की गोलीबारियों से सुरक्षा पा रही दोनों सेनाओं में से किसी से भी एक दूसरे की खंदकों की पंक्ति को भेदते नहीं बन रहा था। सूर्योदय से पहले दोनों पक्ष एक-दूसरे पर हमले करते थे, लेकिन कामयाबी किसी को नहीं मिल रही थी। अलबत्ता दोनों ओर हताहतों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही थी। 1915 में सफलता की आशा से जर्मनी ने ज़हरीली गैस का प्रयोग आरंभ किया और 1916 ई. में ब्रिटेन ने हाल में ही आविष्कृत हुए टैंक कहे जाने वाले युद्ध-वाहनों का इस्तेमाल शुरू किया। लेकिन दोनों में से किसी की भी किसी युक्ति का कोई ख़ास प्रभाव नहीं पड़ा। दोनों पक्ष के जितने सैनिक मर जाते थे उतने फिर नई भर्तियों से जुटा लिए जाते थे।

पूर्वी मोर्चे पर रूस ने जर्मनी तथा आस्ट्रिया के ख़िलाफ़ कुछ आरंभिक सफलता प्राप्त की लेकिन यह अल्पकालिक साबित हुई। 1915 में रूसी सेना को ज़बरदस्त शिकस्तें खानी पड़ीं और केंद्रीय शक्तियों की सेना रूसी साम्राज्य के कई प्रदेशों में प्रवेश कर गई। 1916 में रूस ने दूसरा हमला शुरू कर दिया जिसे विफल कर दिया गया। 1917 की अक्टूबर क्रांति के बाद रूस युद्ध से अलग हो गया। 2 मार्च 1918 को उसने जर्मनी के साथ ब्रेस्ट-लिटोवस्क की संधि पर हस्ताक्षर किए और इस शांति की कीमत के तौर पर उसे अपने अनेक प्रदेशों से हाथ धोना पड़ा। रूस द्वारा लामबंद किए गए कुल 1.2 करोड़ सैनिकों में से 17 लाख मारे जा चुके थे, 50 लाख घायल हो गए थे और लगभग 25 लाख या तो गुम हो गए थे या बंदी बना लिए गए थे। इस बीच सर्बिया और रोमानिया आत्मसर्पण कर चुके थे।

यूरोप से बाहर युद्ध का फैलाव

यूरोप से बाहर कुछ बड़ी लड़ाइयाँ उत्तर अफ़्रीका और पश्चिम एशिया में लड़ी गईं। जर्मनी और तुर्की ने साथ होकर मित्र-शक्तियों के उत्तर अफ़्रीका तथा पश्चिम एशिया स्थित औपनिवेशिक प्रदेशों तथा प्रभाव क्षेत्रों को ख़तरे में डाल दिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने इन प्रयत्नों का मुकाबला करते हुए उस्मानिया साम्राज्य के अरब प्रदेशों पर कब्ज़ा करने की कोशिश की। उन्होंने अरब राष्ट्रवादियों तथा अन्य तत्वों से संपर्क करके तुर्की के विरोध में अरबों को उकसाया और विद्रोह करने को प्रेरित किया। तुर्की शासन से अरब देशों की आज़ादी का समर्थन करने का दिखावा करते हुए ब्रिटेन और फ्रांस ने 1916 में साइक्स-पाईकॉट नामक गुप्त समझौते पर हस्ताक्षर किए। इसमें अरब देशों को इन दोनों शक्तियों के बीच बाँटने की व्यवस्था थी। 1917 में ब्रिटिश सरकार ने "फिलस्तीन में यहूदी लोगों के लिए स्वराष्ट्र की स्थापना के लिए" भी स्वयं को प्रतिबद्ध कर लिया। एक अन्य देश के बारे में, उसके नागरिकों से कोई बातचीत किए बिना, इस तरह ब्रिटेन का "प्रतिबद्ध" हो जाना पश्चिम एशिया की शांति तथा स्थायित्व के लिए एक भारी संकट साबित होने वाला था।

लड़ाई के दौरान एशिया तथा अफ़्रीका में जर्मन औपनिवेशिक क्षेत्रों को मित्र-शक्तियों ने छीन लिया। चीन में जर्मन प्रभाव क्षेत्र पर अपना वर्चस्व स्थापित करके जापान ने अपने औपनिवेशिक हितों को आगे बढ़ाया। उसने चीन को और रियायतें देने के लिए भी मजबूर किया।



दक्षिण-पश्चिम अफ़्रीका में जर्मन प्रदेशों पर दक्षिण अफ़्रीकी सेना ने कब्ज़ा कर लिया। टोगोलैंड पर ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी फ़ौजों ने अधिपत्य स्थापित कर लिया और कैमरून पर ब्रिटिश, फ्रांसीसी तथा बेल्जियमी सेनाओं ने। जर्मन पूर्व अफ़्रीका में ब्रिटिश तथा जर्मन फ़ौजों की लड़ाई युद्ध के अंत तक जारी रही।

यूरोप में युद्ध में गतिरोध

इस बीच यूरोप में लड़ाई चलती रही। इस लड़ाई को "वार ऑफ एट्रिशन" या "थका देने वाले युद्ध" के नाम से जाना जाता है। इसका मतलब यह था कि अधिक से अधिक सैनिकों को लामबंद करके तथा विशाल मात्रा में तोपख़ाने और अन्य हथियारों को इस्तेमाल करके दोनों पक्ष एक-दूसरे

आगे बढ़ो

प्राग के आस-पास जैसा था, यहाँ कुछ अलग रहा है, मौन भंग करने के लिए श्वेक ने कहा।

"हमारे वहां तो अब फ़सल कट चुकी होगी," वानेका बोला। "वहाँ कटाई पहले क्रालुपी क्षेत्र में होती है।"

"लड़ाई के बाद यहाँ बहुत अच्छी फ़सल होगी।" थोड़ी देर रुक कर श्वेक ने कहा। "लोगों को हड्डियों का चूरा नहीं ख़रीदना पड़ेगा। जब फ़ौज की पूरी रेजिमेन्ट की राख (भस्म) किसी खेत में फैल जाएगी तो वहाँ के किसानों को बहुत फ़ायदा होगा। मतलब यह कि यह जीविका का बहुत अच्छा साधन है। मुझे सिर्फ़ एक बात की फ़िक्र है। वह यह कि किसान किसी धोखे में आकर सिपाहियों की हड्डियों को चीनी बनाने के कारख़ानों में हड्डी के चारकोल के इस्तेमाल के लिए न बेच दें।"

कार्लिन की बैरकों में एक लैफ्टिनेन्ट था। उसका नाम था होलुब। वह इतना पढ़ा लिखा था कि उसे सब मूर्ख समझते थे। बात यह थी कि पढ़ाई लिखाई के कारण उसने सिपाहियों को गाली देना सीखा ही नहीं था। और हर बात को विद्वता के दृष्टिकोण से देखता था। एक बार सिपाहियों ने उससे शिकायत की कि फ़ौज की रोटी जो उन्हें दी गई है, वह खाने लायक नहीं है। उसकी जगह कोई और अफ़सर होता तो इस तरह की गुस्ताख़ी पर गुस्से से उन पर बरस पड़ता। वह बिल्कुल शांत रहा और उसने न किसी को सुअर और सुअर का बच्चा कहा और न किसी के थोपढ़े पर तमाचा ही मारा। उसने अपने सब सिपाहियों को बुलाया और उनसे अपनी मधुर आवाज़ में कहा, "मेरे जवानो, सब से पहले तुम्हें यह मालूम होना चाहिए कि बैरक कोई लज़ीज़ खानों की दुकान नहीं है जहाँ जाकर तुम अचार वाली ईल, सार्डीन या सैंडविच का आर्डर करो। हर सिपाही को इतनी अकल होनी चाहिए कि राशन में उसे जो भी दिया जाता है उसे खाए, बिना किसी शिकवे शिकायत के। उसमें इतना आत्मसंयम भी होना चाहिए कि जो कुछ भी उसे खाने को दिया जाता है, उसके बारे में वह अच्छे बुरे का सवाल न उठाए, उसे चुपचाप खा ले। मेरे जवानो, मान लो लड़ाई छिड़ जाए। मरने के बाद जिस ज़मीन में लड़ाई बन्द होने पर तुम्हें गाड़ा जाएगा, उस ज़मीन को इसकी बिल्कुल कोई फ़िक्र नहीं होगी कि मरने से पहले तुमने किस तरह की रोटी निगली थी। धरती माता तुम्हें सड़ा गला देगी और तुम्हें तुम्हारे बूटों समेत पचा जाएगी। वैसे इस दुनिया में कोई भी चीज़ पूरी तरह नष्ट नहीं होती। तुम्हारी राख में से, मेरे जवानो, नया अन्न पैदा होगा, इस अन्न से नए सिपाहियों के लिए रोटी बनाई जाएगी, सिपाही तुम्हारी तरह उस रोटी से संतुष्ट नहीं होंगे, वे शिकायत करेंगे और फिर कोई अफ़सर उन्हें जेल में डाल देगा हमेशा के लिए, क्योंकि ऐसा करने का उसको अधिकार है। अब, मेरे जवानो, मैंने हर बात तुम्हें अच्छी तरह साफ़-साफ़ समझा दी है। अब दुबारा याद दिलाने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए कि अब अगर कोई मेरे पास आया और शिकायत की तब कोई ख़ास किस्मत वाला ही बाद में यहाँ से ज़िंदा लौटेगा।" "काश कि वह कुछ गालियाँ देता", सिपाहियों ने एक दूसरे से कहा। लैफ्टिनेन्ट ने अपने भाषण में जिस नफ़ासत से बातें कहीं, वह उन्हें कतई पसंद नहीं आई। हमारी कंपनी के सिपाहियों ने एक बार मुझे यह ज़िम्मेदारी सौंपी कि मैं जाकर लैफ्टिनेन्ट को समझाऊँ कि हम सब उसे पसंद करते हैं लेकिन यह फ़ौज है, यहां सिपाहियों को गालियाँ न देना नहीं चलता। तो मैं उसके घर गया और उससे कहा कि आप यह सब अपनी नफ़ासत दूर रखिए। फ़ौज को लोहे की खूंटी की तरह सख़्त होना चाहिए और सिपाहियों को यह बात हर रोज़ याद दिलाने की ज़रूरत होती है कि वे सब हरामज़ादे और सुअर हैं। अगर ऐसा नहीं करें तो फिर अपने ऊँचे अफ़सरों के लिए उनकी इज़्ज़त कम हो जाती है। यह सब सुनकर पहले तो उसने अपने आपको सही साबित करने की कोशिश की, अकल से काम लेने की बात की और कहा कि वह ज़माना लद गया है जब डंडे के ज़ोर से सब कुछ होता था। फिर आख़िर में वह मेरी बात मान गया। उसने मेरे जबड़े पर एक घूँसा मारा और धक्के देकर मुझे घर से निकाल दिया। इस प्रकार उसने अपनी प्रतिष्ठा को परवान चढ़ाया। मैंने यह सब जब अपने साथियों को बतलाया तो वे बहुत खुश हुए। लेकिन अगले ही दिन उसने सारे किए कराए पर पानी फेर दिया। वह मेरे पास आया और सबके सामने ही बोला : श्वेक, कल मैं अपने आपे से बाहर हो गया था। ये लो पैसे और मेरे स्वास्थ्य की शुभकामना करते हुए पियो। अपने जवानों से कैसा बरताव करना चाहिए, यह सबको जानना ज़रूरी है।

[चैक लेखक जारोस्लाव हासेक के उपन्यास **द गुड सोल्जर श्वेक** का अंश]

खंदक में जीना, खंदक में मरना

एक सुबह दो तितलियाँ हमारी खंदक के सामने अठखेलियाँ करती नज़र आती हैं। वे गंध की तितलियाँ हैं, उनके पीले पंखों पर लाल रंग की बिंदियों जैसे निशान हैं। ये यहां क्या खोज रही होंगी ? यहां तो मीलों तक न तो कोई पेड़ पौधा है और न कोई फूल। वे एक खोपड़ी के दाँतों पर जा बैठती हैं। यहां पक्षी भी खूब निडर हो गए हैं। हर सुबह "नो मैन्स लैंड" से लार्क पक्षी आसमान में उड़ते हैं। साल भर पहले हमने उन्हें घोंसले बनाते देखा था। अब तो उनके बच्चे भी बड़े हो गए हैं।

हमारी खंदक में चूहों से कुछ राहत मिली है। वे "नो मैन्स लैंड" में हैं, हमें मालूम है किसलिए। वे खूब मोटे हो गए हैं। इन में से जब कोई नज़र आता है, तो उस पर हम निशाना लगाते हैं। रात को दुश्मन के मोर्चे के पीछे फिर गड़गड़ाहट सुनाई देती है। दिन भर तो साधारण गोलाबारी होती रहती है और हम अपनी खंदकों की मरम्मत कर लेते हैं। हमें मनोरंजन भी खूब मिलता है, हवाबाज़ों की इनायत से। हर रोज़ असंख्य हवाई लड़ाइयाँ होती हैं हमारे देखने के लिए।

लड़ाकू विमान हमें तंग नहीं करते, लेकिन प्रेक्षण विमानों से नफ़रत है, प्लेग की तरह। वे हम पर गोले बरसाते हैं और नज़र आने के एक-दो मिंटों बाद ही हमारे ऊपर गोले-बारूद की बौछार होने लगती है। इस तरह एक ही दिन में हमारे ग्यारह आदमी मारे जाते हैं। उनमें पाँच स्ट्रेचर ढोने वाले हैं। उनमें से दो तो इस तरह पिस जाते हैं कि जादेन के अनुसार उन्हें खंदक की दीवार से चम्मच से खुरच कर मैस के टीन में भर कर दफ़नाया जा सकता है। एक और के शरीर का निचला हिस्सा और उसकी टाँगें धड़ से अलग हो गए हैं। उसकी छाती खंदक की दीवार पर चिपक कर लटक रही है, चेहरा ज़र्द पड़ गया है। उसकी दाढ़ी में सिगरेट अब भी सुलग रही है और तब तक चमकती रहती है जब तक उसके होंटों में बुझ नहीं जाती।

मरे हुओं को हम गोला बारूद फटने से बने एक गड्ढे में रख देते हैं। अब तक वहाँ मरे लोगों की एक के ऊपर एक तीन तहें बन चुकी हैं।

अचानक गोलाबारी फिर शुरू हो जाती है। जल्दी ही हम फिर उठ कर बैठ जाते हैं, एक भयंकर तनाव में ग्रस्त और सुन्न।

हमला, जवाबी हमला, आगे बढ़ो, खदेड़ दो-ये शब्द हैं, लेकिन इनका मतलब क्या है ? हमारे बहुत से आदमी मारे जा चुके हैं, इनमें ज़्यादा तो नए भरती किये गए रंगरूट हैं। हमारे मोर्चे में फिर कुमुक भेजी गई है। यह एक नई रेजिमेंट है जिसमें पिछले साल भरती किए गए युवा शामिल हैं। उनको कोई ख़ास प्रशिक्षण भी नहीं दिया गया। बस कुछ किताबी ज्ञान देकर जंग में झोंक दिया गया है। यह सच है कि उन्हें यह तो मालूम है कि हथगोला क्या होता है, लेकिन खुद को कैसे बचाया जाए, इसके बारे में पता नहीं है और ख़तरे को पहचानने वाली नज़र नहीं है। खंदक के ऊपर ज़मीन की तह अगर 18 इंच ऊंची नहीं हो तो उन्हें दिखाई नहीं देती।

हमें कुमुकों की ज़रूरत तो रहती है लेकिन युवा रंगरूटों से तो हमारी मुसीबतें बढ़ती हैं, उनसे फ़ायदा कम होता है। इस घमासान लड़ाई वाले क्षेत्र में वे बिल्कुल असहाय हैं और मक्खियों की तरह मारे जाते हैं। इस समय जो लड़ाई का तरीका है अपनी चौकी से लड़ने का, उसके लिए जानकारी और अनुभव दोनों की ज़रूरत है। उसके लिए ज़मीन की ऊँचाई-नीचाई को पहचानने की अनुभूति होनी चाहिए, गोला बारूद की किस्म को और आवाज़ की पहचानने के लिए कान चाहिएं, उसके लिए यह अंदाज़ा लगाने की योग्यता चाहिए कि बम के गोले कहाँ गिरने वाले हैं, वे कैसे फटेंगे और उनसे कैसे बचा जाए।

युवा रंगरूटों को तो यह सब कुछ मालूम नहीं हैं। वे मारे जाते हैं सीधा इस कारण से कि उनको श्रेपनेल और विस्फोटक बम में फरक ही मालूम नहीं। वे सीधा मौत के मुँह में चले जाते हैं क्योंकि वे दूर कोयले के बक्सों के गिरने के धमाकों को सुनते रहते हैं लेकिन नीचे बिखरते हुए छोटे छोटे डेसीकटर नामक विस्फोटकों की हल्की सीटियों को नहीं सुन पाते। इधर उधर बिखरने की बजाए वे भेड़ों के झुंड की तरह एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं, और उनमें से घायलों को भी हवाबाज़ खरगोशों की तरह गोली से उड़ा देते हैं।

उनके शलगम जैसे ज़र्द चेहरे, उनकी दयनीय बंद मुट्ठियाँ, उन बेचारों का दुर्दमनीय साहस, उनके अंधाधुंध हमले और धावा बोलने की कोशिशें, वे बेचारे इतने भयभीत रहते हैं कि ज़ोर से चीखने से भी डरते हैं। वे क्षत-विक्षत सीना और चिथड़े हुए पेट और हाथ पैर लिए केवल कराहते हैं और अपनी मां के लिए बिलखते हैं लेकिन कोई देख ले तो चुप हो जाते हैं।

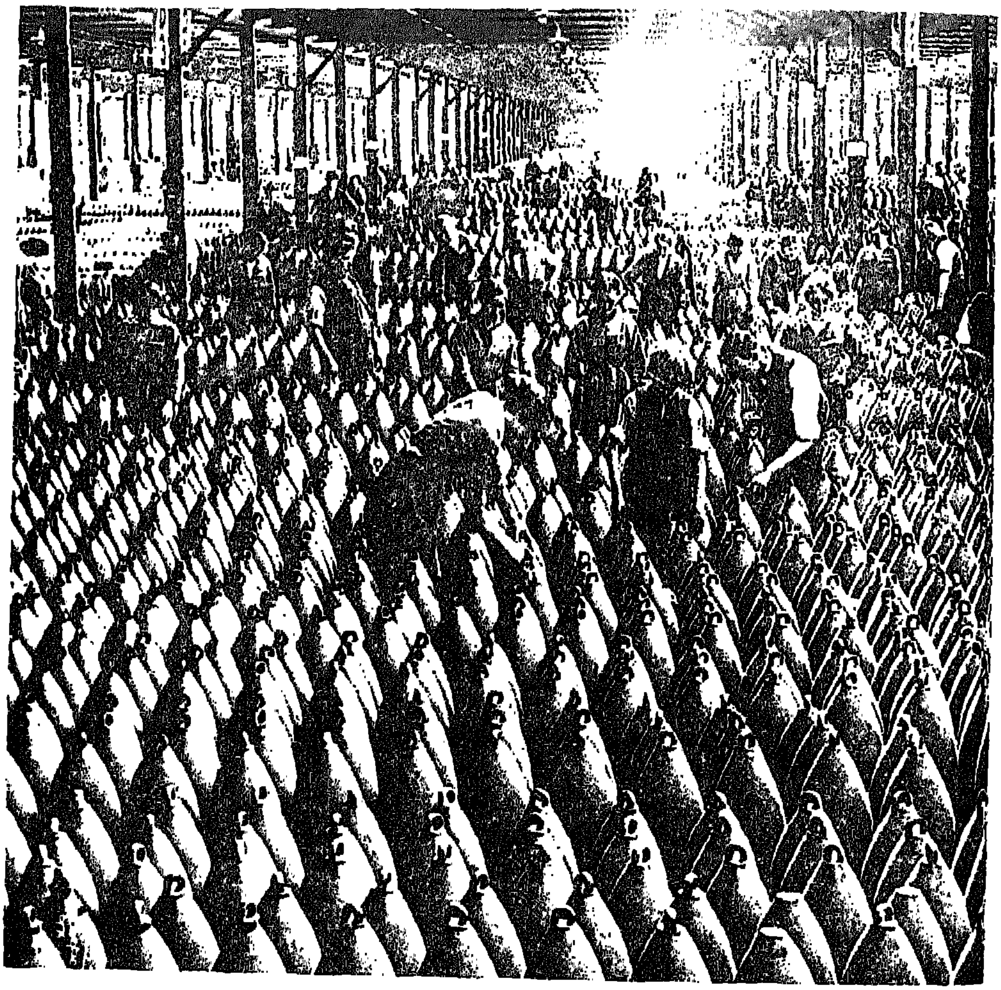
उनके तेज़ नाक-नक्श वाले कोमल मृत चेहरों पर वही डरावनी भावविहीनता होती है जो मृत बच्चों के चेहरों में होती है।

उनको जाते और फिर भागते और गिरते देख कर गला रुँध जाता है। वे इतने बेवकूफ़ हैं कि जी चाहता है कि उनको तमाचा लगाएं और हाथ पकड़ कर यहाँ से दूर छोड़ आएँ-यहाँ उनका कोई काम नहीं है और यह जगह उनके लिए नहीं है। वे भूरे रंग के बड़े बड़े कोट, पैंट और बूट पहने होते हैं लेकिन यह फ़ौजी वर्दी ज़्यादातर के लिए बहुत बड़ी होती है। उनकी वर्दी उनके बाजुओं से लटकती रहती है। उनके कंधे छोटे-छोटे हैं और शरीर दुबले। उनके बच्चों जैसे शरीर के नाप के मुताबिक कभी कोई वर्दी नहीं सिलाई गई।

हर अनुभवी सिपाही के मुकाबले में पाँच से दस तक रंगरूट मारे जाते हैं।

जब ज़हरीली गैस से हमला होता है तो उनमें से बहुत सारे ढेर हो जाते हैं। ज़हरीली गैस के हमले के वक्त अपने बचाव के लिए क्या करना चाहिए, यह उन्होंने अब तक नहीं सीखा। एक खाई उनसे भरी पड़ी थी – उनके सिर नीले और होंठ काले पड़ गए थे। उनमें से कुछ ने गोलों के फटने से बने गड्ढों में जाकर अपने मास्क ज़्यादा जल्दी उतार दिये थे। उन्हें यह मालूम ही नहीं था कि गड्ढों में गैस सबसे ज़्यादा देर तक रहती है। उन्होंने ऊपर के लोगों को जब अपने मास्क उतारते देखा तो अपने मास्क भी उतार दिए और इससे इतनी गैस अंदर चली गई कि उनके फेफड़े ज़हरीली गैस से जल गए। उनकी हालत निराशाजनक है। रक्त-स्राव और दम घुटने से वे मरते रहते हैं।

[जर्मन लेखक एरिक मारिया रिमार्क के उपन्यास **ऑल क्वाइट ऑन द वेस्टर्न फ्रंट** का एक अंश]



ब्रिटिश बम फैक्टरी

को थका कर मैदान से हटा देने की कोशिश कर रहे थे। इस "थका देने वाले युद्ध" के दौर में दो महाविनाशकारी लड़ाइयाँ लड़ी गईं। फ़रवरी 1916 में जर्मनी ने वरदून के फ़्रांसीसी गढ़ पर भारी हमला कर दिया। जवाब में फ़्रांसीसियों ने लाखों सैनिकों को इस लड़ाई में झोंक दिया। यह लड़ाई युद्ध-संबंधी गतिरोध दूर करने में तनिक भी सहायक नहीं हुई, जबकि इसमें लगभग सात लाख सैनिक हताहत हुए-दोनों ओर लगभग बराबर-बराबर संख्या में। दूसरी थी सोम की लड़ाई, जिसके सोम नदी के तट पर लड़े जाने से इस लड़ाई का यह नाम पड़ा। यहाँ मित्र-शक्तियों की सेनाओं में मुख्य रूप से ब्रिटेन की ही सेना लड़ रही थी और उसी ने यह आक्रमण आरंभ किया था। इस लड़ाई के पहले ही दिन लगभग 60 हज़ार ब्रिटिश सैनिक हताहत हुए।

नाकेबंदी की नीति

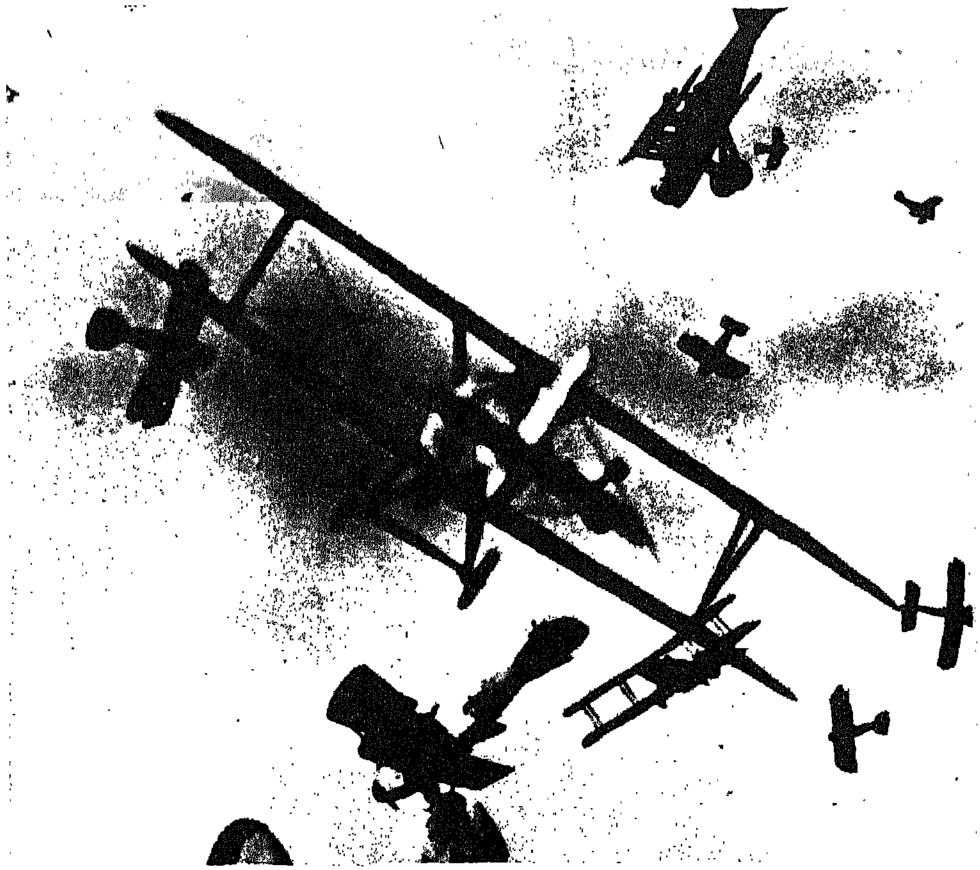
यह युद्ध एक संपूर्ण युद्ध का रूप ले चुका था। सच पूछिए तो यह सेनाओं के बीच होने वाली लड़ाइयों तक ही सीमित नहीं रहा गया था। इसके लिए प्रमुख युद्धरत राष्ट्रों के संपूर्ण संसाधनों की लामबंदी की ज़रूरत थी। अधिकाधिक परिमाण में गोला-बारूद तथा अन्य युद्ध सामग्री का उत्पादन आवश्यक हो गया। इसके लिए युद्धरत राष्ट्रों की उत्पादन-प्रकृति को नया रूप देना पड़ा। हर आर्थिक कार्यकलाप को युद्ध-प्रयत्न के लिए सहायक बनाना था। इसके लिए यह भी ज़रूरी था कि खाद्य सामग्री, कच्चा माल या युद्ध सामग्री अथवा किसी भी प्रकार का माल कहीं से भी शत्रु देश में न पहुँचने दिया जाए। दोनों में से हर पक्ष सोचता था कि ऐसा करके, यानी इस तरह की आर्थिक नाकेबंदी द्वारा, वह दूसरे पक्ष को भूख और अभाव की स्थिति में डाल कर उससे समर्पण करा लेगा। ब्रिटेन ने जर्मनी की नौसैनिक नाकेबंदी कर दी। यद्यपि इन दोनों देशों के नौसैनिक बेड़े सिर्फ़ एक लड़ाई लड़े, सो भी अनिर्णीत, फिर भी ब्रिटेन जर्मनी की नाकेबंदी करने में कामयाब हो गया। खद्य सामग्री तथा अन्य वस्तुओं को ब्रिटेन पहुँचने से रोकने के लिए जर्मनी ने ब्रिटेन की ओर जाने वाले जहाज़ों को डुबाने के लिए पनडुब्बियों (यू-बोट, जिसे जर्मन में उंटरसीबूट कहते थे) का इस्तेमाल करना शुरू किया, जिनका विकास उसने हाल में किया था। यहाँ तक कि ब्रिटेन की ओर जाने वाले तटस्थ देशों के जहाज़ों को भी वह नहीं बख़्शता था। जिन कारणों से संयुक्त राज्य अमरीका मित्र-शक्तियों की ओर से युद्ध में उतरा, उनमें से एक यह भी था।

लड़ाई में विमानों का प्रयोग भी आरंभ हो गया, और यद्यपि शहरों पर हवाई जहाज़ों से बमबारी की गई और जर्मन तथा मित्र-शक्तियों के विमानों के बीच आकाश में आमने-सामने की या सकल लड़ाइयाँ हुईं, तथापि इस युद्ध के परिणाम का निर्णय करने में हवाई लड़ाइयों की कोई ख़ास भूमिका नहीं रही।

युद्ध का अंत

अक्तूबर क्रांति के बाद रूस युद्ध से हट गया था और उसे जर्मनी के साथ एक अपमानजनक संधि करने पर विवश कर दिया गया था। लेकिन मित्र शक्तियों तथा केंद्रीय शक्तियों के बीच के युद्ध का निर्णय पूर्वी मोर्चे की बजाए अन्यत्र होना था। मित्र-शक्तियों को रूस के हटने से जो नुकसान हुआ था उसकी पूरी भरपाई संयुक्त राज्य के युद्ध में उतरने से हो गई थी। युद्ध आरंभ होने के शीघ्र बाद से ही संयुक्त राज्य मित्र-शक्तियों का गोला-बारूद, खाद्य सामग्री आदि से तरह-तरह का साथ दे रहा था जिससे उसकी अर्थव्यवस्था की खूब तरक्की हुई थी। अब संयुक्त राज्य की सेना तथा विशाल आर्थिक संसाधनों का सीधा उपयोग केंद्रीय शक्तियों को हराने के लिए किया जाने वाला था।

इस बीच सभी प्रमुख युद्धरत देशों की नागरिक आबादी तथा सैनिकों में असंतोष की आग सुलग रही थी। प्रदर्शनों और सैनिक विद्रोहों का सिलसिला शुरू हो गया था। रूसी सम्राट पहले ही सिंहासनच्युत हो चुका था। केंद्रीय शक्तियों के नाम से जाने जाने वाले देशों में असंतोष काफ़ी अधिक व्यापक था। जर्मनी तथा आस्ट्रिया-हंगरी में एक के बाद एक अनेक हड़तालें हुईं। इसके अलावा उनकी थल सेनाओं और नौसेनाओं में भी कई विद्रोह हुए। आस्ट्रिया-हंगरी में "अधीनस्थ राष्ट्रों" के सैनिकों ने बड़े पैमाने पर सेना छोड़कर भागना शुरू कर दिया। उनमें से बहुत-से सैनिक तो मित्र शक्तियों की ओर से लड़ने लगे। जुलाई 1918 के मध्य से युद्ध का रुख़ जर्मनी के ख़िलाफ़ जाने लगा था। जर्मनी में पश्चिमी मोर्चे पर कई आक्रमण करके मित्र शक्तियों को भारी नुकसान पहुँचाया था। लेकिन जुलाई महीना आते-आते



जर्मन तथा मित्र राष्ट्रों के हवाई जहाज़ों के बीच "डॉग फ़ाइट"

इसके आक्रमणों को रोक दिया गया और मित्र शक्तियों ने प्रत्याक्रमणों का सिलसिला शुरू कर दिया। इस बीच मित्र शक्तियों की सेनाएँ रूस में भी हस्तक्षेप करने लगी थीं। पूर्व में हज़ारों जापानी सैनिक साइबेरिया में घुस गए। हस्तक्षेप का यह दौर तो युद्ध की समाप्ति के बाद तक चला, लेकिन इस बीच केंद्रीय शक्तियों की हार का आरंभ हो गया था।

29 सितंबर 1918 को बुल्गारिया ने आत्मसमर्पण कर दिया। अक्टूबर के अंत तक उस्मानिया साम्राज्य के अस्तित्व का भी अंत हो गया। आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य की अधिकांश जातियाँ - जैसे चेक, पोल, युगोस्लाव तथा हंगेरियाई - अपनी-अपनी आज़ादी की घोषणा कर चुके थे। अब केवल जर्मनी ही बच रहा था। उस पर मित्र-शक्तियों के निर्णायक आक्रमण सितंबर में आरंभ हो गए। 3 नवंबर को जर्मनी में क्रांति भड़क उठी। 9 नवंबर को जर्मन सम्राट ने सिंहासन त्याग दिया और भाग कर हालैंड चला गया। 10 नवंबर को जर्मनी को गणतंत्र घोषित कर दिया गया। 11 नवंबर 1918 को जर्मनी की नई सरकार ने युद्ध विराम संधि पर हस्ताक्षर कर दिए और 11 नवंबर को दिन के 11 बजे प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हो गया।

युद्ध में भीषण नर-संहार हुआ। जो 6.5 करोड़ सैनिक लामबंद किए गए थे उनमें से कोई 90 लाख खेत रहे थे और 2.2 करोड़ घायल हुए थे। इस महाविनाश के सही स्वरूप को समझने और यूरोपीय समाजों पर इसके भीषण दुष्परिणामों का अंदाज़ा लगाने के लिए यह याद रखना चाहिए कि मरने और "शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टियों से ज़ख़्मी होकर" जीने वालों में से अधिकांश यूरोपीय समाजों के "ताज़ा खिले फूल" थे – 19 से 35 साल की उम्र के युवा लोग। एरिक मारिया रिमार्क ने, जो जर्मन सेना में भरती होने को विवश कर दिया गया था, एक उपन्यास प्रकाशित किया जिसके अंग्रेजी अनुवाद का शीर्षक है–*ऑल क्वाइट ऑन द वेस्टर्न फ्रंट* (पश्चिमी मोर्चे में नीरव शांति)। इस उपन्यास के समर्पण-पृष्ठ पर यह वक्तव्य है : "यह पुस्तक न तो किसी पर किसी प्रकार का दोषारोपण है और न अपराध-स्वीकरण। यह साहसिक गाथा तो बिल्कुल नहीं है क्योंकि जो लोग मृत्यु का सामना बिल्कुल आमने-सामने से करते हैं उनके लिए मृत्यु कोई साहसिक कृतित्व नहीं होती। इसमें सिर्फ़ उन मानवों की एक पीढ़ी के बारे में बताने की कोशिश की जाएगी जो गोलों की मार से भले बच गए हों, लेकिन युद्ध से तबाह हो गए।"

रूसी क्रांति

रूस में क्रांतिकारी आंदोलन

युद्ध के वर्षों के दौरान

युद्ध के दौरान रूस में क्रांति हुई। यह क्रांति एक महान ऐतिहासिक घटना थी। रूसी इतिहास के कुछ पहलुओं और घटनाओं, जैसे रूसी औपनिवेशिक साम्राज्य, उसकी राज्य-व्यवस्था के निरंकुश स्वरूप, उसकी अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन, जापान के हाथों उसकी पराजय, यूरोप के अंदर ख़ास तौर से बाल्कन राज्यों में चलने वाले झगड़ों में उसकी भूमिका तथा युद्ध में उसके प्रवेश का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उन्नीसवीं सदी में कई सुधारवादी तथा क्रांतिकारी आंदोलन हुए जिनमें रूसी किसानों के असंतोष की अभिव्यक्ति हुई। 1861 में कृषिदासता के उन्मूलन के बावजूद वहाँ के किसान दुख-दैन्य का जीवन व्यतीत कर रहे थे। रूसी सामंतवर्ग तथा चर्च बड़ी-बड़ी जागीरों के मालिक थे, और दूसरी ओर करोड़ों किसान ऐसे थे जिनके पास अपनी कोई ज़मीन-जायदाद नहीं थी। औद्योगीकरण आरंभ होने के साथ उभरने वाला औद्योगिक श्रमिकों का नया वर्ग भी ग़रीबी और अभाव के बीच जी रहा था। रूस के आम लोग तो उसकी तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध थे ही, मध्य वर्ग तथा बुद्धिजीवी लोग भी निरंकुश राज्य-व्यवस्था का विरोध करने में एकजुट हो गए थे और वे भी किसानों की ही तरह क्रांतिकारी आंदोलनों की ओर आकृष्ट हुए।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण से रूस में समाजवादी (सोशलिस्ट) विचार फैलने लगे थे और उस दौरान कई समाजवादी समूहों का गठन किया गया था। 1898 में विभिन्न समाजवादी गुटों ने मिलकर रूसी समाजवादी लोकतांत्रिक श्रमिक दल (सोशल डेमोक्रैटिक लेबर पार्टी) का गठन किया। लेनिन के नाम से विख्यात व्लादिमीर इलिच उलियानोव इस दल के वाम पक्ष के नेता थे। 1903 में इस गुट ने दल में बहुमत प्राप्त कर लिया। यह बहुमत दल बोलशेविक नाम से प्रसिद्ध हुआ, जबकि अल्पमत दल को मेनशेविक कहा जाता था। बोलशेविकों ने समाजवाद की स्थापना को अपना लक्ष्य बताते हुए यह संकल्प किया कि उनका तात्कालिक कार्य निरंकुश ज़ारशाही को समाप्त करके एक गणतंत्र की स्थापना करना तथा रूसी साम्राज्य के ग़ैर-रूसी राष्ट्रीयता वाले लोगों के शोषण को ख़त्म करके उन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार दिलाना है। आठ घंटे का कार्य-दिवस आरंभ कराना तथा भूमि के वितरण से संबंधित असमानता को मिटाना और किसानों के सामंती शोषण को उन्मूलित करना भी इस संकल्प के अंग थे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, 1905 में रूस में एक क्रांति हुई जिसके फलस्वरूप ज़ार द्वितीय निकोलस को ड्यूमा नामक संसद की स्थापना करने तथा लोगों को कुछ अन्य लोकतांत्रिक अधिकार देने पर विवश होना पड़ा। इस दौर में श्रमिकों के एक नए प्रकार के संगठन का जन्म हुआ था जिसे 'सोवियत' कहा जाता था। यह हड़तालों का संचालन करने के लिए स्थापित श्रमिकों के प्रतिनिधियों की संस्था थी। आगे चलकर किसानों की सोवियतों का भी गठन किया गया। बाद में सैनिकों की सोवियतें बनाई गईं। धीरे-धीरे पूरे देश में सोवियतें स्थापित हो गईं। बाद में इन सोवियतों ने रूसी क्रांति में एक निर्णायक भूमिका निभाई।

फ़रवरी क्रांति

1905 की क्रांति रूस से निरंकुशता को नहीं मिटा पाई। ड्यूमा तो अपनी जगह कायम थी, लेकिन रूस में वास्तविक सत्ता ज़ार, रूसी सामंतों और भ्रष्टाचारी अधिकारी वर्ग के हाथ में थी। रूस अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए युद्ध में शामिल हुआ था। लेकिन अकुशल तथा भ्रष्ट रूसी सरकार आधुनिक युद्ध को चलाए रखने में असमर्थ थी। इस युद्ध ने रूस की तत्कालीन व्यवस्था का दिवालियापन साबित कर दिया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप निरंकुश तंत्र का संकट और भी घनीभूत हो गया और अंत में यही उसके पतन का कारण बना। रूस ने 1.2 करोड़ सैनिकों को लामबंद किया था, लेकिन उन्हें न ठीक साज़-सामान मिलता था और न रसद-पानी। युद्ध में रूसी हताहत, ज़ख़्मी हुए और बन्दी बनाए गए सैनिकों का पहले वर्णन किया जा चुका है। रूस की कमज़ोर अर्थव्यवस्था को युद्ध ने और भी जर्जर बना दिया था। इसने बढ़ती हुई अशांति की आग में घी का काम किया। देश के सामने भुखमरी की भयावहता उपस्थित हो गई थी। यहाँ तक कि देश की राजधानी पेट्रोग्राड (पहले का सेंट पीटर्सबर्ग जो बाद में लेनिनग्राड कहलाया और अब फिर सेंट पीटर्सबर्ग कहा जाता है) की बीस लाख की आबादी भी इससे नहीं बची। रोटी की कमी हो जाने के कारण उसके ख़रीदारों की लंबी-लंबी कतारें लगने लग गई थीं। 1917 के आरंभ से एक के बाद एक कई हड़तालें हुई जिन्होंने अंत में आम हड़ताल का रूप ले लिया। युद्ध और ज़ारशाही समाप्त करने, की माँग ज़ोर पकड़ती गई। 12 मार्च को सेना की कई रेजिमेंटें हड़ताल में शामिल हो गईं। उन्होंने राजनीतिक बंदियों को आज़ाद कर दिया और ज़ारशाही जनरलों और मंत्रियों को गिरफ़्तार कर लिया। शाम होते-होते पेट्रोग्राड विद्रोही श्रमिकों तथा सैनिकों के हाथों में आ चुका था। 12 मार्च 1917 की इन घटनाओं के साथ फ़रवरी क्रांति संपन्न हुई। इसे यह संज्ञा इसलिए दी गई कि रूस के पुराने पंचांग के अनुसार वह दिन 27 फरवरी था। उस समय ज़ार राजधानी से बाहर था। उसने विद्रोहियों को दबाने और ड्यूमा को भंग कर देने का आदेश जारी किया। लेकिन ड्यूमा ने सत्ता अपने हाथों में ले लेने का निर्णय किया और 15 मार्च को उसने एक अस्थायी सरकार की घोषणा कर दी। उसी दिन ज़ार को गद्दी छोड़ने पर विवश किया गया और उसके निरंकुश शासन का अंत हो गया। रूस को कुछ महीने बाद सितंबर में गणतंत्र घोषित कर दिया गया।

ज़ारशाही के अंत का पूरी दुनिया ने स्वागत किया। लेकिन जिन समस्याओं के कारण ज़ारशाही का पतन हुआ था उनमें से किसी को भी हल करने में अस्थायी सरकार कामयाब नहीं हो पाई। युद्ध को जारी रखने की नीति कायम रही और भूमि-वितरण की समस्या के समाधान के लिए कुछ भी नहीं किया गया। सिर्फ़ बोलशेविक दल ही ऐसा था जिसके पास एक स्पष्ट कार्यक्रम था। पहले बताया जा चुका है कि लेनिन तथा मारतोव, इन दो रूसी समाजवादियों ने द्वितीय अंतर्राष्ट्र (सेकेंड इंटरनेशनल) के प्रस्ताव के इस हिस्से का मसविदा तैयार किया था जिसमें श्रमिकों का इस बात के लिए आह्वान किया गया था कि यदि युद्ध छिड़े तो उससे उत्पन्न संकट का लाभ उठाकर वे उस व्यवस्था को उखाड़ फेंकें जो युद्ध लाने के लिए ज़िम्मेदार थी। बोलशेविक हमेशा युद्ध का विरोध करते रहे। ड्यूमा में पाँच बोलशेविक सदस्य थे। युद्ध छिड़ा तो उन्होंने उसका विरोध किया। उन्हें गिरफ़्तार करके देश-निकाला दे दिया गया। जब फ़रवरी क्रांति हुई उस समय लेनिन ज़्यूरिख (स्विट्ज़रलैंड) में थे। उन्होंने कहा, यह किसी भी अर्थ में क्रांति की अंतिम विजय नहीं है, बल्कि आरंभिक जीत है। उन्होंने घोषणा की कि "केवल एक ऐसी श्रमिक सरकार ही जनता को शांति, रोटी और पूर्ण स्वतंत्रता दे सकती है जिसका दारोमदार अव्वल तो कृषक आबादी, कृषि मज़दूरों और ग़रीब किसानों के विशाल बहुमत पर हो और दूसरे, सभी युद्धरत देशों के क्रांतिकारी श्रमिकों के गठजोड़ पर हो।"

अक्टूबर क्रांति

फ़रवरी क्रांति के समय श्रमिकों तथा सैनिकों के प्रतिनिधियों की पेट्रोग्राड सोवियत का गठन किया गया था जो तेज़ी से बदलती हुई परिस्थिति में सबसे महत्वपूर्ण शक्ति बन गई थी। अप्रैल 1917 में पेट्रोग्राड पहुँचने पर लेनिन ने जनता को संबोधित करते हुए कहा – "जनता को शांति चाहिए, जनता को रोटी चाहिए, जनता को ज़मीन चाहिए। लेकिन वे देते क्या हैं ? युद्ध और भूख, रोटी नहीं। उन्होंने भूमिपतियों को भूमि पर कायम रखा है।" उन्होंने जनता से स्पष्ट शब्दों

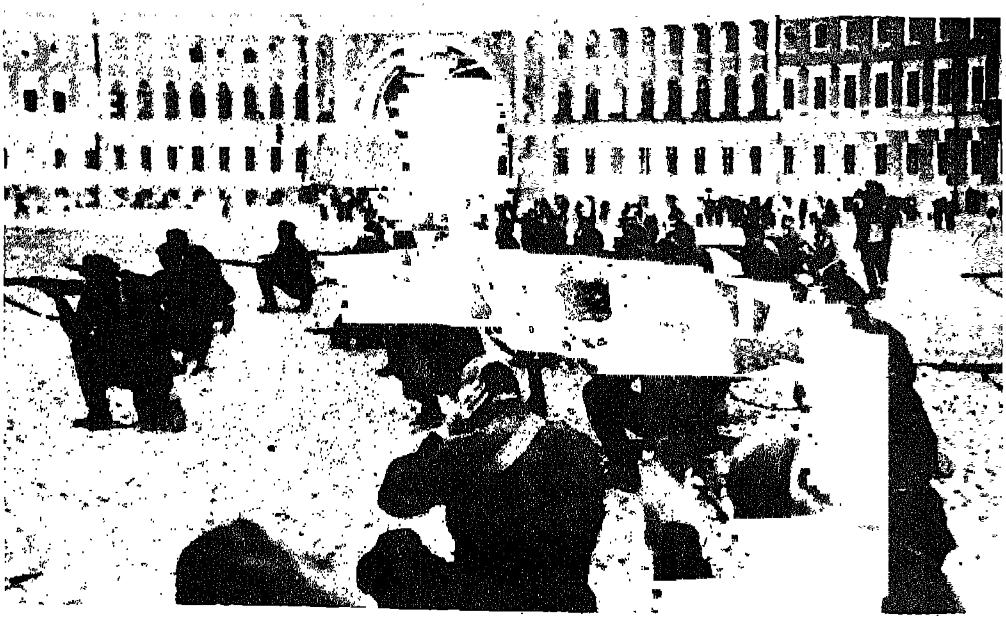
में कहा : अस्थायी सरकार को कोई समर्थन मत दो। सारी सत्ता सोवियतों के हाथों में आनी चाहिए। इस समय अस्थायी सरकार पर एक और भी ख़तरा आ गया था। जनरल कार्निलोव अपनी तानाशाही स्थापित करने के इरादे से विद्रोह कर बैठा था। लेकिन श्रमिक तथा सैनिक क्रांति की रक्षा करने के लिए उठ खड़े हुए और उन्होंने जनरल के मंसूबों को नाकाम कर दिया। इस समय अस्थायी सरकार का प्रधान अलेक्ज़ैंडर केरेंस्की था। उसके विचार उदार तथा लोकतांत्रिक थे। लेकिन रूसी सरकार युद्ध आरंभ होने के समय से ही जिन नीतियों का अनुसरण कर रही थी उनमें कोई परिवर्तन करने में वह विफल रहा और उसने स्वयं को बिल्कुल प्रभावहीन साबित कर दिया। उसे कहीं से कोई समर्थन नहीं मिल रहा था।



एक बैठक को संबोधित करते हुए लेनिन। नीचे दाहिनी तरफ़ ट्राट्स्की खड़े हैं।

अक्तूबर में बोलशेविकों ने विद्रोह की योजनाबद्ध तैयारी की। 25 अक्तूबर को श्रमिकों तथा सैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस की बैठक बुलाई गई। अस्थायी सरकार का तख़्ता पलटने के लिए नियोजित विद्रोह इस कांग्रेस के समय ही किया जाने वाला था। पेट्रोग्राड में 25 अक्तूबर के सवेरे विद्रोह आरंभ हुआ और कुछ ही घंटों में नगर के लगभग सभी महत्वपूर्ण स्थानों पर बोलशेविकों के नेतृत्व में क्रांतिकारी सैनिक तथा श्रमिक काबिज़ हो गए। प्रात: 10 बजे "रूस के नागरिकों के नाम" लेनिन का संदेश प्रसारित किया गया। उसमें कहा गया, "अस्थायी सरकार को अपदस्थ कर दिया गया है।... लोकतांत्रिक शांति की अविलंब स्थापना, भूस्वामित्व की समाप्ति, उत्पादन पर श्रमिकों के नियंत्रण और सोवियत सत्ता की प्रतिष्ठापना के जिस उद्देश्य से लोगों ने संघर्ष किया है, वह उद्देश्य पूरा हो गया है।" (इस घटना की तिथि पुराने रूसी पंचांग के अनुसार 25 अक्तूबर थी, इसीलिए इसे अक्तूबर क्रांति कहते हैं। वैसे यह घटना वस्तुत: 7 नवंबर को हुई थी।) रात के 10 बजकर 40 मिनट पर श्रमिकों तथा सैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस की बैठक आरंभ हुई। लगभग उसी समय अस्थायी सरकार के मुख्यालय विंटर पैलेस पर हमला शुरू हुआ। अगले दिन (पुराने पंचांग के अनुसार 26 अक्तूबर को) रात के 1 बजकर 50 मिनट पर विंटर पैलेस पर कब्ज़ा कर लिया गया और अस्थायी सरकार के सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया गया। लेकिन इस सरकार का मुखिया केरेंस्की बच निकला। रात के 9 बजे सोवियतों की कांग्रेस की दूसरी बैठक आरंभ हुई। जॉन रीड नामक एक अमरीकी पत्रकार के आँखों देखे विवरण के अनुसार लेनिन खड़ा हुआ तो उसका स्वागत "दीर्घ हर्षध्वनि" के साथ किया गया। हर्ष ध्वनि शांत होने पर उसने सिर्फ़ इतना कहा, "अब हम समाजवादी व्यवस्था की रचना का कार्य करेंगे।"

जिस नई सरकार ने सत्ता सँभाली उसका पहला काम था शांति की घोषणा को स्वीकृति देना (जो रात के 11 बजे दी गई)। इसमें सरकार का यह संकल्प व्यक्त किया गया कि वह शांति के लिए बातचीत शुरू करेगी, ऐसी शांति जिसमें किसी देश और उसके किसी भाग पर अन्य देश का कब्ज़ा नहीं होगा और किसी देश को हरजाना नहीं देना पड़ेगा।



पेट्रोग्राड के विंटर पैलेस पर आक्रमण

श्रमिकों तथा सैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतों की अखिल रूस कांग्रेस के 8 नवंबर 1917 के दूसरे अधिवेशन का एक विवरण

ठीक 8 बजकर 40 मिनट पर हर्ष ध्वनि से वातावरण गूँज उठा जो लेनिन के साथ, महान लेनिन के साथ प्रेज़िडियम के प्रवेश का सूचक था। नाटा कद, गठा हुआ शरीर, और कंधों में धँसा गंजा और भारी भरकम सिर। छोटी-छोटी आँखें, चपटी सी नाक, चौड़ा मुँह और भारी ठुड्डी, जो अभी सफाचट है, लेकिन जिस पर पहले की और भविष्य की उसकी मशहूर दाढ़ी फिर से उगने लगी थी। उसका पहनावा बेतरतीब, फटीचर और पैंट कद के हिसाब से बहुत लंबी। देखने में कुछ भी ऐसा नहीं जिससे वह जनता का पूज्य बने, फिर भी जितना प्यार और जितनी श्रद्धा उसे मिल रही है इतिहास में शायद ही किसी नेता को मिली हो। एक विलक्षण जन-नेता, जो केवल अपनी बुद्धि के बल पर नेता बना। कोई रंगीनी और विनोद नहीं, लेकिन दृढ़ प्रतिज्ञा और बेलाग, बिना किसी आकर्षक स्वाभावगत विशिष्टता के, लेकिन गंभीर से गंभीर विचारों को सीधे-सादे शब्दों में समझाने की क्षमता और किसी भी ठोस परिस्थिति का विश्लेषण करने की शक्ति और चतुरता के साथ-साथ ज़बरदस्त बौद्धिक साहसिकता।

कामेनेव सैनिक क्रांतिकारी समिति की कार्रवाइयों के बारे में रिपोर्ट पेश कर रहा था – सेना में मृत्यु-दण्ड की समाप्ति, प्रचार की आज़ादी फिर से स्थापित, राजनीतिक अपराधों के लिए गिरफ़्तार किए गए अफ़सरों और सिपाहियों की रिहाई, केरेंसकी की गिरफ़्तारी का और निजी गोदामों में जमा अनाज को ज़ब्त करने के हुक्म ... तीव्र हर्षध्वनि।

बूंड का प्रतिनिधि फिर बोला – बोल्शेविकों के कट्टरपन के कारण क्रांति कुचल दी जाएगी। इसलिए बूंड के प्रतिनिधि अब और आगे कांग्रेस में भाग नहीं लेंगे। श्रोताओं से आवाज़ें आती हैं, "हमने तो समझा था कि आप लोग कल रात ही सभा-त्याग कर चुके हैं। और कितनी बार सभा-त्याग करेंगे ?"

इसके बाद मेन्शेविक अंतर्राष्ट्रवादियों के प्रतिनिधि। आवाज़ें आती हैं-"यह क्या ! आप लोग अब तक यहीं हैं ?" वक्ता ने सफ़ाई में कहा कि मेन्शेविक अंतर्राष्ट्रवादियों के कुछ लोग ही गए हैं। बाकी यहीं रहेंगे।

"हमारे विचार में सोवियतों को सत्ता सौंपना क्रांति के लिए ख़तरनाक, बल्कि घातक है" बीच में रोकने की आवाज़ें "लेकिन हम यह समझते हैं कि यह हमारा कर्तव्य है कि हम कांग्रेस में रहें और इस हस्तांतरण के ख़िलाफ़ अपना मत दें।"

इसके बाद और वक्ता बोले, लेकिन लगता था बिना किसी क्रम के। दॉन क्षेत्र के कोयला मज़दूरों के एक प्रतिनिधि ने माँग की कि कालेदिन के ख़िलाफ़ कार्रवाई की जाए। क्योंकि वह राजधानी को कोयले और खाद्य सामग्री की सप्लाई काट सकता है। मोर्चे से अभी-अभी लौटे सिपाहियों ने अपनी-अपनी रेजिमेन्टों के उत्साहपूर्ण अभिवादन संदेश दिए। .... अब लेनिन खड़ा हुआ, रीडिंग स्टैंड के किनारे को पकड़े, अपनी छोटी-छाटी मिचमिचाती आंखों से भीड़ को एक सिरे से दूसरे सिरे तक देखते हुए, कई मिनटों तक गूंजती हुई हर्षध्वनि से बेख़बर। और जब हर्षध्वनि बंद हुई उसने बस यह कहा, "अब हम समाजवादी व्यवस्था का निर्माण शुरू करेंगे।" और फिर जन-समूह का वही प्रचंड गर्जन।

"पहला काम है शांति के लिए सक्रिय कदम उठाना ... हम तमाम युद्धरत देशों की जनता के लिए शांति का प्रस्ताव करेंगे। इसका आधार होगा सोवियत शर्तें – कोई देश किसी और देश के क्षेत्र पर कब्ज़ा नहीं करेगा, किसी देश से कोई हर्जाना नहीं लिया जाएगा और हर देश की जनता को आत्म-निर्णय का अधिकार होगा। इसके साथ ही अपने वादे के मुताबिक हम गुप्त संधियों को प्रकाशित करेंगे और उन्हें रद्द करेंगे ... युद्ध और शांति का प्रश्न इतना स्पष्ट है कि मुझे लगता है कि मैं बिना किसी भूमिका के सभी युद्धरत देशों के जनों के नाम घोषणा के मसौदे को पढ़ दूँ।"

जब वह बोल रहा था तो उसका चौड़ा मुँह जिस पर मुस्कान झलक रही थी पूरा खुल गया था। उसकी आवाज़ में फटापन था, लेकिन यह फटापन अरुचिकर नहीं था। लगता था जैसे सालों साल बोलते-बोलते उसमें एक कड़ापन आ गया हो। वह एक ही तर्ज़ में बोलता रहा और ऐसा महसूस हुआ कि उसकी आवाज़ कभी रुकने वाली नहीं है ... किसी बात पर ज़ोर देने के लिए वह थोड़ा आगे झुक जाता था। कोई चेष्टा और हाव-भाव नहीं और उसके सामने मौजूद हज़ार सीधे-सादे चेहरे श्रद्धा-विभूत होकर उसकी ओर टकटकी लगाए देख रहे थे।

[जॉन रीड की पुस्तक टेन डेज़ दैट शुक द वर्ल्ड का अंश]

इस घोषणा में यह भी कहा गया कि जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन के श्रमिक "मानवता को युद्ध की विभीषिका तथा दुष्परिणामों से बचाने के अपने कर्तव्य को समझेंगे और अपने निर्णायक, त्वरित तथा सतत कार्य द्वारा शांति की स्थापना में तथा साथ ही शोषित श्रमिक समुदायों को समस्त दासता एवं शोषण से मुक्त कराने में हमारी सहायता करेंगे।" जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रूस युद्ध से अलग हो गया, हालाँकि जर्मनी द्वारा थोपी गई शांति की शर्तों के मुताबिक उसे अपने कई प्रदेशों से हाथ धोना पड़ा।

लेनिन के नितृत्व वाली इस क्रांतिकारी सरकार ने जो दूसरा कदम उठाया वह था भूमि-संबंधी घोषणा को स्वीकृति देना। यह कार्य 27 अक्टूबर (9 नवंबर) को रात के दो बजे किया गया। इस घोषणा ने निजी भू-संपत्ति को समाप्त कर दिया और कहा कि भूमि संपूर्ण राष्ट्र की संपत्ति है। इसके शीघ्र बाद नई सरकार ने ज़ारशाही द्वारा चीन, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान पर थोपी गई असमान संधियों का एकतरफ़ा त्याग कर दिया। सभी राष्ट्रों के समानता तथा आत्म-निर्णय के अधिकार की घोषणा की गई।

गृह-युद्ध और विदेशी हस्तक्षेप

बोलशेविक सरकार की स्थापना करने वाले पेट्रोग्राड के इस विद्रोह के बाद भूतपूर्व रूसी साम्राज्य के अन्य भागों में भी ऐसे ही विद्रोह हुए और फ़रवरी 1918 तक नई सरकार ने पूरे देश में अपनी सत्ता प्रतिष्ठित कर ली। लेकिन इसके शीघ्र बाद रूस गृह-युद्ध में फँस गया। पुरानी व्यवस्था के प्रति वफ़ादार सैनिक, जो गोरे रूसी कहलाते थे, क्रांति को मिटाने के लिए संगठित हो गए थे। ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य, जापान तथा अन्य मित्र शक्तियाँ भी रूस को फिर से लड़ाई में घसीटने, उसके संसाधनों का युद्ध के लिए उपयोग करने तथा क्रांति-विरोधी शक्तियों को सहायता देने के लिए उसके मामलों में हस्तक्षेप करने लगीं। आख़िर गृह-युद्ध तथा विदेशी सैनिक हस्तक्षेप 1920 में ख़त्म हुए।

ज़ारशाही प्रथम विश्व युद्ध के दौरान उखड़ने वाला पहला राजवंश था। युद्ध समाप्त होने के पूर्व दो और राजवंशों का पतन हुआ। इनमें से एक तो था जर्मन राजवंश और दूसरा था आस्ट्रिया-हंगरी का राजवंश। एक चौथे शासक वंश का पतन युद्ध के शीघ्र बाद हुआ। यह था उस्मानिया शाही घराना।

अक्टूबर क्रांति का महत्व रूस की हदों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि उसके परे बहुत दूर तक इसका प्रभाव पड़ा। सोवियत रूस (बाद में सोवियत समाजवादी गणतांत्रिक संघ) विश्व के आगे के इतिहास में एक प्रमुख प्रभाव केंद्र बन कर उभरा।

अभ्यास

1. 1870 वाले दशक से लेकर 1914 तक के काल को साम्राज्यवादी विस्तार का दौर क्यों कहा जाता है ? इस काल में विश्व का कौन-सा भाग सबसे अधिक प्रभावित हुआ ?
2. "बाल्कन" से क्या तात्पर्य है ? यह यूरोप में तनावों और संघर्षों का कारण क्यों बन गया ?
3. उपनिवेशों, सैन्यवाद तथा युद्ध के प्रति द्वितीय अंतर्राष्ट्र (सैकेंड इंटरनेशनल) की नीति का वर्णन कीजिए।
4. उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से 1914 तक एक विश्व शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका के विकास का वर्णन कीजिए।
5. 1914 तक के काल के दौरान यूरोपीय देशों के बीच तनावों के कारण क्या थे ? विवेचन कीजिए।
6. दासप्रथा के उन्मूलन से लेकर 1914 तक संयुक्त राज्य अमरीका में काले लोगों की स्थिति का वर्णन कीजिए।
7. 1914 तक यूरोप में समाजवादी (सोशलिस्ट) आंदोलन के विकास का वर्णन कीजिए। सैन्यीकरण तथा युद्ध के प्रति उसकी नीति क्या थी ?
8. मेजी पुर्नप्रतिष्ठा से क्या तात्पर्य है? जापान के भावी इतिहास पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?

9. चीन के लिए 1911 की क्रांति के परिणामों की विवेचना कीजिए।
10. 1914 तक लैटिन अमरीकी देशों के राजनीतिक विकास की मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए। इन देशों के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा अपनाई गई नीति पर विचार कीजिए।
11. 1914 तक यूरोपीय शक्तियों के बीच तनावों और संघर्षों के कारणों पर विचार कीजिए।
12. 1890 से लेकर 1914 तक कौन-सी ऐसी बातें हुईं जिनके फलस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया ? क्या आपके विचार में युद्ध अनिवार्य हो गया था? विवेचना कीजिए।
13. 1914 में छिड़ी लड़ाई को विश्व युद्ध क्यों कहा गया ?
14. "पश्चिमी मोर्चे" और "पूर्वी मोर्चे" से क्या तात्पर्य है ? यूरोप के नक्शे के ख़ाके पर इन "मोर्चों" को इनमें शरीक देशों के साथ दर्शाइए।
15. प्रथम विश्व युद्ध में लड़ी गई लड़ाइयाँ पहले की लड़ाइयों से किन दृष्टियों से भिन्न थीं ? "खंदक युद्ध" और "थकाने वाली लड़ाई" के अर्थ स्पष्ट कीजिए।
16. विश्व के मानचित्र के ख़ाके पर यूरोप के बाहर के उन स्थानों को दर्शाइए जहाँ प्रथम विश्व युद्ध की लड़ाइयाँ लड़ी गईं।
17. रूसी क्रांति के कारणों पर विचार कीजिए। रूस का प्रथम विश्व युद्ध में शामिल होना रूसी क्रांति लाने में किस प्रकार सहायक सिद्ध हुआ ?
18. अक्टूबर क्रांति के बाद रूस युद्ध से अलग क्यों हो गया ?
19. जब प्रथम विश्व युद्ध आरंभ हुआ उस समय उसके प्रति संयुक्त राज्य अमरीका की नीति का वर्णन कीजिए। इस नीति में परिवर्तन कब और क्यों आया ?
20. साहित्यिक कृतियों के जो अंश इस अध्याय में उद्धृत किए गए हैं, उनका अध्ययन कीजिए। इन अंशों पर अपनी टिप्पणियाँ लिखिए। जिन कृतियों से ये अंश उद्धृत किए गए हैं उनमें से कुछ को पूरा पढ़िए। इनके लेखकों के बारे में जानकारी प्राप्त करके उन पर टिप्पणियाँ तैयार कीजिए।

अध्याय 3

दो विश्व युद्धों के बीच की दुनिया

इस काल की सामान्य विशेषताएँ

प्रथम विश्व युद्ध को "युद्ध-मात्र का सिलसिला समाप्त कर देने वाला युद्ध" कहा गया था और लोगों का ख़याल था कि इस लड़ाई के बाद शांति, स्वतंत्रता, लोकतंत्र तथा हर व्यक्ति के लिए बेहतर ज़िंदगी के युग का प्रादुर्भाव होगा। संयुक्त राज्य के युद्ध में प्रवेश करते समय वुड्रो विल्सन ने घोषणा की थी-"हम उन चीज़ों के लिए लड़ेंगे जो हमेशा से हमें प्रिय रही हैं। हम लोकतंत्र के लिए लड़ेंगे, राज्य की सत्ता को स्वीकार करने वाले लोगों के मनों में अपनी सरकार के प्रति आदर-भावना पैदा करने के लिए लड़ेंगे, दुनिया में सही और सच का बोलबाला कायम कराने के लिए लड़ेंगे और इन्हीं उद्देश्यों के आधार पर स्वतंत्र राष्ट्रों का एक ऐसा संघ बनाया जाएगा जो सभी देशों में शांति स्थापित करेगा और अंत में पूरी दुनिया को आज़ाद करा देगा।"

सात महीने बाद रूसी क्रांति हुई और सोवियत सरकार ने शांति का घोषणापत्र जारी किया जिसमें सभी युद्धरत राष्ट्रों तथा जन-समाजों से ऐसी शांति वार्ता आयोजित करने के लिए अनुरोध किया गया जिसमें किसी भी देश द्वारा किसी अन्य देश की भूमि को हथियाने और किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति करने की बात न हो। रूसी क्रांतिकारियों को यह आशा भी थी कि यूरोप के कुछ अन्य देशों के श्रमिक वर्ग उनके सुझाए गए मार्ग का अनुसरण करेंगे। मित्र शक्तियों ने सोवियत सुझाव को ठुकरा दिया और जर्मनी ने रूस को युद्ध से अलग होने देने की उससे भारी कीमत वसूल की। लड़ाई आगे एक साल तक जारी रही।

8 जनवरी 1918 ई. को विल्सन ने अपना शांति प्रस्ताव प्रस्तुत किया। यह प्रस्ताव चौदह सूत्रों के प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन चौदह सूत्रों में गुप्त कूटनीति की समाप्ति, समुद्रों के निर्बाध उपयोग की स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता के सिद्धांत के आधार पर यूरोपीय देशों की सीमाओं के पुनर्निर्धारण के सुझाव शामिल थे। अलबत्ता उपनिवेशों के मामले में राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धांत की बात न करके "औपनिवेशिक दावों में निष्पक्षतापूर्ण तालमेल बैठाने" की पेशकश की गई। इस प्रस्ताव के अंतिम सूत्र में "छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों की राजनीतिक स्वतंत्रता की पारस्परिक गारंटी देने के प्रयोजन से राष्ट्रों के एक सामान्य संघ की स्थापना" की बात कही गई थी। आशा की जा रही थी कि ये चौदह सूत्र शांति स्थापना के आधार स्तंभों का काम करेंगे।

लेकिन आगे के बीस वर्षों के दौरान जो कुछ हुआ उससे इन सारी आशाओं पर पानी फिर गया। चार साम्राज्यवादी राजवंशों के पतन के बावजूद दुनिया पहले की अपेक्षा अधिक लोकतांत्रिक नहीं बन पाई। रूसी क्रांतिकारियों की आशा के अनुरूप किसी भी देश में कोई सामाजिक क्रांति नहीं हुई और जर्मनी तथा हंगरी में विद्रोह हुए भी तो उन्हें दबा दिया गया। यूरोप के कई देशों में तानाशाही हुकूमतें कायम हो गईं जिन्होंने उग्र राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया और वे युद्ध की तैयारी में लग गईं। तानाशाही हुकूमतों की स्थापना के पीछे बहुत हद तक सामाजिक क्रांति का भय काम कर रहा था। यूरोप के जिन देशों में लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था थी उनको भी इस भय का भूत सताता रहा और उनकी घरेलू तथा विदेश नीतियों को प्रभावित करता रहा।

युद्ध के फलस्वरूप यूरोप का प्रभुत्व काफ़ी क्षीण हो गया यद्यपि उपनिवेशों पर उसकी पकड़ बनी रही। यूरोप में कई स्वतंत्र राष्ट्रों का उदय हुआ जो पूर्णत: तो नहीं, लेकिन सामान्यत: राष्ट्रीयता के सिद्धांत पर आधारित थे। फिर भी यूरोपीय मामलों को लेकर यूरोप के अंदर चलने वाले झगड़ों का अंत नहीं हुआ। इनमें से कुछ झगड़ों की बुनियाद तो युद्ध के बाद की जाने वाली शांति-संधियों में ही पड़ गई थी। साम्राज्यवादी शक्तियों की आपसी प्रतिद्वंद्विता, जो कि युद्ध का

एक बड़ा कारण थी, समाप्त नहीं हुई और वह फिर से अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का एक बड़ा कारण बन कर उभरी।

इस काल में संयुक्त राज्य अमरीका विश्व की प्रमुख शक्ति बन गया। अधिकतर यूरोपीय अर्थव्यवस्थाएँ उसी पर निर्भर हो गईं। यह बात तब बिलकुल स्पष्ट हो गई जब संयुक्त राज्य में 1929 ई. में आरंभ हुई आर्थिक मंदी का विनाशकारी प्रभाव रूस को छोड़कर हर यूरोपीय देश तथा दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी महसूस किया गया। औद्योगीकृत देशों के युद्ध के पहले के समाज जिन आर्थिक तथा सामाजिक असमानताओं से ग्रस्त थे वे विषमताएँ इस काल में भी बनी रहीं, यद्यपि कुछ समय के लिए आम लोगों का जीवन-स्तर सुधारने के प्रयासों में कुछ प्रगति हुई। किंतु सन् 1929-33 के आर्थिक संकट से तत्कालीन व्यवस्था के बुनियादी दोष पूरी तरह से उजागर हो गए। आबादी के बहुत बड़े हिस्सों का दुख-दैन्य उस व्यवस्था के अभिन्न अंग जैसा मालूम पड़ने लगा था।

यूरोप तथा उत्तर अमरीका के बाहर यह राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आंदोलनों का युग था, यद्यपि इन आंदोलनों को एक और विश्व युद्ध की निष्पत्ति के बाद ही सफलता प्राप्त



वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर के बाद (दाएँ से बाएँ) क्लेमेंसो, विल्सन और लॉयड जॉर्ज

हुई। विल्सन के चौदह सूत्रों में जिस राष्ट्र संघ (लीग ऑफ़ नेशंस) की तजवीज़ की गई थी वह शांति संधियों के फलस्वरूप स्थापित तो हो गया, लेकिन वह दुनिया को एक और युद्ध की आग में कूदने से रोकने में बिलकुल असफल सिद्ध हुआ। चौथे दशक के मध्य से ही दूसरा विश्व युद्ध अवश्यंभावी प्रतीत होने लगा था और जब यह दूसरा युद्ध प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के मुश्किल से 20 वर्ष बाद 1939 में छिड़ा तो उसकी व्यापकता और विनाशकारिता प्रथम युद्ध में हुई विनाशलीला को बहुत पीछे छोड़ गई।

शांति संधियाँ

थोपी गई शांति

प्रथम विश्व युद्ध में मित्र-शक्तियों का प्रमुख शत्रु जर्मनी था। जर्मनी के साथ शांति-संधि का मसविदा तैयार करने के लिए मित्र राष्ट्रों का शांति सम्मेलन 18 जनवरी 1919 ई. को पेरिस में आरंभ हुआ। संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति विल्सन, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज और फ्रांसीसी प्रधानमंत्री जॉर्ज क्लेमेंसो सम्मेलन पर छाए रहे। जर्मनी ने इस शर्त पर आत्म समर्पण किया था कि विल्सन के चौदह सूत्र तथा अन्य वक्तव्य शांति का आधार बनेंगे। चौदह सूत्रों के अलावा विल्सन ने यह घोषणा भी की थी कि "किसी देश के किसी प्रदेश पर अधिकार नहीं किया जाएगा, किसी से कोई आर्थिक माँग नहीं की जाएगी और न किसी से दंडस्वरूप किसी भी प्रकार का कोई हर्जाना देने को कहा जाएगा।" इस प्रस्ताव में आगे यह भी कहा गया था कि संबंधित देशों की स्वैच्छिक स्वीकृति समझौते का आधार होगी। जब संधि का मसविदा तैयार किया गया तो इस सिद्धांत को बिलकुल ताक पर रख दिया गया। सम्मेलन में न तो जर्मनी का और न ही किसी अन्य केंद्रीय शक्ति का कोई प्रतिनिधि बुलाया गया। मसविदे को अंतिम रूप देने के बाद विजेताओं ने जर्मनी को पाँच दिन का समय दिया कि वह या तो इस पर हस्ताक्षर करे या आक्रमण का सामना करने के लिए तैयार रहे। जर्मनी के सामने उस पर हस्ताक्षर करने के अलावा कोई चारा नहीं रह गया था। जर्मनी ने इसे "थोपी गई शांति" कहा। हस्ताक्षर करते समय भी जर्मन प्रतिनिधियों को अपमानित किया गया। जिस कक्ष में हस्ताक्षर समारोह संपन्न हुआ उसमें उन्हें मित्र शक्तियों के प्रतिनिधियों के साथ नहीं बैठने दिया गया। इसकी बजाय "जिस तरह अपराधियों को एक कटघरे से दूसरे कटघरे में ले जाया जाता है, उसी तरह उन्हें कभी तो सम्मेलन कक्ष से बाहर ले जाया जाता और कभी अंदर ले आया जाता रहा।" जर्मनी को "युद्ध के लिए अपराधी" स्वीकार करने पर भी मजबूर किया गया। संधि में एक परिच्छेद क्षतिपूर्ति पर भी था जो इन शब्दों के साथ आरंभ होता था "जर्मनी और उसके मित्र देशों ने आक्रामक कार्रवाई करके मित्र शक्तियों तथा उनकी सहयोगी सरकारों एवं वहाँ की जनता पर जो युद्ध थोपा उसके फलस्वरूप उन्हें जो कुछ क्षति और नुकसान उठाना पड़ा, उस सबके लिए जर्मनी और उसके मित्र देश अपनी ज़िम्मेदारी स्वीकार करें।" जब यह परिच्छेद जर्मन विदेश मंत्री को दिखाया गया तो उसने कहा: "हमसे यह अपेक्षा की गई है कि हम स्वीकार करें कि सिर्फ़ हम ही युद्ध के लिए दोषी है। ... हम अपनी किसी ज़िम्मेदारी से कभी मुकरना नहीं चाहते। ... लेकिन हम पूरा ज़ोर देकर इस बात का खंडन करते हैं कि केवल जर्मनी और उसकी जनता ही युद्ध के लिए दोषी थी। ... पिछले पचास वर्षों के दौरान सभी यूरोपीय राज्यों की साम्राज्यवादी सरकारों ने अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में ज़हर घोला है।" इस संधि में जर्मनों पर, जिन पर कि मित्र शक्तियों ने युद्ध अपराध करने का आरोप लगाया था, मुकदमा चलाने से संबंधित एक धारा भी थी। आरोपियों की सूची में जर्मन सम्राट् को शामिल भी किया गया था जिसने भाग कर हॉलैंड (नीदरलैंड्स) में शरण ले ली थी।

संधि का मसविदा तैयार करने वाले राजनयिक उन विभिन्न गुप्त संधियों और समझौतों को ध्यान में रखकर चल रहे थे जिन पर उन्होंने युद्ध के दौरान हस्ताक्षर किए थे। इन गुप्त संधियों का मुख्य उद्देश्य युद्ध में प्राप्त लूट के माल का (अर्थात् प्रदेशों का) आपस में बँटवारा करना था। इन संधियों पर हस्ताक्षर करने वाला एक देश रूस भी था। क्रांति के बाद उसने न केवल इन समझौतों की निंदा की बल्कि इन्हें छाप कर इनका पर्दाफ़ाश भी कर दिया। इससे मित्र शक्तियों का यह पाखंड उजागर हो गया कि वे स्वतंत्रता और

लोकतंत्र के लिए लड़ रही थीं। ये संधियाँ अमरीकी तथा ब्रिटिश समाचारपत्रों में प्रकाशित हुईं, लेकिन इससे हुई बदनामी भी जर्मनी (और बाद में तुर्की तथा अन्य देशों) की किस्मत का फ़ैसला करते समय मित्र शक्तियों को इन संधियों की धाराओं पर अमल करने से नहीं रोक पाई। 'खुली कूटनीति' पर दुनिया भर का आग्रह करने वाले विल्सन को भी अपनी सहमति देने पर राज़ी कर लिया गया।

राष्ट्र संघ की स्थापना

शांति सम्मेलन के सबसे पहले कार्यों में से एक था-राष्ट्र संघ की स्थापना (यानी विल्सन के चौदहवें सूत्र पर अमल)। राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञापत्र (या औपचारिक शपथपूर्ण तथा बंधनकारी समझौते) को सम्मेलन में अप्रैल 1919 में स्वीकृति प्रदान की गई। "अंतर्राष्ट्रीय सहयोग, शांति तथा सुरक्षा" को बढ़ावा देने संबंधी संघ के प्राथमिक लक्ष्य के लिए तीन अनुच्छेद विशेष रूप से महत्वपूर्ण थे। आठवें अनुच्छेद में उल्लेख था कि "शांति कायम रखने के लिए राष्ट्रों के शस्त्रों के भंडार में कमी करना ज़रूरी है।" दसवें अनुच्छेद में कहा गया था कि "संघ के सदस्य यह वचन देते हैं कि वे सभी सदस्यों की प्रादेशिक अखंडता और वर्तमान राजनीतिक स्वतंत्रता का सम्मान करेंगे और बाहरी आक्रमण के विरुद्ध उनकी रक्षा करेंगे। ... यदि ऐसा आक्रमण हुआ अथवा ऐसे आक्रमण का कोई संदेह या ख़तरा उपस्थित हुआ तो (संघ की) परिषद् ऐसे उपाय सुझाएगी जिनसे इस दायित्व का निर्वाह किया जा सके।" ... सोलहवें अनुच्छेद में दबावों और शक्ति प्रयोग के बारे में बताया गया था। उसके अनुसार "यदि संघ का कोई सदस्य युद्ध का सहारा लेगा ... तो स्वत: ही मान लिया जाएगा कि उसने संघ के अन्य सभी सदस्यों के ख़िलाफ़ लड़ाई छेड़ दी है।" ... इस अनुच्छेद में विधान किया गया था कि अन्य सदस्य उस सदस्य देश के साथ अपने सारे व्यापारिक और वित्तीय संबंध तोड़ लेंगे और परिषद् की सिफ़ारिश पर लड़ाई तथा सशस्त्र बलों का सामूहिक उपयोग करेंगे।

जैसा कि हम आगे देखेंगे, शांति कायम रखने और आक्रांता देशों के ख़िलाफ़ कारगर कार्रवाई करने में संघ सर्वथा असमर्थ साबित हुआ। शस्त्रों के भंडार को कम करने में भी कोई प्रगति नहीं हुई। हाँ, संघ द्वारा बनाई गई दो एजेंसियों ने कुछ उपयोगी काम भी किए। इनमें से एक था अंतर्राष्ट्रीय न्याय के निमित्त स्थापित स्थायी न्यायालय (परमानैंट कोर्ट ऑफ़ इंटरनेशनल जस्टिस), जो वर्ल्ड कोर्ट या विश्व अदालत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा था अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन की स्थापना करना। राष्ट्र संघ से संबंधित मुख्य घटनाओं की चर्चा हम आगे करेंगे।

वर्साय की संधि

जर्मनी के साथ शांति संधि पर 28 जून 1919 को हस्ताक्षर हुए। यह संधि वर्साय संधि के नाम से प्रसिद्ध है। इस संधि की शर्तों के अनुसार अल्सास-लोरेन, जो जर्मनी ने 1871 ई. में फ्रांस से छीन लिया था, फ्रांस को वापस कर दिया गया। नव-स्थापित राज्य पोलैंड को लगभग 64 किलोमीटर का "गलियारा" देकर समुद्र तक पहुँचने का रास्ता सुलभ करा दिया गया। इससे पूर्वी प्रदेश शेष जर्मनी से कट गया। डान्त्सिग को स्वतंत्र नगर बना दिया गया जिस पर राष्ट्र संघ का राजनीतिक तथा पोलैंड का आर्थिक नियंत्रण था। बेल्जियम, डेनमार्क और लिथुआनिया को भी जर्मनी के कुछ प्रदेश मिले। सार कोयला खान क्षेत्र को पंद्रह वर्षों के लिए राष्ट्र संघ के नियंत्रण में रख दिया गया और इस क्षेत्र की खानें मुआवज़े के तौर पर फ्रांस को सौंप दी गईं। जर्मनी को आस्ट्रिया के साथ कोई संघ बनाने से मना कर दिया गया। तय हुआ कि राइनलैंड को स्थायी रूप से विसैन्यीकृत कर दिया जाए और उस पर पंद्रह वर्षों तक मित्र शक्तियों की सेनाओं का कब्ज़ा बना रहे। जर्मन सेना के सैनिकों की संख्या एक लाख तक सीमित कर दी गई। उसे कोई वायु सेना और पनडुब्बियाँ रखने का भी अधिकार नहीं दिया गया। वह एक सीमित संख्या में नौसैनिक जहाज़ ज़रूर रख सकता था। चूँकि उसे अपना "युद्ध अपराध" स्वीकार करने पर विवश कर दिया गया था सो स्वभावत: उसे मित्र शक्तियों की क्षतिपूर्ति भी करनी थी। क्षतिपूर्ति की राशि का हिसाब बाद में लगाया गया जो 660 करोड़ पौंड बैठा।

जर्मनी से उसके सारे उपनिवेश छीन लिए गए और गुप्त संधियों की शर्तों के अनुसार विजेता शक्तियों ने उन्हें

आपस में बाँट लिया। जर्मन पूर्व अफ़्रीका – टांगानीका– का ज्यादातर हिस्सा ब्रिटेन के हाथों में चला गया और कुछ भाग पूर्तगाल और बेल्ज़ियम कांगो को भी मिला। कैमरून और टोगोलैंड को ब्रिटेन और फ़्रांस ने आपस में बाँट लिया। रूआंडा-उरूंडी बेल्जियम को सौंप दिया गया और दक्षिण-पश्चिम अफ़्रीका दक्षिण अफ़्रीका को। प्रशांत सागर स्थित जर्मन अधिकार वाले द्वीपों को आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और जापान ने आपस में बाँट लिया। जापान ने चीनी प्रदेश शानतुंग भी, जो जर्मन प्रभाव क्षेत्र में था, हासिल कर लिया। विभिन्न विजयी देशों ने इन प्रदेशों पर कब्ज़ा तो पहले ही कर लिया था, अब उस कब्ज़े पर जर्मनी के हस्ताक्षर से युक्त एक शांति संधि की कानूनी मुहर भी लगा दी गई। साथ ही राष्ट्रसंघ ने भी उस पर स्वीकृति दे दी।

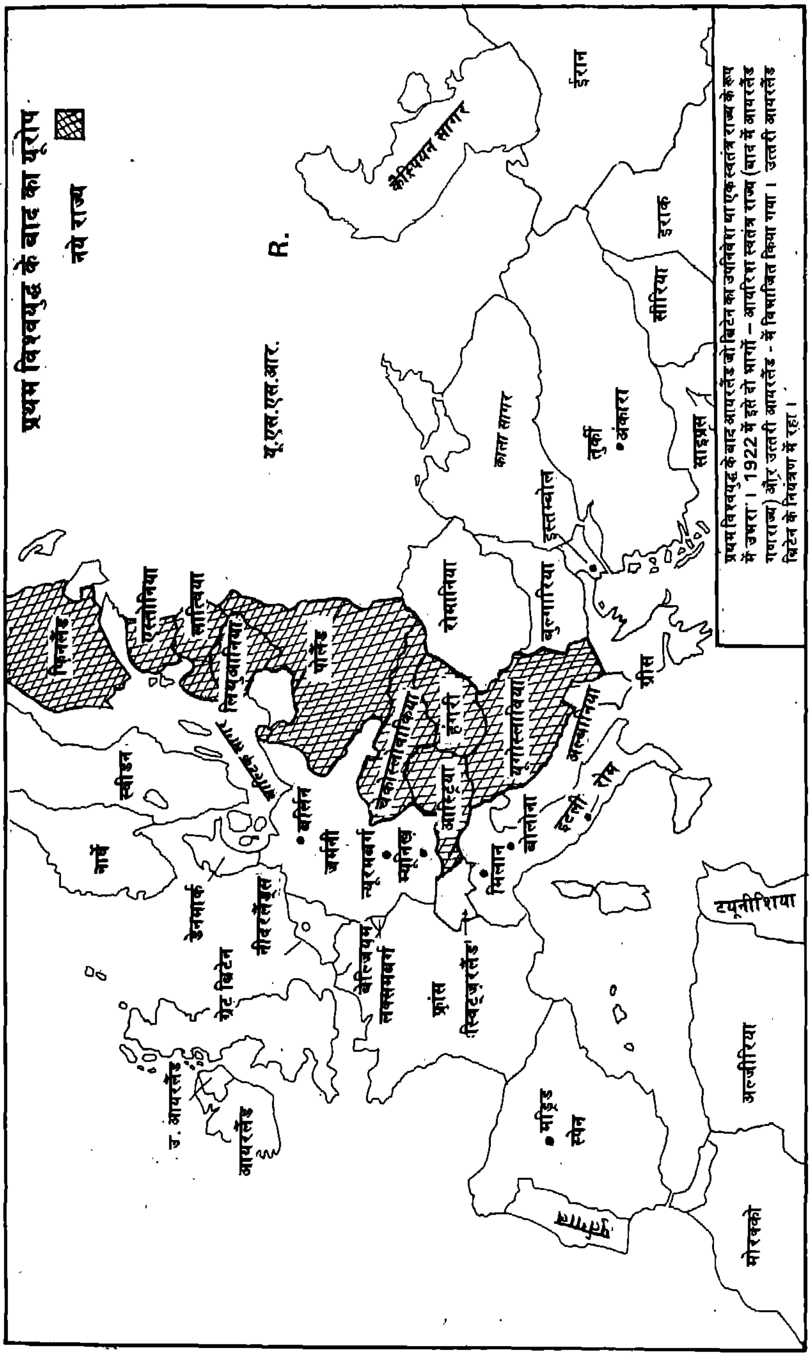
सिद्धांततः विजयी औपनिवेशिक शक्तियों ने किसी जर्मन उपनिवेश पर अधिकार नहीं किया। राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र में "मैंडेट" या "शासनाधिकार" नामक एक प्रणाली की व्यवस्था की गई थी। यह प्रणाली पराजित औपनिवेशिक शक्तियों के उपनिवेशों पर लागू की गई। प्रतिज्ञापत्र में कहा गया था कि इन उपनिवेशों और प्रदेशों में "ऐसे लोग रहते हैं जो आधुनिक विश्व की विषम परिस्थितियों में अपने पैरों पर खड़े नहीं रह सकते" और "ऐसे लोगों का कल्याण और विकास सभ्य संसार का एक पवित्र कर्तव्य है।" इस कर्तव्य को व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रतिज्ञापत्र में कहा गया था कि इन उपनिवेशों और प्रदेशों में रहने वाले लोगों को "उन्नत राष्ट्रों" के "संरक्षण" में रख देना चाहिए। लेकिन कौन-सा "उन्नत राष्ट्र" किस देश को अपने "संरक्षण" में लेगा, इसका फ़ैसला "उन्नत राष्ट्र" आपस में पहले ही कर चुके थे और इसलिए राष्ट्र संघ को वास्तव में इस मामले में कुछ करना नहीं था।

आस्ट्रिया, हंगरी और तुर्की के साथ संधियाँ

वर्साय की संधि मुख्य संधि थी क्योंकि उसका संबंध मुख्य पराजित देश से था। अन्य केंद्रीय शक्तियों से अलग संधियाँ की गईं। 10 सितंबर 1919 को आस्ट्रिया के साथ सेंट जर्मेन की संधि पर हस्ताक्षर हुए। इस संधि के अनुसार आस्ट्रिया को हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया की स्वतंत्रता को मान्यता देनी पड़ी और साथ ही इन्हें तथा इटली को अपने प्रदेश भी देने पड़े। अब आस्ट्रिया एक छोटा राज्य रह गया और उस पर जर्मनी के साथ संघ बनाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। हंगरी के साथ भी एक अलग संधि पर हस्ताक्षर किए गए क्योंकि अब वह एक स्वतंत्र राज्य था। उसे अपने कुछ प्रदेश युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया तथा रोमानिया को देने पड़े। बुल्गारिया के साथ की गई संधि में उसे कुछ प्रदेश रोमानिया को देने पर बाध्य किया गया।

अंतिम संधि तुर्की के साथ हुई। एक गुप्त समझौते के अनुसार, ब्रिटेन और फ़्रांस उसके अरब प्रदेशों को पहले ही आपस में बाँट चुके थे। सीरिया और लेबनान फ़्रांस के नियंत्रण में आ गए थे तथा इराक, फ़िलस्तीन और ट्रांसजॉर्डन ब्रिटिश अधिकार में। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ब्रिटेन और फ़्रांस को इन राज्यों का नियंत्रण 'मेंडेट' या "शासनाधिकार" के नाम पर सौंपा गया। कुवैत, बहरीन और कतर जैसे कुछ अरब देश पहले ही ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र में आ चुके थे। कुछ दूसरे देश, जो स्थानीय शासकों के अधीन स्वायत्तता का उपयोग करते आ रहे थे, उसी अवस्था में कायम रहे। हेजाज़ एक अलग राज्य बन गया, लेकिन नज्द के शासक इब्न सऊद ने उसे शीघ्र ही जीत कर सऊदी अरब नामक राज्य स्थापित कर लिया।

उस्मानियों का अपने अरब साम्राज्य से हाथ धोना तो अवश्यंभावी था लेकिन मित्र शक्तियों ने उस्मानियों के ख़िलाफ़ अरब विद्रोहों को समर्थन सिर्फ़ इसलिए दिया था कि युद्ध के बाद वे उनके प्रदेश हासिल कर सकें। लेकिन तुर्की के विखंडन से तुर्की राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। यूनान और इटली ने तुर्की के बहुत बड़े हिस्सों पर कब्ज़ा कर लिया था। सितंबर 1920 में तुर्की के सुल्तान ने एक संधिपत्र पर हस्ताक्षर किए जिसका मतलब तुर्की के संपूर्ण विखंडन पर सहमत होना था। इस बीच मुस्तफ़ा कमाल के नेतृत्व में राष्ट्रवादी आंदोलन पूरे तुर्की में फैल चुका था। कमाल ने अंकारा में एक सरकार भी स्थापित कर ली थी। कमाल की सेना ने इतालवियों और यूनानियों को तुर्की से खदेड़ कर बाहर कर दिया और मित्र शक्तियों को जुलाई 1923 में तुर्की के साथ एक नई संधि करनी


प्रथम विश्वयुद्ध के बाद का यूरोप
नये राज्य
यू.एस.एस.आर.
R.
कैस्पियन सागर
ईरान
इराक
सीरिया
तुर्की
अंकारा
साइप्रस
काला सागर
इस्तम्बोल
रोमानिया
बुल्गारिया
ग्रीस
फिनलैंड
एस्तोनिया
लाट्विया
लिथुआनिया
पोलैंड
स्वीडन
नार्वे
डेनमार्क
बर्लिन
जर्मनी
न्यूरमबर्ग
म्यूनिख
चेकोस्लोवाकिया
हंगरी
आस्ट्रिया
यूगोस्लाविया
अल्बानिया
इटली
रोम
बोलोना
मिलान
स्विट्ज़रलैंड
फ्रांस
लक्समबर्ग
बेल्जियम
नीदरलैंड
ग्रेट ब्रिटेन
उ. आयरलैंड
आयरलैंड
मैड्रिड
स्पेन
मोरक्को
अल्जीरिया
ट्यूनीशिया
प्रथम विश्वयुद्ध के बाद आयरलैंड जो ब्रिटेन का उपनिवेश था एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उभरा। 1922 में इसे दो भागों – आयरिश स्वतंत्र राज्य (बाद में आयरलैंड गणराज्य) और उत्तरी आयरलैंड - में विभाजित किया गया। उत्तरी आयरलैंड ब्रिटेन के नियंत्रण में रहा।

पड़ी। तुर्की को गणतंत्र घोषित किया गया और इसके साथ ही एक आधुनिक धर्म-निरपेक्ष राज्य के रूप में उसका विकास आरंभ हो गया। ख़लीफ़ा के पद को समाप्त कर दिया गया।

इन संधियों के फलस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध औपचारिक रूप से समाप्त हो गया। किंतु इन संधियों की कई धाराएँ यूरोप में नए तनावों का कारण बनीं। रूस को आरंभ से ही सभी वार्ताओं से अलग रखा गया था। उसे (और साथ ही जर्मनी को भी) राष्ट्र संघ से भी बाहर रखा गया। सच तो यह है कि जब संधियों के मसविदे तैयार किए जा रहे थे और शांति को सुनिश्चित करने के लिए राष्ट्र संघ का गठन किया जा रहा था, उस समय भी कई मित्र शक्तियों की सेनाएँ रूस की क्रांतिकारी सरकार के ख़िलाफ़ लड़ाई में जुटी हुई थीं। औपनिवेशिक प्रश्न का निपटारा उपनिवेशों की जनता की इच्छा के अनुरूप न करके विजयी औपनिवेशिक शक्तियों की संतुष्टि के लिए किया गया। चीन प्रथम विश्व युद्ध में मित्र शक्तियों में से एक था और शांति सम्मेलन में उसे प्रतिनिधित्व भी प्रदान किया गया था। फिर भी उसके जो प्रदेश पहले जर्मन नियंत्रण में थे, वे अब जापान को दे दिए गए।

दो विश्व युद्धों के बीच संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ तथा जापान

संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ तथा जापान—ये तीनों दो विश्व युद्धों के बीच की प्रमुख शक्तियों के रूप में उभरकर सामने आए। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ये तीनों कुछ काल तक एक दूसरे के मित्र रह चुके थे। यह स्थिति रूसी क्रांति के पूर्व तक चली। युद्ध के बाद रूस को तो बहिष्कृत कर दिया गया, लेकिन संयुक्त राज्य ने शांति-संधियों के मसविदे तैयार करने में और इस तरह युद्धोत्तर दुनिया की रचना में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वह विश्व की सबसे प्रभुत्वशाली आर्थिक शक्ति बन गया। उधर रूस, जो बाद में सोवियत संघ की स्थापना होने पर उसका हिस्सा बना था, युद्ध, क्रांति, गृह-युद्ध तथा विदेशी हस्तक्षेप के दौर में यूरोप के सर्वाधिक क्षत-विक्षत देश के रूप में सामने आया। तथापि 1930 वाले दशक के अंत तक रूस एक प्रबल आर्थिक तथा सैनिक शक्ति का रूप लेकर उभरा। अपनी राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के कारण वह विश्व के शेष भाग से भिन्न दिखने लगा और दुनिया के मामलों में उसने एक विशिष्ट भूमिका निभाई। जापान इस युद्ध के परिणाम स्वरूप एशिया तथा प्रशांत क्षेत्र की प्रबलतम शक्ति के रूप में उभरा और उसमें इस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की महत्वाकांक्षा हिलोरें मारने लगी।

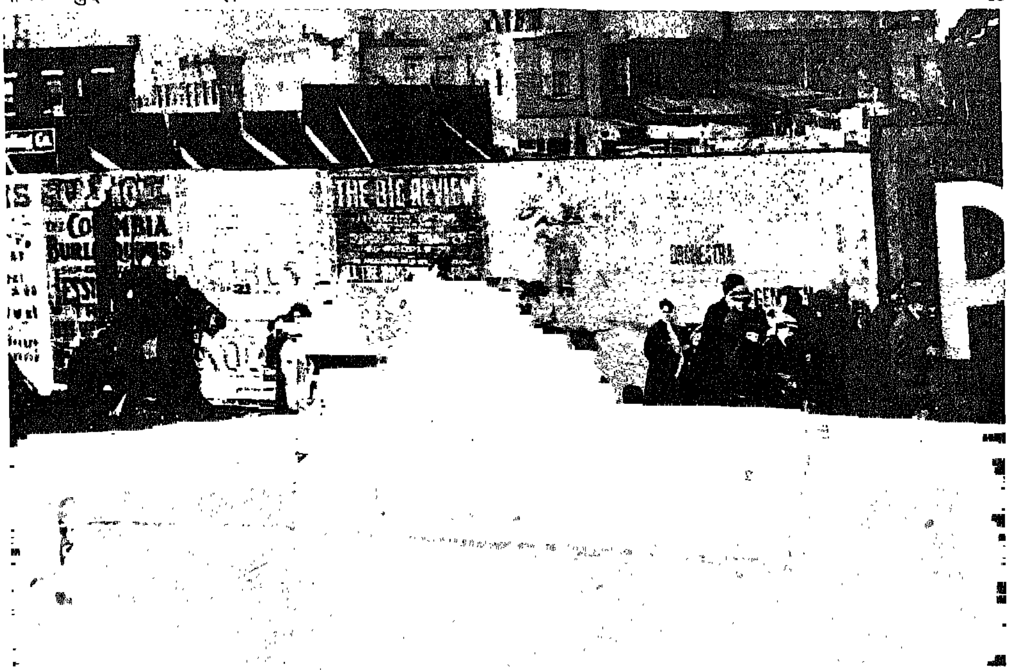
संयुक्त राज्य अमरीका

जिस वर्साय संधि का मसविदा तैयार करने में अमरीकी राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन ने प्रमुख भूमिका निभाई थी उसको अमरीकी सैनेट ने नामंजूर कर दिया। संयुक्त राज्य ने राष्ट्र संघ में शामिल होने से इनकार कर दिया, यद्यपि यह संस्था बहुत हद तक स्वयं अमरीकी राष्ट्रपति की देन थी। राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति पदों के 1920 के चुनावों में रिपब्लिकन पार्टी ने विल्सन की डेमोक्रैटिक पार्टी को हरा दिया। रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवारों ने आगे 1924 और 1928 के चुनावों में भी जीत हासिल की।

आर्थिक विकास के बावजूद आर्थिक दुख दैन्य

युद्ध के तुरंत बाद के वर्ष संयुक्त राज्य में घोर आर्थिक संकट के वर्ष थे। युद्ध के दौरान यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं की तो भारी क्षति हुई थी, किंतु अमरीकी अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ था। कोई भी लड़ाई अमरीका की सरज़मीं पर नहीं लड़ी गई, और उसके नगरों, उद्योगों तथा खेत-खलिहानों को कोई नुकसान नहीं पहुँचा था। युद्ध की समाप्ति के साथ ही अमरीकी अर्थव्यवस्था का विस्तार, जो युद्ध का ही परिणाम था, सहसा रुक गया जिससे एक गंभीर संकट उपस्थित हो गया। लगभग एक लाख कारोबारों का दिवाला निकल गया और कोई पचास लाख लोग बेरोज़गार हो गए। नतीजतन श्रमिक अशांति फैली और हड़तालों का सिलसिला चल पड़ा। 1919 में लगभग 3500 हड़तालें हुईं जिनमें लाखों श्रमिक शामिल हुए। ये हड़तालें महीनों चलती रहीं। हड़तालों को सख़्ती के साथ तोड़ा गया और लोगों के मन में रूस की तरह की क्रांति भड़कने की दहशत पैदा की गई।

लेकिन इसके शीघ्र बाद अमरीकी अर्थव्यवस्था गति से विकास के मार्ग पर अग्रसर हो चली। इस काल में, जबकि



फिलाडेल्फ़िया में 1919 में इस्पात कारख़ाने के मज़दूरों पर हमला करती पुलिस

बाकी की पूरी पूँजीवादी दुनिया युद्धजनित विनाश से उबरने की कोशिशें कर रही थी, संयुक्त राज्य में प्रौद्योगिकीय उन्नति के आधार पर औद्योगिक विस्तार आरंभ हो गया। वह विश्व के मुख्य ऋणदाता राष्ट्र के रूप में सामने आया और यूरोप के ज़्यादातर देश उसके कर्ज़दार बन गए। अमरीका के ज़बरदस्त औद्योगिक विस्तार का एक प्रमाण यह है कि 1929 ई. में उस देश में पचास लाख से ज़्यादा कारें बेची गईं। औद्योगिक विस्तार के साथ-साथ इस देश की आर्थिक सत्ता और भी कम हाथों में केंद्रित होती चली गई। हज़ारों छोटी-छोटी कंपनियों को चंद बड़ी कंपनियाँ निगल गईं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं की एक ख़ास विशेषता विभिन्न उद्योगपतियों के बीच की स्पर्धा थी। अब इस नई परिस्थिति में यह स्पर्धा लगभग समाप्त हो गई। कुछ मामलों में तो, जैसे कि इस्पात के संबंध में, लगभग पूरे का पूरा उद्योग एक ही कंपनी के हाथों में आ गया। इन कंपनियों का अपरिमित प्रभाव था। कहावत चल पड़ी थी कि जो बात 'जनरल मोटर्स' के लिए अच्छी है वह पूरे अमरीका के लिए अच्छी है। यह कंपनी कारों की प्रमुख निर्माता थी। आर्थिक शक्ति के थोड़े से हाथों में सिमट जाने से भ्रष्टाचार बढ़ा और बहुत-से ऐसे घोटाले हुए जिनमें राजनीतिज्ञ तथा शीर्षस्थ अधिकारी भी शामिल थे।

लेकिन इस अभूतपूर्व आर्थिक विकास से श्रमिकों की कोई भलाई नहीं हो पाई। उनमें से अधिकांश ग़रीबी और दुख में दिन बिताते रहे। मज़दूरी तो कम थी ही, ऊपर से बेराज़गार हो जाने का ख़तरा बराबर बना रहता था। कंपनियों को बहुधा सरकार और अदालतों का समर्थन मिलता था और पुलिस तथा किराए के गुंडों के बल पर अक्सर श्रमिकों के ख़िलाफ़ हिंसात्मक कार्रवाइयाँ की जाती थीं जिसके फलस्वरूप कोई शक्तिशाली श्रमिक आंदोलन वहाँ नहीं उभर पाया था।

1929 का घोर संकट

यह अभूतपूर्व औद्योगिक विस्तार वैसी ही अभूतपूर्व विपत्ति के सागर में डूब गया। 1929 के आरंभ में नव निर्वाचित

राष्ट्रपति हर्बर्ट हूवर ने घोषणा की, "हमारा देश संसाधनों से परिपूर्ण है, मन को प्रेरणा और स्फूर्ति देने वाली भव्य सुंदरता से संपन्न है, सुख-सुविधा और अवसरों का उपयोग करती लाखों गृहस्थियों से भरपूर है।" उसने आगे कहा कि देश का भविष्य "उज्जवल और आशाजनक" है। इसके कुछ ही महीने बाद 24 अक्तूबर 1929 को एक धमाके की तरह संकट शुरू हो गया जिसे 'महामंदी' (ग्रेट डिप्रेशन) के नाम से जाना जाता है। इस आर्थिक संकट का बुनियादी कारण स्वयं इस अर्थव्यवस्था के स्वरूप में ही समाहित था। उसका विस्तार होता गया, उसके मुनाफे बढ़ते गए, लेकिन दूसरी ओर अधिकांश लोग ग़रीबी और अभाव में पिसते रहे। प्रौद्योगिकीय प्रगति तथा बढ़ते हुए मुनाफ़ों के कारण उत्पादन में जो भारी वृद्धि हुई उससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि जो कुछ उत्पादित किया जाता था उसे ख़रीद सकने वाले लोग बहुत कम थे। ग़ैर-कृषक आबादी का 5 से 7 प्रतिशत हिस्सा इस सदी के पूरे तीसरे दशक के दौरान बेरोज़गार रहा। लगभग दशक-भर के अभूतपूर्व औद्योगिक विकास के बावजूद "अमरीका में आधे से ज़्यादा परिवार किसी तरह गुज़ारा भर करने लायक थे या इससे भी बदतर हालत में जी रहे थे।" जो माल उत्पादित किया जा रहा था उसे ख़रीदने की स्थिति में वे बिलकुल नहीं थे। अनुमान लगाया गया है कि 1929 ई में पूरी व्यक्तिगत आय का लगभग एक तिहाई हिस्सा आबादी के पाँच प्रतिशत लोगों के हाथों में चला जाता था। ऐसे लोगों जिन्हें कि किसी भी अर्थ में अर्थव्यवस्था की पूँजीवादी प्रणाली का आलोचक नहीं कहा जा सकता, भी यह स्वीकार किया है कि "क्रय-शक्ति का बुनियादी असमान वितरण" इस घोर संकट की शुरुआत का एक मुख्य कारण था।



बेरोज़गारों द्वारा प्रदर्शन

शेयरों की कीमतों में गिरावट आने के साथ संकट शुरू हुआ। कीमतें गिरने से लोग घबराहट में अपने-अपने शेयर बेचने के लिए दौड़ पड़े। इससे शेयरों की कीमतों में और भी कमी आई। फलतः शेयर बाज़ार बिलकुल धराशायी हो गया। इसके बाद बैंकों का दिवाला निकलने का सिलसिला शुरू हुआ। 1929 और 1932 के बीच 5700 बैंकों का दिवाला निकल गया और 3500 बैंकों ने अपने-अपने कारोबार समेट लिए। बैंकों के दिवालिया होने से लाखों अमरीकियों की जीवनभर की कमाई डूब गई। इसका मतलब यह था कि लोगों के पास ख़रीदारी करने के लिए और भी कम पैसा रह गया। उद्योगों को बैंकों से कर्ज़ नहीं मिल सकते थे और जो माल वे तैयार करते थे, वह बिक नहीं पाता था। फलतः उद्योग बंद होने लगे। इससे और भी लोग बेरोज़गार हो गए और चीज़ों की माँगों में और भी कमी आ गई जिसके फलस्वरूप और भी कल कारख़ाने बंद हो गए। 1929 में बेरोज़गारों की संख्या 15 लाख थी, जो 1930 में 50 लाख पर, 1931 में 90 लाख और 1932 में एक करोड़ तीस लाख पर पहुँच गई। इसका मतलब यह था कि 1932 में संयुक्त राज्य के कुल श्रम बल का 25 प्रतिशत से अधिक भाग बेकार था। किसानों की हालत भी शहरी मज़दूरों से बेहतर नहीं थी। कृषि उत्पादों के मूल्यों में भारी गिरावट आई। लाखों किसानों की ज़मीन उनके हाथों से निकल गई और वे निराश्रय हो गए।

नस्ली भेदभाव

1930 वाला दशक अमरीकी जनता के लिए एक भयावह काल था। सबसे बुरी हालत काले लोगों की थी। उनमें दो लाख

पागलपन पर

दिन का एक बजा था और मुझे भूख लगी थी। मैं एक रेस्त्राँ में घुसा, एक कुरसी पर बैठा और मेन्यु की तरफ़ हाथ बढ़ाया। मेरी मेज़ पर बैठे एक साहब उठ खड़े हुए।
"जनाब, जिन लोगों को आपका साथ पसंद नहीं, उन लोगों पर आप अपना साथ क्या जबरन थोपेंगे ?"
नहीं, मैंने कहा, मैं तो कुछ खाने आया हूँ।
"जनाब, क्या आपको मालूम नहीं कि यह सामाजिक समानता होगी ?"
साहब, ऐसा कुछ नहीं। यह सिर्फ़ भूख है – और मैंने खाना खाया।
दिन का काम ख़त्म करने के बाद मैंने सोचा थियेटर जाऊँ। वहाँ पहुँच कर जब अपनी सीट पर बैठा तो पास की सीट पर बैठी महिला परेशान होकर सिकुड़ने लगी। मैंने कहा, माफ़ कीजिए।
उसने बेरुख़ी से कहा, "क्या तुम्हें ऐसी जगह आना अच्छा लगता है जहाँ तुम्हें कोई नहीं चाहता"? नहीं, बिल्कुल नहीं, मैंने कहा। "तो तुम्हारा यहाँ होना कोई नहीं चाहता"।
यह सुनकर मुझे हैरानी हुई। मैंने कहा मुझे लगता है आपको ग़लतफ़हमी हुई है। मुझे सचमुच संगीत पसंद है और मेरे ख़्याल में संगीत भी चाहता है कि मैं उसे सुनूँ।
"दरबान", महिला बोली; "यह सामाजिक समानता है।"
नहीं, मैडम, दरबान ने कहा। यह बेथोवन की पाँचवीं सिंफ़नी का दूसरा चरण है।
थियेटर से निकल कर मैं उस होटल में पहुँचा जहाँ मैंने अपना सामान पहले भेज दिया था। मुझे देखकर होटल के क्लर्क की त्यौरियाँ चढ़ गईं।
"क्या चाहिए ?" उसने पूछा।
आराम, मैंने कहा।
"यह गोरा होटल है"-, उसने कहा।
मैंने आसपास देखा। इस तरह के रंग के लिए तो बहुत सफ़ाई की ज़रूरत है, मैंने कहा, लेकिन जैसा भी है मुझे कोई एतराज़ नहीं।
"हमें एतराज़ है", उसने कहा।
तो फिर, मैंने कहना शुरू ही किया था कि उसने टोक दिया।
"हम निग्गरों को यहाँ नहीं रहने देते", उसने कहा, "हम सामाजिक समानता नहीं चाहते।"
मैं भी नहीं चाहता, मैंने नम्रता से कहा। मुझे तो सिर्फ़ एक बिस्तर चाहिए।
मैं सोच में खोया रेलगाड़ी की ओर चल पड़ा। सोचा टैक्सास से जाने के लिए एक स्लीपर बर्थ ले लूंगा। मैं इस शहर से कुछ खुश नहीं हूँ।
"मैं तुम्हें कोई बर्थ नहीं दे सकता।"
मुझे तो बर्थ किराए पर चाहिए, मैंने कहा, दो रातों के लिए।
"टैक्सास में मैं तुम्हें कोई बर्थ नहीं दे सकता", उसने कहा।
"यहाँ पर इसे सामाजिक समानता समझा जाता है।"

मैं इसे बर्बरता समझता हूँ, मैंने कहा।
सोचा पैदल ही चलूँ।
पैदल चलने लगा तबतो एक आदमी मिला। मुझे देखते ही वह सड़क की दूसरी तरफ़ चलने लगा जहाँ कीचड़ था। मैंने इसकी वजह पूछी।
"निग्गर गंदे होते हैं", उसने कहा।
कीचड़ भी तो गंदा है, मैंने कहा। और मैं तो इतना गंदा नहीं हूँ जितना तुम हो, कम से कम अभी तक तो नहीं।
"लेकिन तुम निग्गर तो हो, हो कि नहीं ?" उसने पूछा।
मेरे दादा को यह कहा जाता था।
"तब, फिर", उसने बड़े फ़ख्र से कहा, जैसे उसे कोई विजय प्राप्त हो गई हो।
तुम दक्षिण में रहते हो ? मैंने ख़ुशमिजाज़ी से पूछा।
"हाँ, अवश्य।" वह गुस्से से बोला, "और भूखा मरता हूँ।"
मेरे ख़्याल में तुम्हें और नीग्रो लोगों को मिलकर भुखमरी के ख़िलाफ़ मतदान कर उसे मिटा देना चाहिए।
"हम लोग उन्हें मतदान नहीं करने देते।"
हम लोग ? क्यों नहीं ? मैंने आश्चर्य से पूछा।
"निग्गर जाहिल होता है। मतदान के काबिल नहीं होता।" लेकिन मैंने कहा, मैं तो तुम से कम जाहिल हूँ।
"लेकिन तुम निग्गर हो"।
हाँ, इस शब्द से तुम्हारा जो मतलब है वह तो ज़रूर हूँ।
"तो फिर" उसमें फिर वही बेमानी जीत के फ़ख्र का भाव दिखाई दे रहा था। "इसके अलावा", वह बोला, "मैं नहीं चाहता कि मेरी बहिन किसी निग्गर से शादी करे"।
मैंने उसकी बहिन को देखा नहीं था इसलिए धीरे से कहा, उसे ख़ुद ना कहने दो।
"भगवान की कसम वह अगर हाँ भी कहे तो तुम उससे शादी नहीं कर सकते।"
लेकिन ... लेकिन मैं तो उससे शादी नहीं करना चाहता।
बातचीत में व्यक्तिगत मोड़ आने से थोड़ा परेशान होकर मैंने कहा।
"क्यों नहीं।" वह पहले से भी ज़्यादा गुस्सा होकर गुर्राया।
क्योंकि मैं पहले से ही शादीशुदा हूँ और मैं अपनी पत्नी को बहुत चाहता हूँ।
"क्या वह निग्गर है ?" उसने शंका भरे भाव से पूछा। हाँ, मैंने कहा, उसकी दादी को यही कहते थे।
"देखा।" वह चिल्लाया उसी बेतुकी मूर्खता से।
मैं हार गया।
जाओ अपनी राह लो, मैंने कहा, या तो तुम पागल हो या मैं।
"हम दोनों ही हैं", यह कहता हुआ वह कीचड़ में लड़खड़ाते हुए आगे बढ़ गया।

[डब्ल्यू.ई.बी. दु बॉइस की पुस्तक, **ऐन. ए.बी.बी.सी. ऑफ़ कलर** से लिया गया एक लेख जो सर्वप्रथम *क्राइसिस* पत्रिका, खंड 26, 1922 में छपा था]

नोट : अश्वेत लोगों के लिए अपमानजनक शब्द "निग्गर" का प्रयोग होता था। संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी राज्यों में रंगभेद की नीति प्रचलित थी। टैक्सास अमरीका का एक राज्य है।

से अधिक सैनिक थे जिंन्हें प्रथम विश्व युद्ध में यूरोप के मोर्चों पर भेजा गया था। घर लौटकर उन्होंने पाया कि उनके ख़िलाफ़ नस्ली भेदभाव और भी तीव्र हो उठा है। गोरों की भीड़ों द्वारा कालों की हत्या की वारदातें बढ़ गई थीं। यहाँ तक कि लड़ाई से लौटे काले लोगों को भी अपमानित और प्रताड़ित किया जाता था। गोरों की भीड़ उनकी हत्या तक कर देती थी। नस्ली अलगाव और भेदभाव पूरे देश में फैल गया था और यह दक्षिणी राज्यों तक ही सीमित नहीं रह गया था। देश के कई हिस्सों में गोरों के कु क्लक्स क्लान जैसे आतंकवादी गिरोह सक्रिय हो गए थे। अब केवल काले लोग ही नहीं, बल्कि यहूदी, विदेशी और "नस्ली तौर पर अशुद्ध" माने जाने वाले अन्य समुदाय भी उनकी हिंसा के शिकार हो रहे थे। महामंदी के दौर में अमरीका के काले लोगों की स्थिति और भी ख़राब हो गई। गोरों की माँग थी कि जब तक हर एक गोरे को रोज़गार नहीं मिल जाता तब तक कोई भी रोज़गार कालों को न दिया जाए। लाखों काले लोग दक्षिण राज्यों से प्रवास करके उत्तर चले गए, लेकिन वहाँ भी स्थिति बेहतर नहीं थी। अनुमान लगाया गया है कि 1932 में अमरीका के कालों में से लगभग एक-तिहाई लोग बेरोज़गार थे और एक-तिहाई के पास पूरा रोज़गार नहीं था।

1930 वाला दशक अमरीकी समाज में आमूल परिवर्तनवाद का भी काल था। इस कालावधि में वहाँ एक प्रबल श्रमिक आंदोलन भी उभरने लगा था। समाजवाद की हिमायत करने वाले आमूल परिवर्तनवादी आंदोलन भी वहाँ

आरंभ हुए। संयुक्त राज्य अमरीका की कम्युनिस्ट (साम्यवादी) पार्टी का गठन पहले ही हो चुका था। इस अवधि में उसकी भी शक्ति बढ़ी और उसने काले और गोरे श्रमिकों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। काले लोगों ने भी नस्लवाद से लड़ने के लिए स्वयं को संगठित किया। ऊपर हम एन.ए.ए.सी.पी. की चर्चा कर चुके हैं। नस्लवाद के ख़िलाफ़ चलाई गई लड़ाई तथा गोरे और काले श्रमिकों को संगठित करने में इस संगठन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस काल में दो सरासर अन्यायपूर्ण मुकदमों ने संयुक्त राज्य को हिलाकर रख दिया। इन मुकदमों के ख़िलाफ़ अनेक दूसरे देशों में भी विरोध का प्रबल स्वर उठा। इनमें से एक मुकदमा था सैको और वेंज़ेती नामक दो इतालवी आप्रवासियों का। उन्हें हत्या के आरोप में गिरफ़्तार किया गया था। उनके ख़िलाफ़ जुटाए गए 'सबूत' आमतौर पर संदेह की नज़र से देखे गए। दोनों को मृत्यु-दंड दिया गया। अमरीका तथा दुनिया के अन्य भागों में आमतौर पर यह माना गया कि ये दोनों निर्दोष थे और उन्हें एक झूठे मामले में फँसाया गया था ताकि इस भय को बढ़ावा दिया जा सके कि संयुक्त राज्य को तोड़-फोड़ करने वाले तत्वों की ओर से क्रांति का ख़तरा है। दुनिया भर में मुकदमे की फिर से सुनवाई करने की माँग उठी लेकिन उसे अनसुना कर दिया गया और सैको तथा वेंज़ेती को फाँसी पर लटका दिया गया। दूसरा, स्कॉट्सबरो मुकदमे के नाम से जाना जाता है। यह वस्तुतः नस्लवाद का प्रसंग था। 1931 में दो गोरी वैश्याओं के साथ बलात्कार करने के आरोप में नौ काले लड़कों पर मुकदमा चलाया गया। जूरी के सभी सदस्य गोरे थे। उन्होंने नौ में से आठ को मृत्यु-दंड दे डाला। इस मामले को आमतौर पर लोग बिलकुल मनगढ़ंत मानते थे। इन लड़कों को बचाने के लिए एक राष्ट्रव्यापी अभियान छिड़ गया जिसे विश्व जनमत का समर्थन भी प्राप्त था। इस मामले में मृत्यु-दंड पर अमल तो नहीं किया गया, लेकिन इनमें से ज़्यादातर लड़के कई साल तक जेल के सीखचों के पीछे सड़ते रहे।

नई नीति

1929 की महामंदी को "आर्थिक इतिहाकार के रिक्टरस्केल पर नापा गया इतिहास का सबसे बड़ा भूकंप" कहा गया है।



फ्रैंकलिन डी.रूज़वेल्ट जो 1932 में अमरीकी राष्ट्रपति चुने गये थे, अपनी पत्नी एलीनर रूज़वेल्ट के साथ।

इसकी शुरुआत तो अमरीका से हुई, लेकिन अंत में उससे यूरोप के सभी देश प्रभावित हुए और उसका कमोबेश असर दुनिया के प्रत्येक देश पर पड़ा। यूरोप के लिए उसके परिणाम बहुत गंभीर हुए, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। अमरीका में आर्थिक संकट के कुछ गंभीरतम परिणामों का निवारण 1933 के बाद से आरंभ हो गया। यह फ्रैंकलिन डी. रूज़वेल्ट के राष्ट्रपतित्व काल में हुआ, जो सर्वप्रथम 1932 में इस पद के लिए निर्वाचित हुए और उसके बाद लगातार तीन बार और चुने गए। उन्होंने सुधार का जो कार्यक्रम आरंभ किया उसे "न्यू डील" अर्थात् "नई नीति" कहते हैं। जन-कल्याण का एक व्यापक कार्यक्रम शुरू किया गया जिससे आबादी के कई वर्गों के कष्टों में कमी आई, यद्यपि महामंदी का असर संयुक्त राज्य के द्वितीय विश्व युद्ध में शामिल हो जाने तक बना रहा। रूज़वेल्ट को

सामान्यत: काले लोगों का हमदर्द माना जाता था, लेकिन वास्तव में उनकी अवस्था सुधारने के लिए कोई विशेष कदम नहीं उठाए गए।

संयुक्त राज्य अमरीका और विश्व

संयुक्त राज्य के राष्ट्र संघ में शामिल होने से इन्कार कर देने से उस संस्था को बहुत बड़ा आघात लगा। इस दौर में संयुक्त राज्य मुख्य रूप से दुनिया के शेष भागों में अपने आर्थिक प्रभुत्व का विस्तार करने में जुटा हुआ था। विश्व अर्थतंत्र पर अमरीका के बढ़ते हुए प्रभुत्व का यूरोप तथा शेष विश्व पर गंभीर प्रभाव पड़ा। संयुक्त राज्य ने 1920 वाले दशक में जर्मनी तथा कुछ अन्य देशों को भारी कर्ज़ दिए जिससे यूरोप को अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने में बहुत मदद मिली। लेकिन इन देशों को अमरीका पर निर्भर होने के विनाशकारी परिणाम भुगतने पड़े। संयुक्त राज्य को शुरू में चीन में जापान की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा की फ़िक्र हुई क्योंकि उससे अमरीका के आर्थिक हितों को हानि पहुँच सकती थी। 1922 में जापान, ब्रिटेन, फ़्रांस और इटली के साथ एक संधिपत्र पर हस्ताक्षर किए गए। इस संधि का उद्देश्य चीन में "खुले द्वार" की नीति को सुनिश्चित करना था ताकि कोई देश चीन पर अपना एकछत्र नियंत्रण स्थापित न कर सके। इस संधि से जापान की नौसैनिक शक्ति पर भी कुछ अंकुश लगा, लेकिन तब भी वह प्रशांत महासागर की सबसे बड़ी नौ सैनिक ताकत बना रहा। 1931 में जापान द्वारा तथा बाद में जर्मनी और इटली द्वारा आरंभ किए गए अतिक्रमणों पर अंकुश लगाने के झंझट से अन्य पाश्चात्य देशों की तरह अमरीका भी बचता रहा। सोलह साल तक वह सोवियत संघ की सरकार को मान्यता देने से इन्कार करता रहा (और बाद में चीन की सरकार को मान्यता देने में उसे बीस वर्ष लगे)। लैटिन अमरीका में संयुक्त राज्य के आर्थिक प्रभुत्व में और भी वृद्धि हुई और फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट के राष्ट्रपति होने के पूर्व तक उसके मामलों में संयुक्त राज्य प्रत्यक्ष सैनिक हस्तक्षेप करता रहा। लैटिन अमरीका पर संयुक्त राज्य के प्रभुत्व या लैटिन अमरीकियों द्वारा प्रयुक्त मुहावरे का उपयोग करें तो "यांकी साम्राज्यवाद" के ख़िलाफ़ उनमें व्यापक रोष फैला।

सोवियत संघ

अधिकांश इतिहासकार रूसी क्रांति की गिनती बीसवीं सदी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में करते हैं। एक लंबे अर्से तक दुनिया के बहुत-से लोगों का यह विचार रहा कि यह क्रांति मानव इतिहास में एक नए युग की शुरुआत है। उन्होंने इसको "पूँजीवाद के विकल्प और उससे श्रेष्ठ व्यवस्था" के रूप में देखा, "एक ऐसी व्यवस्था जिसका पूंजीवाद पर काबू माना उसकी ऐतिहासिक नियति थी।" इसमें कोई संदेह नहीं कि बीसवीं सदी की दुनिया को जो रंग-रूप मिला उसमें इस घटना का बहुत बड़ा हाथ था। मानव इतिहास में हुई किसी भी अन्य क्रांति ने इस क्रांति की तरह समाज को बुनियादी तौर पर बदलने का दावा सामने नहीं रखा था। पाँच हज़ार वर्षों से अधिक समय पूर्व जब सभ्यता का आरंभ हुआ, तब से यदि हम दुनिया को एक इकाई मानकर देखें तो सभी "सभ्य" समाजों की सामान्य विशेषता, सामाजिक तथा आर्थिक विषमता एवं एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण थी। राज्य का रूप चाहे जो रहा हो, उसका उपयोग असमानता और शोषण की प्रणाली को कायम रखने के लिए किया गया। असमानता और शोषण की प्रणाली की समाप्ति और जिस समाज में एक व्यक्ति दूसरे के श्रम का शोषण करके न जी सके, ऐसे समाज की स्थापना को रूसी क्रांतिकारियों ने अपना लक्ष्य घोषित किया।

शांति तथा भूमि संबंधी घोषणा का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उसके शीघ्र बाद सभी उद्योगों तथा बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

रूस के राष्ट्रों के अधिकारों का एक घोषणापत्र जारी किया गया। जिसमें रूसी साम्राज्य के ग़ैर-रूसी राष्ट्रों के शोषण की समाप्ति का ऐलान किया गया। सभी जातियों के आत्मनिर्णय, समानता तथा संप्रभुता के अधिकारों की भी घोषणा की गई। ज़ारशाही द्वारा की गई सभी गुप्त संधियों को रद्द कर दिया गया और पूरब के देशों की जनता पर औपनिवेशिक शासन को उखाड़ फेंकने का आह्वान किया गया।

1918 में रूस को रूसी सोवियत समाजवादी गणसंघ (रशियन सोवियत फैडरेटिव सोशलिस्ट रिपब्लिक) घोषित किया गया। प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होते-होते बोलशेविकों ने भूतपूर्व रूसी साम्राज्य के प्राय: सभी प्रदेशों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था। सिर्फ़ एस्तोनिया, लैत्विया,

लिथुआनिया और फ़िनलैंड, जो कि अब स्वतंत्र राज्य बन चुके थे, उससे बाहर रह गए थे। पोलैंड भी एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया था जिसमें वे सभी पोली प्रदेश शामिल थे जो पहले रूसी साम्राज्य के हिस्से थे। इस बीच गृह-युद्ध भड़क उठा था और विदेशी सैनिक हस्तक्षेप आरंभ हो गया था। भूमि तथा ग़ैर-रूसी जातियों से संबंधित सोवियत नीति से सोवियत शक्ति को अपनी जड़ें जमाने में मदद मिली। 1920 में गृह-युद्ध और विदेशी हस्तक्षेप समाप्त हो गए।

युद्ध साम्यवाद और नवीन आर्थिक नीति

प्रथम विश्व युद्ध तथा उक्त क्रांति के बाद छिड़े गृह-युद्ध और विदेशी हस्तक्षेप के कारण रूस की अर्थव्यवस्था बिलकुल क्षत-विक्षत हो गई थी। इसके तत्काल बाद वहाँ अकाल पड़ा। इन सब कारणों से लाखों लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। 1921 में औद्योगिक उत्पादन 1914 के पहले के मुकाबले केवल 13 प्रतिशत हुआ। पूर्ण विध्वंस से बचने के लिए सोवियत सरकार ने कुछ कड़े कदम उठाए। भू-स्वामियों से उनके बड़े-बड़े खेत खलिहानों को छीनकर किसानों में बाँट दिया गया। किसान जो कुछ भी पैदा करते थे उसमें से उन्हें अपनी न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति भर कर सकने लायक पैदावार अपने पास रखकर बाकी सब सरकार को देना पड़ता था। इस अन्न से आबादी का बाकी हिस्सा अपना पेट भरता था। लगभग किसी भी वस्तु की न ख़रीद हो सकती थी और न बिक्री। उद्योगों से जो उत्पादन होता था वह श्रमिकों और अन्य लोगों को उनकी न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उन्हें मज़दूरी के तौर पर दे दिया जाता था। इन कार्रवाइयों के फलस्वरूप जिस प्रणाली का जन्म हुआ वह युद्ध-साम्यवाद (वार कम्युनिज़्म) के नाम से प्रसिद्ध है। इससे समाज में व्यापक असंतोष फैला और कुछ स्थानों पर विद्रोह भी भड़के।

1921 में 'नवीन आर्थिक नीति' नामक एक नई नीति अपनाई गई और "युद्ध साम्यवाद" के तहत उठाए गए कदम वापस ले लिए गए। किसानों के उत्पादन पर उनका नियंत्रण पुन: स्थापित कर दिया गया, वेतन नकद दिया जाने लगा और वस्तुओं का व्यापार फिर से शुरू हो गया। इन उपायों से क्षत-विक्षत अर्थव्यवस्था को पुन: सँभालने का प्रयत्न किया गया। कुछ उद्योगों में प्रबंध की ग़ैर-सरकारी व्यवस्था आरंभ की गई और बहुत-से छोटे उद्योगों को खानगी के हाथों में रहने दिया गया। बहुत बड़ी संख्या में सहकारी समितियों की स्थापना की गई। 1921 में देश के एक बड़े भाग में फ़सलें बहुत ख़राब हो गईं जिससे व्यापक भुखमरी की स्थिति पैदा हो गई। उत्पीड़ितों को राहत पहुँचाने का देशव्यापी कार्यक्रम आरंभ किया गया। अनेक अन्य देशों के लोगों ने भी सोवियत जनों को सहायता पहुँचाने की व्यवस्था की। यद्यपि सोवियत सरकार को मान्यता देने को संयुक्त राज्य तैयार नहीं था, लेकिन उसे खाद्य पदार्थ उसने भी भेजे।

औद्योगिक विकास तथा सामूहिकीकरण

नवीन आर्थिक नीति के फलस्वरूप रूसी अर्थव्यवस्था में इतना सुधार अवश्य हुआ कि वह युद्ध से पूर्व के स्तर पर पहुँच गई। इस नीति ने आगे के विकास के लिए बुनियाद का काम किया। नवीन आर्थिक नीति 1928 तक लागू रही जिसके बाद एक के बाद एक पंचवर्षीय योजनाओं के जरिए आर्थिक विकास में तेज़ी लाने का प्रयत्न किया गया। पहली पंचवर्षीय योजना 1929 में आरंभ की गई और दूसरी 1934 में। जब द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ हुआ तब तक सोवियत संघ (जो 1924 में स्थापित हुआ और सोवियत रूस जिस का हिस्सा बन गया) एक प्रबल औद्योगीकृत और सैनिक शक्ति बन चुका था। अब तक कोई भी अन्य देश अपना औद्योगीकरण इतनी तेज़ी से नहीं कर पाया था जितनी तेज़ी से सोवियत संघ ने किया। साथ ही जिन परिस्थितियों में उसकी अर्थव्यवस्था का विकास हुआ, वे अन्य देशों की परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न थीं। यह सफलता उसने अपने ही आंतरिक संसाधनों का उपयोग करके, पूर्ण रूप से राज्य की देख-रेख तथा स्वामित्व में प्राप्त की थी। नवीन आर्थिक नीति के दौर में जो निजी उद्यम थे उनको राज्य ने अपने हाथों में ले लिया और उद्योग तथा व्यापार पर निजी स्वामित्व तथा नियंत्रण का बिल्कुल ख़ात्मा कर दिया गया। ध्यान देने योग्य है कि सोवियत संघ विश्वव्यापी महामंदी के प्रभाव से बचा रहने वाला दुनिया का एकमात्र देश था।

कृषि क्षेत्र में भारी परिवर्तन हुए। जो परिवर्तन आरंभ किए गए उनके बारे में ख़्याल था कि उनसे कृषि के आधुनिकीकरण का रास्ता साफ़ हो जाएगा और मशीनों तथा ट्रैक्टरों के उपयोग की संभावनाएँ बढ़ेंगी। लेकिन मानव हित की दृष्टि से उनके विनाशकारी परिणाम निकले। बड़े-बड़े राजकीय फ़ार्मों की स्थापना की गई। बाकी फ़ार्मों का सामूहिकीकरण कर दिया गया। किसानों की अलग-अलग जोतों को मिलाकर सामूहिक फ़ार्म बना दिए गए जिन्हें "कोलखोज़" कहा जाता था। 1930 वाले दशक के अंत तक लगभग सारी ज़मीन सामूहिक फ़ार्मों के अधीन लाई जा चुकी थी। किसान इन फ़ार्मों पर सामूहिक रूप से काम करते थे। ज़मीन के किसी टुकड़े पर उनकी कोई मिल्कियत नहीं थी। बहुधा यह सब कराने के लिए बहुत ज़ोर-ज़बरदस्ती करनी पड़ती थी। संपन्न किसानों के वर्ग को मिटा दिया गया। ऐसा ख़्याल है कि सामूहिकीकरण की प्रक्रिया की इस अवधि में लाखों किसान मारे गए।

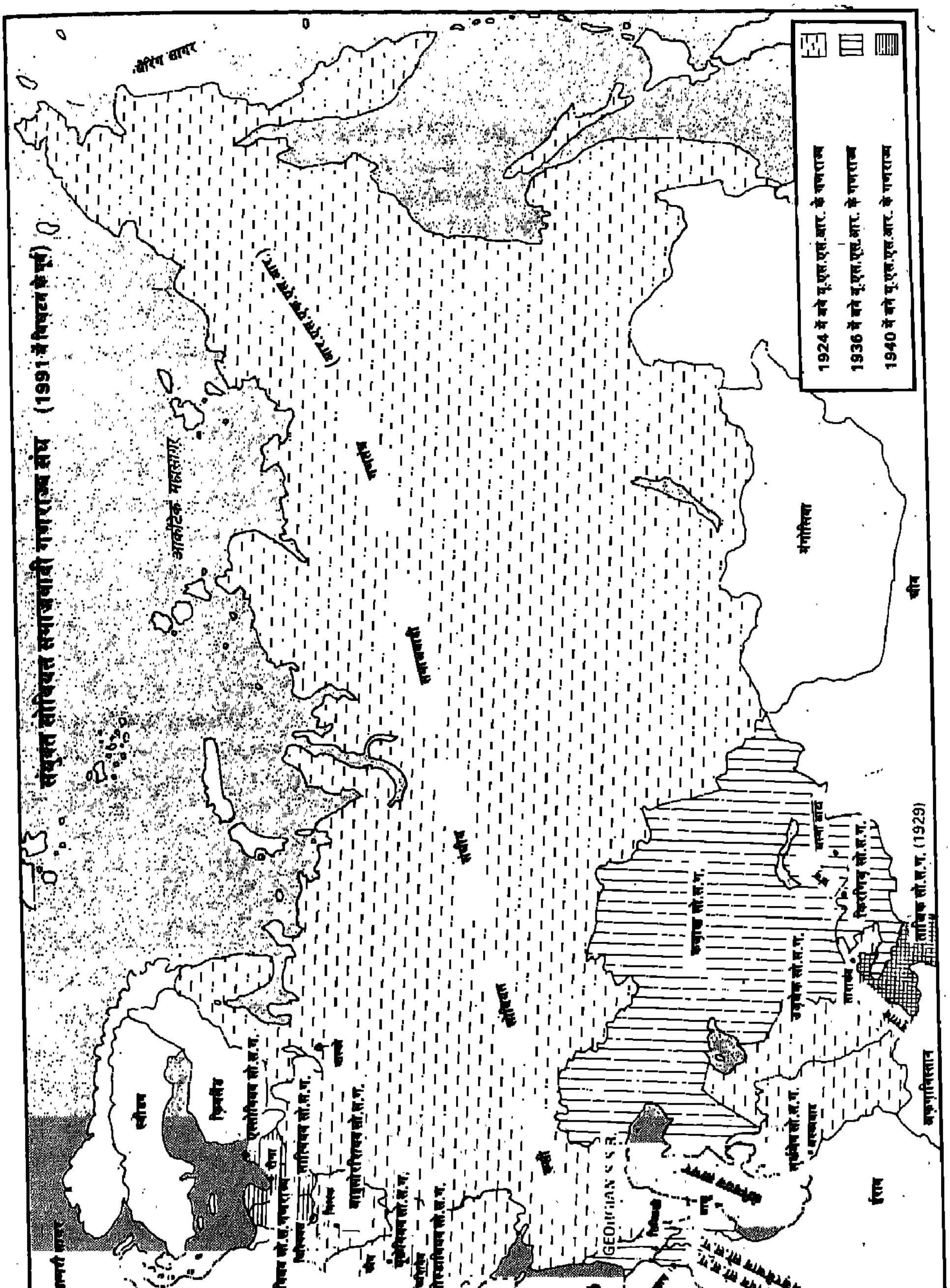
सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ

1924 ई. में घोषित एक नए संविधान के अनुसार रूस, जॉर्जिया, आरमेनिया, तुर्कमेन, उक्रेन, आज़रबेजान, कॉकेसस आदि सभी गणतंत्र एक संघ के अधीन लाए गए। इसका नाम था– सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ (यूनियन ऑफ़ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स)। 1936 में जब एक अन्य संविधान लागू किया गया तब तक सोवियत संघ में ग्यारह गणतंत्र शामिल हो चुके थे। इन गणतंत्रों का गठन राष्ट्रीयता तथा सभी राष्ट्रों की समानता के सिद्धांतों के आधार पर किया गया था। संविधान के अनुसार उन्हें सोवियत्त संघ से अलग होने का भी अधिकार था। इस संविधान में भूतपूर्व रूसी साम्राज्य की प्रत्येक राष्ट्रीयता को अपनी भाषा और संस्कृति को प्रश्रय देने का अधिकार प्रदान किया गया। सोवियत संघ के एशियाई गणतंत्रों के सांस्कृतिक तथा आर्थिक विकास ने एशिया के अन्य देशों के लोगों को, जो स्वयं को औपनिवेशिक शासन से मुक्त कराने के लिए संघर्ष कर रहे थे, विशेष रूप से प्रभावित किया।

एकदलीय शासन से तानाशाही की ओर

सोवियत संघ के राजनीतिक विकास के साथ वहाँ जनता की स्वतंत्रताओं तथा लोकतंत्र के सिद्धांतों का घोर उल्लंघन भी किया जा रहा था। जब क्रांति के लिए संघर्ष चल रहा था उन दिनों गठित की गई सोवियतों की प्रशंसा करते हुए उन्हें लोकतंत्र का सच्चा और प्रामाणिक रूप कहा गया था। उनके फ़ैसलों में विशाल जनसमुदायों की शिरकत होती थी। ये फ़ैसले जन-जीवन को प्रभावित करने वाले होते थे। इस तरह लाखों लोग राजनीतिक गतिविधियों में प्रत्यक्ष भागीदारी करने लगे। कई राजनीतिक दलों और मंडलियों जैसे सोशलिस्ट रिवॉल्युशनरियों (समाजवादी क्रांतिकारियों), मेनशेविकों आदि के सदस्य सोवियतों में शामिल होते थे। लेकिन गृह-युद्ध के दौरान और बाद में जब विद्रोहों की कोशिशें की गईं उस समय उन सबको देश के राजनीतिक जीवन से मिटा दिया गया। इन दलों के अधिकतर नेता या तो देश छोड़कर चले गए या उन्हें साइबेरिया में नज़रबंद कर दिया गया। जब क्रांति ने अपनी जड़ें भली-भाँति जमा लीं और प्रतिक्रांतिकारी आंदोलन के सफ़ल होने की कोई संभावना नहीं रह गई तब भी उन्हें देश के जीवन में कोई राजनीतिक भूमिका निभाने की इजाज़त नहीं दी गई।

बोलशेविक दल, जो बाद में सोवियत संघ के साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ द सोवियत यूनियन) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, देश का एकमात्र राजनीतिक दल रह गया था। इस दल ने देश पर अपना एकछत्र नियंत्रण स्थापित कर लिया। इस दल के अंदर भी धीरे-धीरे समस्त लोकतंत्र का ख़ात्मा होता गया। बोलशेविक दल का विकास ज़ार की तानाशाही के समय में हुआ था। तब बोलशेविकों के लिए एक वैध दल के रूप में खुलेआम काम करना असंभव था। तत्कालीन व्यवस्था को क्रांति द्वारा उखाड़ फेंकने के लिए एक प्रयत्नशील दल के रूप में उसकी एक ख़ास किस्म की कार्यपद्धति बन गई थी, जिसके तहत दल के अंदर बहसें और विवाद तो हो सकते थे और कभी-कभी वे काफ़ी उग्र रूप भी धारण कर सकते थे, लेकिन एक बार बहुमत से कोई फ़ैसला हो जाने पर उसके सदस्य उस पर अमल करने को बाध्य होते थे। जब तक रूसी क्रांति का सबसे बड़ा नेता लेनिन जीवित रहा, दल की यह कार्य पद्धति कायम रही। ऐसे अवसर भी आते थे जब अन्य कम्युनिस्ट नेता लेनिन का खुल्लम-खुल्ला विरोध करते थे और ऐसे अवसरों के उदाहरण भी मिलते हैं जब लेनिन बिल्कुल अकेला पड़ गया था। लेकिन


संयुक्त सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (1991 में विघटन के पूर्व)
1924 में बने यू.एस.एस.आर. के गणराज्य
1936 में बने यू.एस.एस.आर. के गणराज्य
1940 में बने यू.एस.एस.आर. के गणराज्य
बेरिंग सागर
आर्कटिक महासागर
मंगोलिया
चीन
ईरान
अफगानिस्तान
स्वीडन
फिनलैंड
GEORGIAN S.S.R.
(1929)

स्टालिन की व्यक्ति पूजा

मेरे मास्को पहुँचने के शीघ्र बाद संपादक ने मुझे स्टेख़ानोवाइट्स के सम्मेलन का टिकट दिया। मैं वहाँ निर्धारित समय से एक घंटा पहले ही पहुँच गया लेकिन क्रेमलिन का विशाल सभागार पहले से ही खचाखच भरा हुआ था। अपनी-अपनी कुर्सियों पर लोग बैठे थे और धीमी आवाज़ में आपस में बातें कर रहे थे। कोई खड़ा हुआ नहीं था। पेरिस में तंबाकू के धुएँ से भरे सभा भवनों में होने वाली शोरगुल से भरी सभाओं से यह बहुत ही अलग तरह की थी। पड़ोस में बैठे लोगों से मैंने स्टेख़ानोव कहाँ बैठा है, दिखाने को कहा और पूछा कि क्या वे क्रिवोनोस, इज़ोटोव और विनोग्रादोव्स को जानते हैं।

अचानक सब लोग खड़े हो गए और ज़ोर-ज़ोर से तालियाँ बजाने लगे। बग़ल के एक दरवाज़े से, जो मुझे नहीं दिख रहा था, स्टालिन प्रकट हुआ और उसके पीछे पोलिट ब्यूरो के सदस्य जिन्हें मैं गोर्की की डाचा में मिल चुका था, दाख़िल हुए। दर्शक तालियाँ बजाने लगे और नारे लगाने लगे। यह बहुत देर तक चलता रहा, शायद दस-पंद्रह मिनट तक। जवाब में स्टालिन ने भी ताली बजाई। जब तालियाँ बजना कम होना शुरू हुआ तो ज़ोर से कोई चिल्लाया : "स्टालिन महान की जय हो" और तालियों का और नारों का सिलसिला फिर शुरू हो गया। अंत में जब सब बैठ गए तो एक महिला की गूँजती आवाज़ आई : "स्टालिन यशस्वी हो।" हम फिर खड़े हो गए और फिर से तालियाँ बजाने लगे।

जब यह सब समाप्त हुआ तो मेरी हथेलियाँ दुख रही थी। मैं स्टालिन को पहली बार देख रहा था और उससे मैं अपनी आँखें हटा नहीं सका। मैं उसे उसके सैंकड़ों चित्रों से पहचानता हूँ, उसके ट्यूनिक और मूँछों से परिचित हूँ लेकिन मेरी कल्पना में उसका कद लंबा था। उसके बाल काले स्याह थे, माथा नीचा था, आँखें, तीक्ष्ण और अर्थपूर्ण थीं। कभी-कभी वह दाईं या बाहिनीं ओर झुक कर मुस्कराता था और बाकी समय बिल्कुल स्थिर बैठा रहा लेकिन उसकी आँखों से बराबर रोशनी झलकती रही। मुझे लगा कि मैं उसको सुन नहीं रहा हूँ, उसको देखने में मैं इतना लीन हो गया था। मैंने मुड़के देखा तो यह लगा कि हर कोई यही कर रहा है, उसे देखने में लीन है।

घर लौटते हुए मुझे कुछ बेचैनी का भाव हुआ। इसमें शक नहीं कि स्टालिन एक महान व्यक्ति है लेकिन वह एक कम्युनिस्ट और एक मार्क्सवादी है। हम नई संस्कृति के बारे में बहुत बात करते थे लेकिन अपने व्यवहार में जादू-टोना करने वाले उस शमन से भिन्न नहीं थे जिसे मैंने (उत्तरी एशिया में) अपर शोरिया के क्षेत्र में देखा था। मैंने अपने आपको एकदम संभाला। मैं शायद एक बुद्धिजीवी की तरह तर्क कर रहा था। अनेक बार मुझे यह सुनना पड़ा था कि हम बुद्धिजीवी लोग अपने काल की चुनौतियों को नहीं समझते। हमारे लिए उपहासजनक शब्दों का उपयोग किया जाता था जैसे भ्रांति फैलाने वाला गला सड़ा उदारवादी, मूर्ख बुद्धिजीवी, आदि। लेकिन स्टालिन के बारे में जो कहा गया वह मेरी समझ के परे था : "नेताओं में सबसे बुद्धिमान," "महान प्रतिभा का जन नेता", "प्यारा पिता", "महान कर्णधार", "विश्व सुधारक", "शांति का निर्माता", "सूर्य"। फिर भी मैं अपने आपको समझाने में कामयाब हो गया कि मैं जनसमूह के मनोविज्ञान को नहीं समझता और हर बात का बुद्धिजीवी वर्ग के सदस्य होने के नाते से मूल्यांकन कर रहा हूँ, और ख़ासतौर पर इसलिए भी कि मैंने अपना आधा जीवन तो पेरिस में गुज़ारा है।

[रूसी लेखक इलिया एहरेनबर्ग की पुस्तक *पीपल, ईअर्स, लाईफ़,* खण्ड 4 का एक अंश]

इन मतभेदों की अभिव्यक्ति के कारण उन लोगों का दमन नहीं किया जाता था जो 'बहुमत नेतृत्व' से भिन्न राय रखते थे। इस प्रकार दल में आंतरिक लोकतंत्र कायम रखा जा सका।

1924 में लेनिन की मृत्यु के बाद दल के अंदर सत्ता के लिए तीव्र संघर्ष छिड़ गया। समाजवाद की रचना के लिए किन उपायों और किन तरीकों का इस्तेमाल किया जाए, क्या किसी एक देश में समाजवाद की रचना करना संभव है और क्या सोवियत सरकार का मुख्य कार्य विश्व क्रांति को बढ़ावा देना होना चाहिए–इन तमाम बातों के संबंध में दल के सदस्यों में गंभीर मतभेद थे। इसी प्रकार सामूहिकीकरण तथा औद्योगीकरण के तरीकों के प्रश्न पर भी मतभेद थे। इन मतभेदों को दूर करने के लिए जो तरीका अपनाया गया वह सिर्फ़ यह नहीं था कि बहुमत ने कोई फ़ैसला कर लिया तो उस पर अमल शुरू हो गया। ऐसा तो किया ही जाता था, लेकिन साथ ही जो लोग फ़ैसले का विरोध करते थे उन्हें दल तथा देश का दुश्मन मान लिया जाने लगा।

दल के अंदर पहला बड़ा संघर्ष स्टालिन और ट्रॉट्स्की के बीच हुआ। स्टालिन दल का महासचिव (जनरल सैक्रेटरी) बन गया था। क्रांति के दौरान और बाद में विदेश मंत्री तथा

युद्ध मंत्री के रूप में ट्रॉट्स्की की भूमिका को सिवाय लेनिन के और किसी से कम महत्वपूर्ण नहीं माना जाता था। लेकिन 1927 में इस संघर्ष में स्टालिन की जीत हुई और ट्रॉट्स्की को दल से, और बाद में 1929 में देश से ही निकाल दिया गया। 1940 में स्टालिन ने मैक्सिको में ट्रॉट्स्की जहां पिछले कुछ वर्षों से रह रहा था, मरवा डाला। कई अन्य नेताओं पर भी ट्रॉट्स्की समर्थक होने का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ़्तार करके प्राणदंड दे दिया गया। अलग-अलग मामलों में स्टालिन की नीतियों से असहमति प्रकट करने वाले दल के दो अन्य नेताओं—ज़िनोवीव और बुख़ारिन—को भी ख़त्म कर दिया गया।

जो देश एक नए प्रकार के समाज और एक श्रेष्ठतर सभ्यता की रचना करने का दावा कर रहा था, उसी देश में 1930 वाले दशक में धीरे-धीरे एक व्यक्ति की तानाशाही कायम हो गई। सारी सत्ता स्टालिन के हाथों में सिमट आई। उसे हर ज्ञान का स्रोत माना जाने लगा। उसके फ़ैसले पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती थी। कुछ समाजवादी चिंतकों और नेताओं के लेखन में "सर्वहारा की तानाशाही" को समाजवादी समाज की रचना के एक चरण के रूप में चित्रित किया गया था। सभी पूँजीवादी देशों के बारे में कहा गया कि उनमें बुर्जुआ अर्थात् पूँजीवादी वर्ग की तानाशाही है। जहाँ लोकतांत्रिक राजनीतिक संस्थाएँ कार्यरत थीं उनके बारे में भी यही नज़रिया पेश किया गया। तर्क यह दिया गया कि इन देशों में भी राज्य बुर्जुआ वर्ग के प्रभुत्व को क़ायम रखने का एक उपकरण है। इसी प्रकार "सर्वहारा की तानाशाही" को एक ऐसा राज्य बताया गया जो सत्ता का उपयोग श्रमिक वर्ग के प्रभुत्व को कायम रखने के लिए करेगा। लेकिन इस "तानाशाही" के आकलन में उन्होंने यह नहीं कहा कि इसका मतलब है राजनीतिक स्वतंत्रता का ख़ात्मा, अन्य सभी राजनीतिक दलों का उच्छेद और एक ही दल का शासन। सोवियत संघ में हुआ यही सब। सोवियत संघ की राजनीतिक व्यवस्था ने वास्तव में जो स्वरूप धारण किया उसका मतलब अव्वल तो सत्ताधारी दल की तानाशाही थी और चूँकि उस दल पर स्टालिन का वर्चस्व था, इसलिए प्रकारांतर से उसका अर्थ स्टालिन का 'अधिनायकत्व' था। 1953 ई. में स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत कम्युनिस्ट नेताओं ने इस स्थिति को स्टालिन की "व्यक्ति पूजा" की संज्ञा दी।



जोसेफ़ स्टालिन

स्टालिन की तानाशाही या "व्यक्ति पूजा" के कारण सोवियत संघ में समाजवाद की रचना में गंभीर विकृतियाँ पैदा हो गईं। 1934 ई. में लेनिनग्राड (अब सेंट पीटर्सबर्ग) की कम्युनिस्ट पार्टी के नेता किरोव की हत्या कर दी गई। आमतौर पर यह माना जाता है कि उसकी हत्या स्टालिन ने करवाई। लेकिन इस हत्या का लाभ उठाकर स्टालिन ने ऐसे हर व्यक्ति के दमन का सिलसिला आरंभ कर दिया जिसकी वफ़ादारी के बारे में उसे तनिक भी संदेह होता था। इस सिलसिले ने शीघ्र ही व्यापक रूप धारण कर लिया और "बृहत् सफ़ाई अभियान" (द ग्रेट पर्ज) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस "सफ़ाई अभियान" में मारे गए लोगों की संख्या का पूरा अंदाज़ा अब लगाया जाने लगा है। यह संख्या विशाल थी। इनमें कुछ सर्वप्रमुख साम्यवादी नेता, क्रांति के पुराने सैनानी, लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक, सैनिक तथा असैनिक अधिकारी एवं कुछ अन्य देशों के साम्यवादी नेता भी शामिल थे।

सोवियत संघ से बाहर के जो लोग समाजवाद से सहानुभूति रखते थे और अपने देश में औपनिवेशिक शासन या पूँजीवादी शोषण के ख़िलाफ़ संघर्ष में लगे हुए थे, उन्हें काफ़ी लंबे अर्से तक उन अपराधों की भयावहता का एहसास नहीं हुआ जो 'समाजवाद' के नाम पर किए जा रहे थे। इसका एक कारण यह था कि सोवियत संघ ऐसे देशों से घिरा हुआ था जो उसके और समाजवाद के प्रति बैर रखते थे। इनमें से कुछ देशों ने सोवियत संघ के ख़िलाफ़ अपने आक्रामक मंसूबों का खुल्लम-खुल्ला इज़हार भी किया और घोषणा की कि वे साम्यवाद को कुचल देंगे। इनमें से बहुत-से देशों ने कई देशों को अपनी औपनिवेशिक गिरफ़्त में ले रखा था। इन देशों की अर्थव्यवस्था असमानता को जन्म देती थी जिसके फलस्वरूप इन देशों में भारी बेरोज़गारी, दुख और दरिद्रता पैदा हुई थी। सोवियत संघ के अंदर जो दमन चल रहा था उसे समाजवाद के हमदर्दों ने 'सोवियत संघ की अपनी आज़ादी की हिफ़ाज़त करने की कोशिशों' और 'एक वैरी दुनिया में समाजवादी व्यवस्था की रक्षा करने के प्रयत्नों' के रूप में देखा।

सोवियत राज्य की विदेश नीति

अपनी अंतर्राष्ट्रीय भूमिका के कारण सोवियत संघ बाकी सभी महाशक्तियों से अलग एक शक्ति के रूप में दिखाई पड़ने लगा। युद्ध के बाद केंद्रीय शक्तियों के साथ की जाने वाली शांति-संधियों के मसविदे तैयार करने के लिए पेरिस में आयोजित शांति सम्मेलन से उसे बाहर रखा गया था। 1921 में उसने ईरान और अफ़गानिस्तान के साथ संधियाँ कीं जिनसे इन देशों की स्वतंत्रता और संप्रभुता की नींव पुख़्ता हुई। उसी साल मुस्तफ़ा कमाल की सरकार के साथ, जो कि तुर्की की अखंडता को पुन: स्थापित करने के लिए लड़ाई में लगी हुई थी, एक संधि की गई। सोवियत संघ ने विभिन्न निरस्त्रीकरण सम्मेलनों में भाग लिया और सामान्य तथा संपूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए प्रस्ताव रखे। 1930 ई. वाले दशक से उसने फ़ासीवादी (फ़ासिस्ट) देशों की आक्रामक कार्रवाइयों का खुल्लम-खुल्ला विरोध किया और फ़ासीवादी अतिक्रमण को रोकने के लिए अन्य देशों के साथ संयुक्त मोर्चे बनाने की कोशिशें कीं। लेकिन अधिकांश पश्चिमी शक्तियों ने फ़ासीवाद को तुष्ट करने की नीति अपनाई जिसके पीछे उनकी यह निहित आशा काम कर रही थी कि फ़ासीवाद साम्यवाद को मिटा देगा। 1934 में सोवियत संघ ने राष्ट्र संघ में प्रवेश किया और शांति तथा राष्ट्रों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए संघ से दृढ़तापूर्ण कार्रवाई कराने की कोशिश की। उन दिनों सोवियत संघ एकमात्र ऐसी बड़ी शक्ति था जिसने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध किया। उसे अपनी आज़ादी के लिए लड़ने वाली जनता के मित्र के रूप में देखा जाने लगा।

यहाँ कम्युनिस्ट इंटरनेशनल (साम्यवादी अंतर्राष्ट्र) के गठन के बारे में दो शब्द कह देना प्रासंगिक होगा। युद्ध के आरंभ होते ही 'द्वितीय अंतर्राष्ट्र' बिखर गया था। युद्ध के दौरान विभिन्न देशों के समाजवादी दलों के वामपंथी हिस्सों को साथ लाने की कोशिश की गई। रूसी क्रांति के बाद कई देशों के समाजवादी दलों के वामपंथी हिस्सों ने साम्यवादी दलों का रूप ले लिया। सभी साम्यवादी दलों को एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन में मिलाने की कोशिशें आरंभ की गईं। मार्च 1919 में मास्को में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें तीस देशों के साम्यवादी दलों के प्रतिनिधि शामिल हुए। साम्यवादी अंतर्राष्ट्र (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल या संक्षेप में कोमिंटर्न) या 'तृतीय अंतर्राष्ट्र' का गठन इसी सम्मेलन में किया गया। 1930 वाले दशक के मध्य तक साठ से ज़्यादा देशों में साम्यवादी दल गठित हो चुके थे। इनमें से कुछ तो काफ़ी प्रबल थे – जैसे जर्मन और फ़्रांसीसी साम्यवादी दल। चीन का साम्यवादी दल भी एक शक्तिशाली दल के रूप में सामने आया था।

साम्यवादी दलों ने पूँजीवादी देशों के मज़दूरों और साथ ही उपनिवेशों के श्रमिक वर्गों के बीच अपने समर्थन का एक मज़बूत आधार तैयार कर लिया। महामंदी के दौर में पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था से जो दुख-दैन्य उत्पन्न हुआ था उसके ख़िलाफ़ श्रमिकों को संगठित करने में इन दलों ने लगभग सभी देशों में प्रमुख भूमिकाएँ निभाईं। औपनिवेशिक शासन वाले कुछ देशों में ये दल स्वतंत्रता संग्राम की एक प्रमुख शक्ति बन गए। रूसी क्रांति के प्रभाव में गठित अधिकांश साम्यवादी दल सोवियत संघ के साम्यवादी दल को अपना आदर्श और अक्सर साम्यवादी आंदोलन की अग्रणी शक्ति के रूप में

स्वीकार करते थे। रूसी क्रांति को भी समाजवादी क्रांति के आदर्श के रूप में देखा जाता था। सोवियत साम्यवादी दल से घनिष्ठ संबंध होने के कारण सभी साम्यवादी दलों को अन्य लोग संदेह की दृष्टि से देखते थे। कोमिंटर्न का मुख्यालय मास्को में होने के कारण उसे सोवियत विदेश नीति का एक उपकरण माना जाता था।

सोवियत साम्यवादी दल के पैटर्न या प्रतिरूप पर गठित किए गए साम्यवादी दलों और कोमिंटर्न के गठन से समाजवाद के लिए चलनेवाले क्रांतिकारी आंदोलनों को मज़बूती मिली, ऐसा दावा किया जाता था। वास्तव में इनसे समाजवादी आंदोलन में एक स्थायी विभाजन पैदा हो गया। साम्यवादी दलों तथा विभिन्न समाजवादी और समाजवादी लोकतांत्रिक (सोशल डेमोक्रेटिक) दलों के बीच बहुत-से मतभेद थे और वे सामान्य पारस्परिक सहमति और कार्रवाई के बिंदुओं की तलाश करने की बजाय एक दूसरे को अपने शत्रु के रूप में देखने लगे। जर्मनी में साम्यवादी दल तथा समाजवादी लोकतांत्रिक दल के आपसी झगड़ों के कारण नाज़ियों के लिए सत्ता हथिया लेना आसान हो गया। यह फूट न केवल समाजवाद और लोकतंत्र के लिए, बल्कि व्यापक दृष्टि से संपूर्ण विश्व-शांति के लिए भी, घातक साबित हुई। 1935 में कोमिंटर्न ने बुल्गारिया के साम्यवादी नेता जॉर्जी दिमित्रोव के नेतृत्व में आयोजित अपनी सातवीं कांग्रेस में फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ एक संयुक्त जन-मोर्चा तथा उपनिवेशों में एक संयुक्त साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा बनाने का आह्वान किया। यह एक महत्वपूर्ण घटना थी जिससे फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विशाल जन-समुदायों, साम्यवादियों, समाजवादियों तथा अन्य लोगों के ऐक्यबद्ध होने में मदद मिली। इस नीति के फलस्वरूप जो जन-मोर्चे स्थापित किए गए उन्होंने कुछ देशों में फ़ासीवादियों को सत्ता हथिया लेने से रोक दिया।

जापान

विस्तारवादी नीति

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जब जापान का आधुनिकीकरण आरंभ हुआ तभी से विस्तार की ललक उसके इतिहास की एक ख़ास विशेषता रही। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर उसने जो औपनिवेशिक लाभ प्राप्त कर लिए थे उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसने वाशिंगटन में जो संधि की थी, उससे उसकी नौसेना के विकास पर रोक ज़रूर लग गई थी, लेकिन तब भी वह प्रशांत क्षेत्र की सबसे बड़ी नौसैनिक शक्ति बना रहा। कुछ काल तक चीन तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में आर्थिक उपायों के सहारे जापान अपने प्रभुत्व को "शांतिपूर्ण ढंग से" फैलाने की नीति पर चलता रहा। लेकिन चीन के राष्ट्रीय एकीकरण के आंदोलन के ज़ोर पकड़ लेने और चीनी साम्यवादी दल का प्रभाव बढ़ जाने से यह ख़तरा पैदा हो गया कि जापान चीन पर अपने नियंत्रण का विस्तार नहीं कर पाएगा। उसका एक प्रमुख लक्ष्य चीन के एकीकरण को रोकना था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जापान की पहली बड़ी आक्रामक कार्रवाइयों में से एक यह थी कि 1931 में उसने मंचूरिया पर कब्ज़ा कर लिया और बाद में वहाँ एक कठपुतली सरकार प्रतिष्ठित कर दी। उसके बाद 1937 में उसने चीन पर एक भारी आक्रमण किया । 1938 में जापान ने जर्मनी के साथ कोमिंटर्न के ख़िलाफ़ एक संधि की। उसकी महत्वाकांक्षी योजना पूरे एशिया और प्रशांत क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की थी, जबकि इटली के साथ मिल कर जर्मनी बाकी की दुनिया में यही करने का मंसूबा बाँध रहा था।

युद्ध के बाद जापानी अर्थव्यवस्था का विकास जारी रहा और वह सूती कपड़े, रेयन तथा कच्चे रेशम का सबसे बड़ा निर्यातक देश बन गया। कच्चे माल, मशीनों तथा खाद्य पदार्थों के लिए दूसरे देशों पर उसकी निर्भरता ने उसकी अर्थव्यवस्था को कुछ कमज़ोर ज़रूर बना दिया था। इससे उत्पन्न कुछ समस्याओं को हल करने के लिए उसने अपने लोहा और इस्पात तथा भारी इंजीनियरी उद्योगों का खूब विस्तार किया। लेकिन जापानी उद्योगपति और राजनीतिक तथा सैनिक नेता जापान की समृद्धि के लिए चीन के संसाधनों तथा सामग्री को अपने कब्ज़े में करना आवश्यक मानते रहे।

राजनीतिक दमन

जापान का औद्योगिक विस्तार श्रमिकों के घोर शोषण की बुनियाद पर हुआ। उद्योगों और बैंकों पर "ज़ैबत्सु" नामक

मालदारों के एक छोटे-से गुट का नियंत्रण स्थापित हो गया था। ज़ैबत्सु का जापानी सरकार और राजनीतिज्ञों से अंतरंग संबंध था। श्रमिकों की रहन-सहन की अवस्था दयनीय थी। किसानों की हालत भी कुछ बेहतर नहीं थी। उनमें से ज़्यादातर लोगों के पास एकड़-दो एकड़ की बहुत छोटी-छोटी जोतें थीं। उनमें बहुत बड़ी तादाद रैयतों के रूप में काम करने वालों की थी। जापानी कृषि न तो जापान की बढ़ती हुई आबादी के दबाव को रोक पाने में समर्थ थी और न देश की खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पूरी करने में। देश में व्यापक असंतोष और अशांति फैल गई थी। 1919 में चावल की ऊँची कीमतों को लेकर देश में चारों और अशांति फैल गई। मज़दूरी सामान्यत: इतनी कम थी कि श्रमिक इन कीमतों पर चावल ख़रीद ही नहीं सकते थे। इस अशांति को आमतौर पर "चावल-विद्रोह" कहा जाता है। कारख़ानों, अमीरों के घरों और चावल के व्यापारियों की दुकानों पर हमले किए गए और उन्हें जला दिया गया। 1920 वाले दशक में हड़तालों का भारी दौर चल पड़ा और श्रमिक संघों का ज़ोर बढ़ने लगा। साम्यवादी और समाजवादी लोकतांत्रिक दलों का गठन हुआ जिन्होंने श्रमिकों तथा किसानों को अत्याचारपूर्ण अर्थतंत्र के ख़िलाफ़ संगठित करने की कोशिश की। इन दलों ने जापान की जनता को साम्राज्यवाद तथा युद्ध की नीति के विरुद्ध भी जागृत किया लेकिन उन्हें और इसी तरह के अन्य श्रमिक संघों तथा कृषक संगठनों को बड़ी कठोरता से दबा दिया गया। 1925 में "ख़तरनाक विचारों" को दबाने के लिए शांति रक्षा कानून बनाया गया। इस कानून के अनुसार शासन के स्वरूप में परिवर्तन करने या निजी संपत्ति के उन्मूलन की हिमायत करने वाला कोई संगठन बनाने वाले या ऐसे किसी संगठन में शामिल होने वाले किसी भी व्यक्ति को गिरफ़्तार किया जा सकता था। इस तरह की दमन-नीति की प्रतिक्रिया स्वरूप खड़े होने वाले प्रश्नों तथा अन्य राजनीतिक समस्याओं पर सैद्धांतिक परिचर्चाओं के आयोजन पर भी रोक लगा दी गई।

जापान में "सैनिक फ़ासीवाद"

1920 वाले दशक में जापान संसदीय शासन-व्यवस्था की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता प्रतीत हो रहा था। 1924 ई. में सभी पुरुषों को मताधिकार दे दिया गया, लेकिन स्त्रियों को अब भी इससे वंचित रखा गया। कुछ समय तक सरकार असैनिक तंत्र के अधीन काम करती प्रतीत हुई। तथापि सेना देश के राजनीतिक जीवन में एक प्रमुख शक्ति बनी रही और 1930 वाले दशक के आरंभ से सरकार पर उसका वर्चस्व लगातार बढ़ता ही चला गया। जब सेना ने सरकार पर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं किया था उस समय भी वह सरकार को खुलेआम चुनौती दे बैठती थी और सरकार असहाय देखती रह जाती थी। जापानी सेना जापानी समाज की सबसे प्रबल शक्ति थी। कई गुप्त समितियाँ गठित की गई थीं जिनसे सेना के घनिष्ठ संबंध थे। वे सभी समितियाँ उदारवादी, शांतिवादी तथा लोकतांत्रिक विचारों पर प्रहार करती रहती थीं। वे उग्र राष्ट्रवाद, जापानी संस्कृति की श्रेष्ठता तथा संस्कृति की शुद्धता को विदेशी प्रभावों से बचाए रखने के विचारों की हिमायत करती थीं। वे शांति, समाजवाद तथा लोकतंत्र के विचारों को 'विदेशी विचार' बताती थीं और इनसे जापान को बचाए रखना आवश्यक बताती थीं। जापान के "राष्ट्रीय तत्व" के संबंध में इन समितियों की अपनी कुछ ख़ास धारणाएँ थीं। सम्राट-पूजा का भाव उन सबमें था। वे इस विश्वास का प्रचार करती थीं कि "सम्राट की ख़ातिर मरने का मतलब अमर हो जाना है।" उनके अपने सशस्त्र गिरोह थे जिनके ज़रिए वे राजनीतिक हत्याएँ करवाती थीं। जापान के सशस्त्र बलों तथा बहुत-से राजनीतिक नेताओं की विचारधारा को रूपाकार देने का काम इन समितियों ने किया। साम्यवादियों तथा समाजवादी लोकतांत्रिक दलों को छोड़कर शेष सभी राजनीतिक शक्तियाँ जापान के साम्राज्यवादी विस्तार को एक वांछनीय लक्ष्य मानती थीं। दो युद्धों के बीच जापानी सरकार द्वारा अपनाई गई दमन नीति के कारण उक्त दोनों दल बिल्कुल दरकिनार हो गए थे। जो राजनीतिक प्रणाली जापान में उभरी उसे "सैनिक फ़ासीवाद" कहा जा सकता है। स्पष्टत: जर्मनी और इटली की फ़ासीवादी सरकारों से उसकी मित्रता बढ़ती गई।

1926 में हिरोहितो को उत्ताराधिकार में जापान का सम्राट-पद मिला। 1868 में जिस सम्राट के अधीन जापान का आधुनिकीकरण आरंभ हुआ था उसके शासन को "मेजी" अथवा "प्रबुद्ध शासन" कहा जाता था। सम्राट हिरोहितो ने

अपने राजत्व के लिए "शोवा" उपाधि अपनाई जिसका अर्थ है "प्रबुद्ध शांति"।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका

एशिया

भारत

दोनों महायुद्धों के बीच की कालावधि में एशिया के हर देश में राष्ट्रीय आंदोलनों का प्रचार-प्रसार हुआ। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के बारे में आप अन्यत्र विस्तार से पढ़ चुके हैं। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के शीघ्र बाद इस आंदोलन का एक नया दौर शुरू हो गया। यह साम्राज्यवाद के विरुद्ध जन-आंदोलनों का दौर था। 13 अप्रैल 1919 को ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अमृतसर के जलियाँवाला बाग़ में भीषण नर-संहार मचाया। इस हत्या कांड के शीघ्र बाद असहयोग आंदोलन छेड़ा गया जिसमें लाखों आमलोग शामिल हो गए। किसान, मज़दूर, छात्र, स्त्रियाँ तथा समाज के अन्य वर्गों के लोग भी स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। ब्रिटिश सत्ता का खुल्लमखुल्ला विरोध करना उन्होंने अपना धर्म बना लिया। 1929 के अंत में कांग्रेस ने, जो कि यहाँ स्वतंत्रता संग्राम को नेतृत्व प्रदान कर रही थी, पूर्ण स्वराज को अपना लक्ष्य घोषित किया। 1930 में एक व्यापक जन-आंदोलन छिड़ गया और लाखों लोगों ने ब्रिटिश शासकों के कानूनों को भंग करके जेल यात्राएँ कीं। राष्ट्रवादी संघर्ष के एक अंश के रूप में ही एक नए भारत की कल्पना विकसित हुई–स्वतंत्र, लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष तथा समानतावादी भारत की कल्पना। यह संघर्ष देश के उन भागों में भी फैल गया जिन पर ब्रिटिश समर्थन से भारतीय नरेश शासन कर रहे थे।

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन ने अन्य उपनिवेशों के स्वतंत्रता आंदोलनों तथा यूरोपीय देशों के फ़ासीवाद विरोधी आंदोलन से भी नज़दीकी संबंध स्थापित किए। राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए भारतीय समाज की पुनर्रचना को एक पूर्व शर्त के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। दुनिया के मामलों में स्वतंत्र भारत की क्या भूमिका होगी, इसकी रूपरेखा भी स्वतंत्रता संग्राम के इसी दौर में निर्धारित हुई। हर देश के स्वतंत्रता आंदोलन ने विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के तात्कालिक लक्ष्य के लिए तो लोगों को संगठित किया ही, साथ ही सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण एवं आधुनिक राष्ट्र की संरचना से संबंधित विचारों को भी अधिकाधिक बल मिला।

चीन

साम्राज्यवाद विरोधी लहर

1911 की क्रांति में डॉ. सुन यात-सेन की भूमिका, उस क्रांति के फलस्वरूप चीन का गणतंत्र घोषित किया जाना तथा सम्राट बनने का सपना देखने वाले युआन शि-काई का सत्ता हथियाना–इन बातों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। चीन का शासन युद्ध-नेताओं के हाथों में था जो चीन के अलग-अलग क्षेत्रों पर हावी थे और एक-दूसरे पर अधिकार जमाने के लिए आपस में लड़ते रहते थे। उन्हें विभिन्न विदेशी ताकतों से मदद भी मिलती थी और बदले में वे उन्हें तरह-तरह की रियायतें देते थे। प्रथम विश्व युद्ध के अंत में चीन में दो मुख्य सरकारें थीं। इनमें से एक पर गोमिंदांग का नियंत्रण था जिसका मुख्यालय कैंटन में था। डॉ. सुन यात-सेन इस सरकार के राष्ट्रपति बने। दूसरी सरकार का प्रधान एक जनरल था और मुख्यालय बेजिंग में था। पेरिस शांति सम्मेलन में जब शानतुंग को जापान को सौंप देने का फैसला किया गया तो 1919 में चीन में साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ एक लहर उठ खड़ी हुई। इसकी शुरुआत 4 मई 1919 को बेजिंग विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा आयोजित एक विरोध प्रदर्शन से हुई। इस घटना के साथ आरंभ होने वाले आंदोलन को **चार मई** का आंदोलन कहा जाता है। यह आंदोलन शीघ्र ही चीन के दूसरे हिस्सों में भी फैल गया।

चीनी राष्ट्रवादियों पर रूसी क्रांति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और वहाँ आमूल परिवर्तनवादी (रेडिकल) प्रवृत्तियाँ उभरने लगीं। 1921 में चीनी साम्यवादी दल का गठन किया गया जो शीघ्र ही चीन की एक बड़ी ताकत बन गया। चीन को एक करने में पश्चिमी देशों से कोई मदद पाने में नाकामयाब होकर डॉ. सुन यात-सेन ने सोवियत संघ से सहायता माँगी। 1924 में गोमिंदांग और साम्यवादी दल साथ

हो गए। साम्यवादी दल एक पृथक दल के रूप में कायम रहा, लेकिन साम्यवादी लोग गोमिंदांग में भी शामिल हो गए। तय किया गया कि एक राष्ट्रीय क्रांतिकारी सेना खड़ी की जाए। इस प्रयोजन को अमली जामा पहनाने के लिए सोवियत सैनिक तथा राजनीतिक सलाहकारों की सहायता से एक सैनिक अकादमी स्थापित की गई। 1925 में चीनी राष्ट्रवादी क्रांतिकारी सेना ने युद्ध नेताओं के ख़िलाफ़ कार्रवाई आरंभ कर दी। लेकिन मार्च 1925 में डॉ. सुन यात-सेन की मृत्यु हो गई और उसके लगभग दो वर्ष बाद चीन की परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गईं। गोमिंदांग और साम्यवादी दल के बीच का गठजोड़ टूट गया और उसके शीघ्र बाद गृह-युद्ध की परिस्थितियाँ पैदा हो गईं।

चीन में गृह-युद्ध

चीन के राजनीतिक एकीकरण के लिए राष्ट्रवादी क्रांतिकारी सेना के अभियान के साथ-साथ श्रमिकों तथा किसानों के आंदोलन भी आरंभ हो गए। 1925 में शंघाई में हड़तालें और प्रदर्शन किए गए। बात यह हुई थी कि जापानी उद्योगपतियों ने कुछ श्रमिक नेताओं को मरवा डाला था और ब्रिटिश पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ बरसाई थीं। ये हड़तालें और प्रदर्शन इन्हीं कार्रवाइयों के ख़िलाफ़ किए गए थे। मार्च 1927 में जब राष्ट्रवादी क्रांतिकारी सेना नानजिंग पहुँची तो ब्रिटिश और अमरीकी युद्ध पोतों ने उन पर गोलियाँ बरसाईं जिसमें सैकड़ों लोग मारे गए। इस समय गोमिंदांग दो-फाड़ हो गया था और राष्ट्रवादी क्रांतिकारी सेना के अध्यक्ष जनरल च्यांग काई-शेक ने नानजिंग में अपनी सरकार स्थापित की। किसानों तथा मज़दूरों के आंदोलनों के प्रबल हो उठने और गोमिंदांग में वामपंथी तत्वों की बढ़ती हुई ताकत से वह चौंक उठा था। अब उसे चीन पर से विदेशी प्रभुत्व समाप्त करने और देश के राजनीतिक एकीकरण की चिंता कम थी और वामपंथियों तथा साम्यवादियों को दबाने की ज़्यादा। उसके सैनिकों ने शंघाई में श्रमिकों के इलाकों पर हमला किया और हज़ारों श्रमिकों तथा साम्यवादियों को मौत के घाट उतार दिया। 1927 में साम्यवादियों के नेतृत्व में कैंटन में एक विद्रोह हुआ और वहाँ उन्होंने एक सोवियत सरकार स्थापित कर ली। लेकिन इस विद्रोह को दबा दिया गया और पाँच हज़ार श्रमिकों को मार डाला गया। इसके साथ ही चीन के राष्ट्रवादी आंदोलन में विभेद पैदा हो गया। सोवियत सलाहकारों को निकाल दिया गया और गोमिंदांग के बहुत-से नेताओं को, जिनमें डॉ. सुन यात-सेन की विधवा भी शामिल थीं, देश-निकाला दे दिया गया। कैंटन विद्रोह के दबा दिए जाने के बाद साम्यवादी लोग देश के विभिन्न भागों में बिखर गए और वे कुछ क्षेत्रों को अपने नियंत्रण में ले आए। अब चीन में गृहयुद्ध का एक लंबा दौर आरंभ हो गया जिसमें एक ओर च्यांग काई-शेक की सेना थी और दूसरी ओर चीनी साम्यवादी दल।



च्यांग काई-शेक

जब जापान ने मंचूरिया पर कब्ज़ा कर लिया तो पूरा चीन जापान-विरोधी भावना से आंदोलित हो उठा और वहाँ



माओ ज़ेडौंग (माओ त्से-तुंग)

जापानी माल के बहिष्कार का एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन आरंभ हो गया। लेकिन गोमिंदांग, जिसका नेता अब च्यांग काई-शेक था, और साम्यवादी लोग जापान के ख़िलाफ़ एक न हो सके। साम्यवादियों ने जापानी माल के बहिष्कार की आवाज़ अवश्य बुलंद की, लेकिन वे च्यांग काई-शेक से गठजोड़ करने को तैयार न थे। उधर च्यांग काई-शेक की सेना ने जो मुहिम शुरू की थी वह जापानियों के ख़िलाफ़ नहीं, बल्कि साम्यवादियों के विरुद्ध थी। इस बीच साम्यवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा था, ख़ास कर देहाती इलाकों में। इस काल में साम्यवादी दल का जो सबसे महत्वपूर्ण नेता उभरा वह था माओ ज़ेडौंग (माओ त्से-तुंग)। उसने इस विचार की हिमायत की कि चीन में किसान मुख्य क्रांतिकारी शक्ति है और उसने कृषक वर्ग की सहायता से ही क्रांति लाने की रणनीति अपनाई।

1934 में च्यांग काई-शेक ने कोई दस लाख की सेना के साथ दक्षिणी चीन के साम्यवादी अधिकृत क्षेत्रों पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। साम्यवादियों को विनाश से बचने के लिए अपने गढ़ का त्याग करना पड़ा। कोई एक लाख साम्यवादी उत्तर-पश्चिम चीन में येनान प्रदेश की ओर चले गए। इस देशांतरण में उन्होंने कोई 12,000 किलोमीटर का रास्ता तय किया। 'लंबे कूच' (लाँग मार्च) के नाम से प्रसिद्ध इस घटना से पूरे देश में साम्यवादियों की लोकप्रियता बढ़ गई। इस कूच के दौरान उन्होंने ज़मींदारों की ज़मीनें छीन कर किसानों में बाँट दीं। इस तरह वे च्यांग काई-शेक की सरकार के ख़िलाफ़ अपने समर्थन के आधार को लगातार दृढ़ बनाते रहे। अब तक लोगों के मानस में च्यांग काई-शेक सरकार की जो छवि बन गई थी वह यह थी कि यह बड़े ज़मींदारों, व्यापारियों और बैंकरों की सरकार है। एक ओर तो साम्यवादी जापानी अतिक्रमण के ख़िलाफ़ राष्ट्रव्यापी युद्ध का आह्वान कर रहे थे जबकि दूसरी ओर च्यांग काई-शेक की सेना केवल साम्यवादियों के पीछे पड़ी हुई थी।

1937 में जापान ने चीन पर भारी हमले शुरू कर दिए। च्यांग काई-शेक की सरकार इन हमलों के सामने टिक नहीं सकी और पीछे हट गई। उसकी सरकार नानजिंग छोड़कर चुंगकिंग चली गई। लेकिन अब तक जापानी आक्रमण के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बन चुका था। इसकी शुरुआत दिसंबर 1936 में एक नाटकीय घटना से हुई। च्यांग काई-शेक अपनी सेना को साम्यवादियों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए मनाने के उद्देश्य से सियान गया। उसकी सेना ने उसे गिरफ़्तार कर लिया और तभी मुक्त किया जब वह गृह-युद्ध समाप्त करके जापानियों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए साम्यवादियों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने पर राज़ी हो गया। उस समय से जापानी अतिक्रमण के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय प्रतिरोध युद्ध का एक आभास बराबर बना रहा। दोनों पक्ष यानी च्यांग काई-शेक की गोमिंदांग तथा माओ ज़ेडौंग के नेतृत्व में साम्यवादी लोग एक-दूसरे के विरुद्ध मन में शंका पाले रहे और एक-दूसरे के ख़िलाफ़ अपनी शक्ति बढ़ाने की कोशिश करते रहे। इस काल में साम्यवादी लोग जापानी अतिक्रमण के विरुद्ध चीन के राष्ट्रीय संघर्ष के सच्चे प्रतिनिधियों के रूप में सामने आए।

कोरिया

प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होते ही जापान के औपनिवेशिक शासन से कोरिया की मुक्ति का आंदोलन तीव्र हो उठा। रूसी

क्रांति से भी कोरिया में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन के प्रसार में सहायता मिली। 1918 में कोरिया के राष्ट्रवादियों ने स्वतंत्रता का एक घोषणा-पत्र तैयार किया। मार्च 1919 में यह घोषणा-पत्र सोल की एक सभा में पढ़कर सुनाया गया। उसके बाद प्रदर्शन किए गए जिनमें हज़ारों लोग शरीक हुए। शीघ्र ही इन प्रदर्शनों ने देशव्यापी विद्रोह का रूप ले लिया जिसमें डेढ़ लाख से अधिक लोग शामिल हुए। जापानी सेना ने विद्रोह को कुचल दिया। 8000 लोग मारे गए और 16,000 गंभीर रूप से घायल हुए। लगभग 50,000 लोग गिरफ़्तार किए गए। फिर भी किसानों के विद्रोह और श्रमिकों की हड़तालें चलती रहीं। चीन, जापान और सोवियत संघ तथा अन्य देशों में बसे कोरियाइयों ने भी कोरिया में जापान-विरोधी संघर्ष को मज़बूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1931 में जापान द्वारा मंचूरिया पर कब्ज़ा कर लिए जाने के बाद कोरियाइयों ने कोरिया के साथ ही मंचूरिया में भी जापानियों के ख़िलाफ़ सैनिक कार्रवाइयों का संगठन किया। जापानियों ने कोरिया को चीन तथा बाद में एशिया के अन्य देशों और सोवियत संघ के ख़िलाफ़ भी अपने सैनिक अभियानों का अड्डा बना लिया। उन्होंने कोरिया में अपने प्रति वफ़ादार संगठनों की स्थापना करने का भी प्रयत्न किया। इसके साथ ही उन्होंने अपनी आक्रामक लड़ाइयों में कोरियाई लोगों के इस्तेमाल का भी प्रयत्न किया।

दक्षिण-पूर्व एशियाई देश

फ़िलिपाइंस

फ़िलिपाइंस पर अमरीकी शासन के दौरान इस देश को अमरीका के आर्थिक पुच्छल्ले की स्थिति में डाल दिया गया था। वह अपने कुल निर्यात का 80 प्रतिशत, ख़ासकर चीनी, नारियल और तंबाकू अमरीका को बेचता था। उसका 70 प्रतिशत आयात अमरीका से होता था। अमरीकी शासन के अधीन उसके आर्थिक विकास का रूप बहुत कुछ वैसा ही था जैसा कि ज़्यादातर लैटिन अमरीकी देशों का था। वह चंद फ़सलें सिर्फ़ अपने उपनिवेशी आका के हाथों बेचने के लिए उगाता था। अधिकतर लैटिन अमरीकी देशों की ही तरह यहाँ भी ज़मीन के मालिक बड़े-बड़े ज़मींदार थे। कृषक असंतोष से आमूल परिवर्तनवादी राजनीतिक आंदोलनों का जन्म हुआ था जिनका उद्देश्य औपनिवेशिक शासन के साथ ही सामंती शोषण को भी समाप्त करना था। 1930 वाले दशक के आरंभ में किसानों का एक विद्रोह हुआ लेकिन उसे दबा दिया गया। देश की आज़ादी के लिए अन्य राजनीतिक आंदोलन भी उठे। 1935 में इस द्वीप-समूह को स्वायत्तता प्रदान की गई और साथ ही वादा किया गया कि दस साल बाद उसे आज़ादी दे दी जाएगी।

हिंद-चीन (इंडो-चाइना)

हिंद-चीन में वियतनाम, लाओस तथा कंबोडिया-ये तीन देश शामिल थे। गुयेन आई कोक, जो बाद में हो ची-मिन के नाम से प्रसिद्ध हुए, हिंद-चीन के सबसे बड़े नेता थे। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान लगभग एक लाख वियतनामी फ़्रांस भेजे गए थे, कुछ सिपाहियों के रूप में और कुछ श्रमिकों के तौर पर काम करने के लिए। वहाँ उनका संपर्क कुछ समाजवादी तथा अन्य आमूल परिवर्तनवादी आंदोलनों से हुआ। हो ची-मिन फ़्रांस के साम्यवादी दल के गठन से घनिष्ठता से जुड़े हुए थे। 1925 में उन्होंने वियतनाम के क्रांतिकारी युवा संघ (रिवॉल्युशनरी यूथ लीग) की स्थापना की। 1930 में विभिन्न साम्यवादी गुटों ने मिलकर वियतनामी साम्यवादी दल का गठन किया। बाद में इसे हिंद-चीन के साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडो-चायना) की संज्ञा दी गई। यह दल फ़्रांसीसी शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता संघर्ष में प्रमुख शक्ति बन गया। एक और भी दल था-वियतनाम राष्ट्रीय दल (नेशनल पार्टी)। इसकी रचना गोमिंदांग के आधार पर की गई थी। इस दल ने 1930 में एक विद्रोह का संगठन किया लेकिन उसे दबा दिया गया।

इंडोनेशिया

इंडोनेशिया में, जिसे उसके औपनिवेशिक शासक 'डच ईस्ट इंडीज़' कहते थे, डच शासन से मुक्ति के लिए राजनीतिक आंदोलनों तथा श्रमिकों एवं किसानों के संगठनों का उदय बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में हुआ था। इनमें इस्लामी गठजोड़ (इस्लामिक एलायंस) और इंडीज़ समाजवादी

लोकतांत्रिक संघ (इंडीज़ शोसल डेमोक्रैटिक एसोशिएशन) शामिल थे। 1920 में इंडोनेशिया के साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडोनेशिया) का गठन किया गया जिसने जावा और सुमात्रा में विद्रोहों का संगठन किया। डच सरकार ने इन विद्रोहों को दबा दिया। 1927 में अहमद सुकार्नो के नेतृत्व में राष्ट्रवादी दल (नेशनलिस्ट पार्टी) की स्थापना की गई। यही सुकार्नो आगे चलकर स्वतंत्र इंडोनेशिया के राष्ट्रपति बने। यह दल स्वतंत्रता के लिए एकजुट और संगठित संघर्ष चलाने के लिए अन्य संगठनों तथा दलों को एक झंडे के नीचे ले आया। उसने देश के आजाद होने पर वहाँ समाजवाद की स्थापना का लक्ष्य भी अपनाया। राष्ट्रवादी आंदोलन की बढ़ती हुई शक्ति से चिंतित होकर डच सत्ताधारियों ने राष्ट्रवादी दल पर पाबंदी लगा दी और उसके कई नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया जिनमें सुकार्नो भी शामिल थे। दमन की ये कार्रवाइयाँ कई वर्षों तक चलती रहीं, यहाँ तक कि आज़ादी की जंग की राजनीतिक चर्चा पर भी रोक लगा दी गई।

बर्मा

बर्मा (अब म्याँमार) पर कब्ज़ा करने के बाद ब्रिटेन ने उसे अपने ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य का हिस्सा बना लिया था। 1937 में उसे भारत से अलग कर दिया गया। बर्मा में राष्ट्रवादी आंदोलन बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से ही, ख़ास तौर से 1906 में युवा बौद्ध संघ (यंगमेंस बुद्धिस्ट एसोशिएशन) की स्थापना के साथ, उभरने लगा था। भारत में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के विकास का बर्मी राष्ट्रवादी आंदोलन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और दोनों देशों के स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं में आपस में घनिष्ठ संबंध कायम हो गए। 1920 में बर्मा संघ की आम परिषद् (जनरल काउंसिल ऑफ बर्मीज़ एसोशिएशन) की स्थापना की गई। उस समय की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की तरह उसने भी बर्मा के लिए स्वशासन की माँग प्रस्तुत की। 1930 वाले दशक में युवकों के एक संगठन की स्थापना की गई। ये लोग स्वयं को थाकिन, या अपने देश के मालिक कहते थे। इस संगठन ने पूर्ण स्वतंत्रता की माँग की, ठीक वैसे ही जैसे अब भारत में कांग्रेस 'पूर्ण स्वराज' की माँग कर रही थी। इस संगठन के सबसे विख्यात नेता आंग सान थे जो बाद में बर्मी साम्यवादी दल के नेता बने। बर्मा के भारत से अलग कर दिए जाने के बाद वहाँ भी 1935 ई. के भारत सरकार अधिनियम के ढंग के संवैधानिक सुधार लागू किए गए लेकिन वे बर्मी राष्ट्रवादियों को संतुष्ट न कर पाए। सारी जनता में अंग्रेज़ विरोधी लहर व्याप गई थी जिसके फलस्वरूप पूरे देश में विरोधी मोर्चों और हड़तालों का ताँता लग गया।

मलाया

मलाया के ब्रिटिश उपनिवेश में कई राज्य शामिल थे जिनमें से कुछ तो सीधे अंग्रेज़ी हुकूमत के अधीन थे और कुछ अपने-अपने स्थानीय शासकों के अधीन कमोबेश स्वायत्तता का उपभोग कर रहे थे। ब्रिटेन इस देश का शोषण मुख्य रूप से रबड़ और टिन के लिए करता था। बागानों और खानों के मालिक अंग्रेज़ थे और श्रमिकों में भारतीय मूल के बहुत-से लोग शामिल थे। ब्रिटेन के एशियाई साम्राज्य के लिए सिंगापुर का बहुत अधिक महत्व था क्योंकि वह व्यापारिक तथा रणनीतिक दृष्टि से दुनिया के एक बहुत-ही अहम हिस्से में बसा हुआ था। मलय लोगों तथा भारतीय मूल के लोगों के अलावा मलाया में चीनी मूल के लोगों की भी ख़ासी बड़ी आबादी थी जो मुख्य रूप से वाणिज्य-व्यापार में लगी हुई थी। अलग-अलग नस्ली समूहों ने अपने अलग-अलग राजनीतिक संगठन बना लिए थे। ब्रिटिश सत्ताधारी मलाया में संयुक्त राष्ट्रवादी आंदोलन के उदय को रोकने के लिए इन्हीं नस्ली विभेदों का उपयोग करते थे।

श्रीलंका (सीलोन)

श्रीलंका की आबादी में मुख्य रूप से सिंहली, तमिल तथा भारतीय मूल के बागान मज़दूर शामिल थे। ब्रिटिश सत्ताधारियों ने वहाँ कुछ संवैधानिक परिवर्तन लागू किए जिनसे श्रीलंका के समाज के ऊपरी वर्गों को देश के शासन में कुछ हिस्सेदारी हासिल हुई। 1931 में एक नए संविधान के तहत वहाँ की जनता को वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया और एक विधान सभा की भी स्थापना की गई। इस सभा के सदस्य अंग्रेज़ सचिवों के साथ मिलकर शासन चलाते थे।

1930 वाले दशक में कई राजनीतिक दल गठित किए गए और कई ऐसे नेताओं को ख्याति प्राप्त हुई जिन्होंने बाद में स्वतंत्र श्रीलंका के राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

पश्चिम एशिया के देश

अफ़ग़ानिस्तान

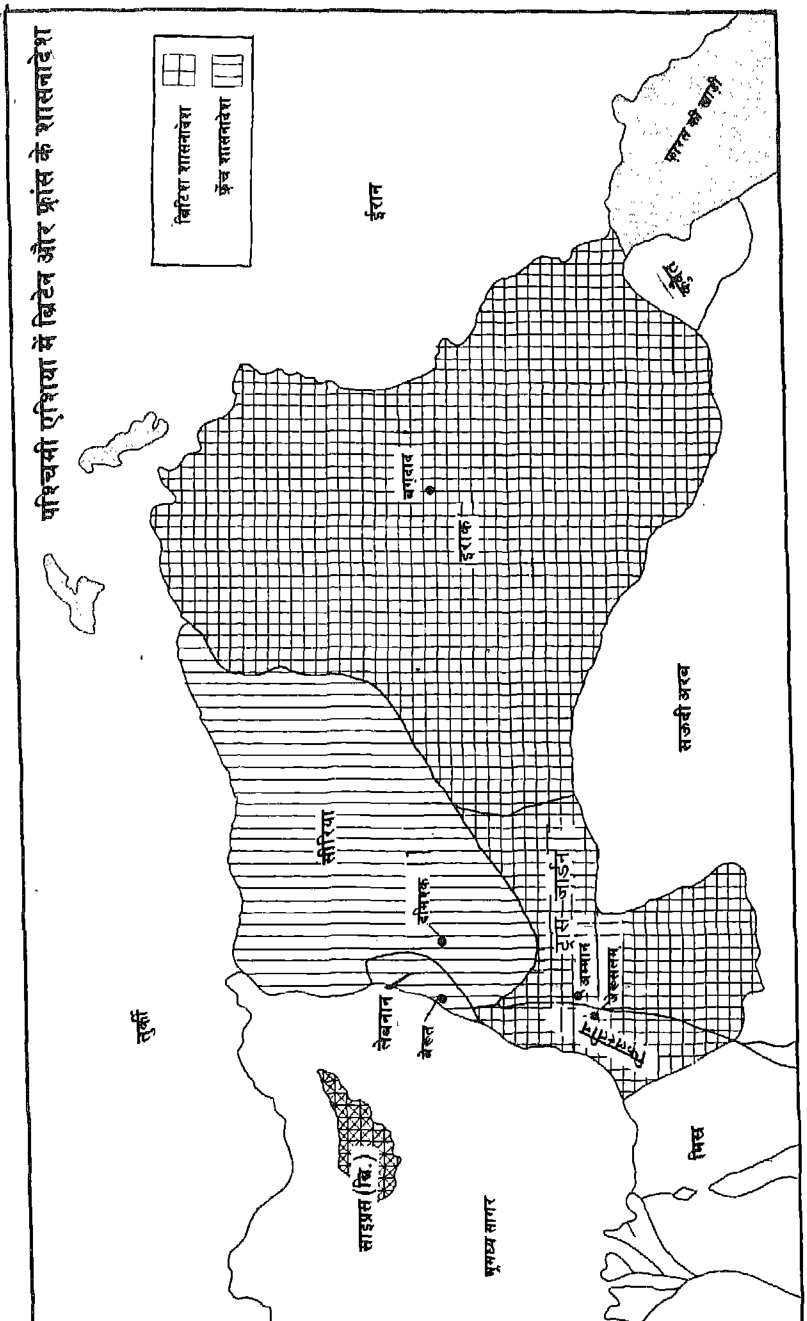
सत्ता प्राप्त करते ही अमानुल्ला ख़ाँ ने अफ़ग़ानिस्तान की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। अफ़ग़ानिस्तान की नई सरकार के साथ सोवियत संघ ने जो संधि की थी और जिस संधि से अफ़ग़ानिस्तान को अपनी आज़ादी की जड़ें मज़बूत करने में मदद मिली, उसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। अमानुल्ला ख़ाँ ने अपने देश के आधुनिकीकरण के लिए भी कुछ कदम उठाए। लेकिन 1929 में उसे अपदस्थ कर दिया गया और मुहम्मद नादिरशाह अफ़ग़ानिस्तान का शाह बन बैठा। नादिरशाह के शासनकाल में एक नया संविधान लागू किया गया जिसका उद्देश्य अफ़ग़ानिस्तान को एक संवैधानिक राजतंत्र बनाना था

ईरान

क्रांति के बाद रूस ने 1907 के उस आंग्ल-रूसी समझौते का त्याग कर दिया था जिसके अनुसार ईरान का एक हिस्सा रूसी प्रभाव-क्षेत्र के अधीन कर दिया गया था। अंग्रेज़ों को क्रांतिकारी विचारों के प्रचार-प्रसार से चिंता व्यापने लगी थी और ईरान में अपने तेल-संबंधी हितों पर ख़तरा मँडराता दिखाई देने लगा था। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने पूरे देश पर कब्ज़ा कर लेने की धमकी दी। 1919 में उन्होंने ईरान सरकार के साथ एक समझौता किया जिससे ईरान की सेना और अर्थव्यवस्था पर ब्रिटेन का नियंत्रण स्थापित हो गया। ब्रिटिश कब्ज़े और ब्रिटेन के साथ ईरान की सरकार के समझौते के ख़िलाफ़ देश के विभिन्न भागों में विद्रोह भड़क उठे ईरानी साम्यवादियों ने इन विद्रोहों का लाभ उठाकर एक सोवियत गणतंत्र स्थापित करने की कोशिश की लेकिन वे सफल नहीं हो पाए। मगर 1921 ई. में रज़ा ख़ान नामक एक सैनिक अफ़सर की सहायता से ईरान की ब्रिटेन समर्थक सरकार को अपदस्थ कर दिया गया। नई सरकार ने क्रांतिकारी विद्रोहों को तो निष्ठुरतापूर्वक दबा दिया लेकिन साथ ही ब्रिटेन के साथ उस समझौते को भी रद्द कर दिया गया जिसने ईरान को कमोबेश ब्रिटेन का एक संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टोरेट) बना दिया था। बहुत-से ईरानी रज़ा ख़ान को ईरान के मुस्तफ़ा कमाल के रूप में देखते थे और उन्होंने उसके संपूर्ण सत्ता प्राप्त करने के प्रयत्नों में उसे अपना समर्थन दिया। 1925 में 'मजलिस' नामक ईरानी संविधान सभा ने ईरान के शासक को विधिवत् सत्ताच्युत कर दिया और रज़ा ख़ान को ईरान का शाह बना दिया। रज़ा ख़ान के राजवंश को पहलवी राजवंश कहते हैं। नए शाह ने ईरान को आधुनिक बनाने के लिए कई कदम उठाए। उद्योग तथा परिवहन का विकास किया गया और आधुनिक शिक्षा दाख़िल करने तथा मुल्लाओं के प्रभाव पर अंकुश लगाने की कोशिशें की गईं। विधि-प्रणाली में भी अनेक सुधार किए गए। आंग्ल-ईरानी तेल कंपनी का महत्व तो बना रहा, लेकिन उसके मुनाफ़े का एक बहुत बड़ा हिस्सा अब ईरान की थैली में जाने लगा। किंतु इन प्रगतिशील तथा सुधारवादी कदमों के बावजूद शाह का शासन अत्याचारपूर्ण था और उससे आम लोगों को कोई लाभ नहीं हुआ।

इराक

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इराक, फ़िलस्तीन और ट्रांसजॉर्डन ब्रिटेन को "मेंडेट" के रूप में सौंप दिए गए थे। इराक को ब्रिटेन के सुपुर्द करने के फ़ैसले के ख़िलाफ़ वहाँ विद्रोह भड़क उठा जिसे ब्रिटिश सेना ने दबा दिया। 1921 में अंग्रेज़ों ने फ़ैसल को, जिसे फ़्रांसीसियों ने सीरिया से अपदस्थ कर दिया था, इराक का राजा बना दिया लेकिन देश का वास्तविक सैनिक, राजनीतिक तथा आर्थिक नियंत्रण अपने ही हाथों में रखा। इराक के समृद्ध तेल संसाधन भी ब्रिटिश नियंत्रण में आ गए। 1930 ई. में इराक को पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई और उसके शीघ्र बाद वह राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया। लेकिन ब्रिटिश सेना इराक में कायम रही और वहाँ की अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश नियंत्रण बना रहा। इराक की इस ब्रिटेन समर्थक सरकार को संवैधानिक राजतंत्र का रूप दे दिया गया। 1936 में राष्ट्रीय सुधार दल (नेशनल रिफ़ॉर्म पार्टी) ने सेना की मदद से ब्रिटेन समर्थक सरकार को पदच्युत कर दिया और भूमि-सुधार लागू करने तथा इराक की अर्थव्यवस्था को नए सिरे से सँवारने की कोशिशें कीं


पश्चिमी एशिया में ब्रिटेन और फ्रांस के शासनादेश
ब्रिटिश शासनादेश
फ्रेंच शासनादेश
ईरान
फ़ारस की खाड़ी
कुवैत
बगदाद
इराक
सऊदी अरब
सीरिया
दमिश्क
ट्रांस जॉर्डन
अम्मान
येरूसलम
फ़िलिस्तीन
लेबनान
बेरूत
तुर्की
साइप्रस (ब्रि.)
भूमध्य सागर
मिस्र

लेकिन साल भर बाद 1937 में ही इस सरकार का तख़्ता पलट दिया गया और इसके स्थान पर ब्रिटेन समर्थक नूरी सईद के नेतृत्व में दूसरी सरकार प्रतिष्ठित की गई।

फ़िलस्तीन

अंग्रेज़ों ने यही नीति ट्रांसजॉर्डन में भी अपनाई। उन्होंने फ़ैसल के भाई अब्दुल्ला को वहाँ का राजा बना दिया और 1928 में उस देश को आज़ादी दे दी, लेकिन सैनिक तथा वित्तीय नियंत्रण अपने ही हाथों में बनाए रखा। फिर भी फ़िलस्तीन में ब्रिटिश नीति को गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और वह क्षेत्र तनाव और टकराव का एक केंद्र बन कर रह गया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में यूरोप में फ़िलस्तीन में यहूदियों के लिए एक स्वदेश प्राप्त करने का आंदोलन आरंभ हुआ। इस आंदोलन को ज़ायोनिज़्म या ज़ायोनवाद कहा जाता है। यूरोप तथा संयुक्त राज्य के यहूदी अपने समान अधिकारों की प्राप्ति के लिए तथा उनके ख़िलाफ़ आम तौर पर बरते जा रहे भेदभाव को समाप्त करवाने के लिए संघर्ष कर रहे थे। उनमें से बहुत-से लोग तो आमूल परिवर्तनवादी राजनीतिक आंदोलनों में भी शरीक हो गए थे। लेकिन ज़ायोनवाद ने घोषणा की कि सभी यहूदी, चाहे वे जिस - किसी देश में रह रहे हों, एक राष्ट्र के अंग हैं और फ़िलस्तीन में उनका अपना राज्य होना चाहिए, क्योंकि 2500 वर्ष पहले वहीं उनका अपना एक राज्य था। यहूदियों के बीच ज़ायोनवाद का प्रभाव सीमित ही था, क्योंकि बहुत से यहूदी इसे विभेद पैदा करनेवाली विचारधारा मानते थे। उनका ख़्याल था कि यह प्रवृत्ति उन्हें उन लोगों से अलग कर देगी जिनके मध्य वे सदियों से रहते चले आए थे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, प्रथम विश्व युद्ध के दौरान कुछ ज़ायोनवादी नेताओं के प्रभाव में आकर ब्रिटिश सरकार ने फ़िलस्तीन में "यहूदी जाति के लिए एक राष्ट्रीय गृह-राज्य" की स्थापना करने का वचन दे दिया था। युद्ध के दौरान अरब राष्ट्रवाद का विकास हुआ था और फ़िलस्तीन में ब्रिटिश "मैंडेट" के स्थापित होते ही गंभीर अशांति फैल गई। फ़िलस्तीनियों की राष्ट्रवादी आकांक्षाओं को तो दबा दिया गया, लेकिन यहूदी लोग पश्चिमी दुनिया से देशांतरण करके वहाँ भारी संख्या में बसने लगे। यहूदियों ने फ़िलस्तीनियों से उनकी कुछ अच्छी-से-अच्छी ज़मीनें छीन लीं और फ़िलस्तीनी भूमिहीन होने लगे। 1919 में फ़िलस्तीन में यहूदियों की आबादी सिर्फ़ 58,000 थी। 1934 में वह 9,60,000 हो गई। 1929 में अरबों ने फ़िलस्तीन की आज़ादी और फ़िलस्तीन में यहूदियों के देशांतरण की समाप्ति के लिए विद्रोह किया। इस विद्रोह को कुचल दिया गया और ब्रिटिश सेना तथा पुलिस ने सैकड़ों अरबों को मौत के घाट उतार दिया। लेकिन अरब फ़िलस्तीनी कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रवाद आंदोलन चलता रहा। 1937 में एक ब्रिटिश शाही आयोग (रॉयल कमिशन) ने फ़िलस्तीन को तीन राज्यों में बाँट देने की सिफ़ारिश की। इनमें से एक को अरबों के नियंत्रण में, दूसरे को यहूदियों के काबू में और तीसरे को ब्रिटिश कब्ज़े में रखने का सुझाव दिया गया था। इस सिफ़ारिश को हरेक ने अस्वीकार कर दिया और फ़िलस्तीन तथा अरब देशों के अरबों ने इसका तीव्र विरोध किया। 1939 ई. में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र जारी किया जिसमें यहूदियों तथा अरबों के अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था के साथ-साथ फ़िलस्तीन को दस साल बाद आज़ादी देने का वादा किया गया। इस बीच यहूदियों के देशांतरण को सीमित कर देना और अंत में बिल्कुल बंद कर दिया जाना था। ज़मीन की बिक्री पर भी प्रतिबंध लगा दिए गए। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्थिति ने गंभीर रूप धारण कर लिया जिसके परिणामस्वरूप पश्चिमी एशिया की शांति और सुस्थिरता के लिए उसके ख़तरनाक परिणाम निकले।

सीरिया और लेबनान

सीरिया और लेबनान मैंडेटों के तौर पर फ़्रांस को सौंप दिए गए थे। फ़्रांसीसी सेना ने इन दोनों देशों में प्रबल प्रतिरोध का सामना करते हुए इन पर कब्ज़ा कर लिया। फ़्रांसीसियों ने सीरिया के शासक फ़ैसल को, जो कि पहले उन्हीं के समर्थन से राजा बना था, अपदस्थ कर दिया। दोनों देशों की जनता फ़्रांसीसी शासन का शुरू से ही विरोध करने लगी थी। 1925 में सीरिया में विद्रोह भड़क उठा और विद्रोहियों ने राजधानी दमिश्क (दमस्कस) सहित प्रायः पूरे देश पर कब्ज़ा कर लिया। यह विद्रोह लेबनान के भी कुछ हिस्सों में फैल गया। इसे दबाने में फ़्रांसीसियों को दो वर्ष लगे। इस विद्रोह के दौरान दमिश्क पर भारी बमबारी की गई जिसमें 25,000 लोग मारे गए। फिर भी फ़्रांसीसी मैंडेट को समाप्त करने के लिए हड़तालों, प्रदर्शनों तथा सशस्त्र विद्रोहों का सिलसिला चलता ही रहा। 1936 में जब फ़्रांस में पॉपुलर फ़्रंट (जन-मोर्चा) की सरकार बनी तो फ़्रांसीसी सरकार ने सीरिया और लेबनान के प्रतिनिधियों के साथ समझौते करके तीन वर्ष बाद उन्हें आज़ाद

कर देने का वादा किया। लेकिन बाद में फ्रांसीसी सरकार वादे से मुकर गई और सीरिया तथा लेबनान-दोनों आज़ादी हासिल करने में असफल रहे।

अफ्रीका

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति तक अफ्रीका में कोई पचास राज्य कायम हो चुके थे और सिवाय लाइबेरिया तथा इथियोपिया के, इनमें से सब-के-सब किसी-न-किसी यूरोपीय उपनिवेशवादी देश के शासन के अधीन थे। यद्यपि राष्ट्रवाद की भावना सर्वत्र जागृत हो गई थी, तथापि अलग-अलग देशों के राजनीतिक संघर्षों का स्तर अलग-अलग था। कुल मिलाकर कहें तो दो युद्धों के बीच अफ्रीकी जनता के संघर्ष का रूप बदल गया था। अब वैसा प्रतिरोध और वैसे विद्रोह नहीं हो रहे थे जैसे औपनिवेशिक शासन के आरंभिक दौर में देखने को मिलते हैं। सतही तौर पर तो लगता था कि उपनिवेशवाद अफ्रीका में भली भाँति प्रतिष्ठित हो गया है और उस औपनिवेशिक शासन की स्थिरता को देखकर कुछ लोगों ने इस काल को अफ्रीका में उपनिवेशवाद का "स्वर्णिम युग" कहा। लेकिन यह स्थिरता उतनी वास्तविक नहीं थी जितनी लगती थी, क्योंकि नई उपनिवेश-विरोधी शक्तियाँ पहले से ही उभरने लगी थीं। उत्तर अफ्रीका के कुछ देशों में इस काल में प्रबल राष्ट्रीय आंदोलनों तथा संघर्षों का उदय हुआ। अन्य देशों में, जिनमें दक्षिणी अफ्रीका के भी अधिकतर देश शामिल थे, इस काल में आधुनिक राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रवादी राजनीतिक आंदोलनों का जन्म हुआ।

मिस्र

उत्तर अफ्रीका के सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्रीय आंदोलनों में से एक आंदोलन का उदय मिस्र में हुआ। 1918 में वफ़द नामक एक संगठन की स्थापना की गई जिसने मिस्र के स्वतंत्रता संग्राम को नेतृत्व प्रदान किया। मिस्र राष्ट्रवादियों के एक प्रतिनिधिमंडल ने स्वतंत्रता की माँग करने के लिए पेरिस के शांति सम्मेलन में भाग लेने की भी तैयारी कर ली थी, लेकिन अंग्रेज़ों ने इस प्रतिनिधिमंडल के सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया और वफ़द के नेता साद ज़गलुल पाशा को देश से निष्कासित कर दिया गया। इससे मिस्र में विद्रोह भड़क उठा जिसे दबा दिया गया। लेकिन ब्रिटेन विरोधी उपद्रव होते रहे और 1922 में ब्रिटिश सरकार को मिस्र पर अपने संरक्षत्व (प्रोटेक्टोरेट) को छोड़ना पड़ा। अहमद फुआद को स्वतंत्र मिस्र राज्य का राजा बनाया गया।



मिस्र से ब्रिटिश फौजों की वापसी की माँग को लेकर एक सभा को संबोधित करते हुए ज़गलुल पाशा

1923 में एक संविधान लागू किया गया जिसके तहत मिस्र को संसदीय शासन प्रणाली प्रदान की गई। लेकिन "मिस्र तथा नहर को सुरक्षा" देने तथा सूडान पर ब्रिटिश शासन कायम रखने के नाम पर ब्रिटिश फ़ौज मिस्र में बनी रही। कहने भर को सूडान संयुक्त आंग्ल-मिस्री नियंत्रण में था।

संसदीय चुनावों में ज़गलुल पाशा की वफ़्द पार्टी ने भारी विजय प्राप्त की और सरकार बनाई। उसकी सरकार ने पूर्ण स्वतंत्रता की माँग की। मिस्र के राजा ने संसद भंग कर दी। लेकिन जब भी चुनाव हुए, वफ़्द पार्टी पहले की ही तरह हर बार भारी विजय प्राप्त करती रही। अंग्रेज़ों के उकसाने पर राजा हर बार संसद को भंग करता रहा। यहाँ तक कि छह सालों में यह काम उसने चार बार किया। ज़गलुल पाशा की मृत्यु के बाद नहास पाशा वफ़्द पार्टी का नेता बना। यह पार्टी ब्रिटेन-विरोधी नीति का पालन करती रही। 1930 में एक नए संविधान की घोषणा की गई जिसमें राजा के अधिकार बढ़ा दिए गए और संसद के कम कर दिए गए। चारों ओर ज़बरदस्त जन-विरोध हुआ। फलत: 1935 में 1923 के संविधान को फिर से लागू कर दिया गया। 1936 में आयोजित चुनावों में वफ़्द पार्टी फिर सत्ता में आ गई। यह राष्ट्रवादी शक्तियों की भारी जीत थी। नई सरकार ने ब्रिटेन के साथ एक संधि की जिसके अनुसार मिस्र पर ब्रिटिश कब्ज़ा समाप्त हो गया, लेकिन ब्रिटेन को स्वेज़ नहर क्षेत्र में 10,000 सैनिक रखने की इजाज़त दे दी गई। मिस्र में ब्रिटिश फ़ौज का इस सीमित संख्या में भी कायम रहना कुछ साल बाद मिस्र और ब्रिटेन के बीच एक बड़े झगड़े का कारण बना।

मोरक्को

ट्यूनीशिया, लीबिया, अल्जीरिया और मोरक्को में भी प्रबल राष्ट्रवादी आंदोलन उठे। 1921 ई. में स्पेनी मोरक्को के रिफ़ कबीले ने अब्दुल करीम के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया।



मोरक्को में रिफ़ विद्रोह के नेता अब्दुल करीम

उन्होंने स्पेनी सेना को गहरी शिकस्त दी और रिफ़ियाई गणतांत्रिक राष्ट्र (रिफ़ियन रिपब्लिकन नेशन) की घोषणा कर दी। इस पर शीघ्र ही फ़्रांसीसियों ने रिफ़ियाई गणतंत्र के ख़िलाफ़ अपनी सेना भेज दी लेकिन फ़्रांसीसी सेना को भी मुँह की खानी पड़ी। अंत में फ़्रांस और स्पेन ने 4 लाख सैनिकों की एक विशाल फ़ौज के साथ संयुक्त रूप से आक्रमण किया। अब्दुल करीम के मुट्ठी भर सैनिक इसका सामना करने में असमर्थ रहे और करीम ने मई 1926 में आत्मसमर्पण कर दिया। 1927 तक स्पेन और फ़्रांस मोरक्को में अपने-अपने प्रदेशों के फिर से मालिक बन बैठे। लेकिन रिफ़ विद्रोह ने पूरे अफ़्रीका में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों के लिए प्रेरणा-स्रोत का काम किया। रिफ़ियाई गणतंत्र के ख़िलाफ़ फ़्रांसीसियों की लड़ाई के दौर में फ़्रांस के बहुत-से लोगों ने, ख़ासकर वहाँ के साम्यवादी दल और श्रमिक संघों ने, रिफ़ियाइयों को अपना भरपूर समर्थन दिया। 12 अक्तूबर 1925 को फ़्रांसीसी श्रमिकों ने मोरक्को में फ़्रांसीसी नीति के विरुद्ध हड़ताल और प्रदर्शन किए। उन्होंने अल्जीरिया और ट्यूनीशिया की स्वतंत्रता का भी समर्थन किया।

दक्षिण अफ़्रीका

दक्षिण अफ़्रीका के देशों में राष्ट्रवादी आंदोलन का प्रसार असमान रूप से हुआ। औपनिवेशिक शासकों ने दक्षिण अफ़्रीका में जो राज्य स्थापित किए थे उनमें से अधिकांश नए-नए थे और इन राज्यों में जो लोग रहते थे, ज़रूरी तौर पर किसी समान अतीत में साझेदार नहीं थे। इसलिए इन राज्यों के लोगों को अपनी राष्ट्रीय पहचान बनाने में कुछ समय लगा। यह स्थिति अधिकतर एशियाई देशों की स्थिति से या उसके पूर्व यूरोपीय देशों की हालत से भिन्न थी। इन देशों के लोगों में राष्ट्रीय पहचान की भावना का उदय दो युद्धों के बीच के काल की एक बड़ी घटना है। किसानों, श्रमिकों, बुद्धिजीवियों तथा अन्य वर्गों की असुविधाओं और असंतोष के फलस्वरूप हर देश में श्रमिक संघों तथा अन्य प्रकार के संगठनों की स्थापना हुई। अनिवार्यतः इन संगठनों का राजनीतिक चरित्र उपनिवेशवाद-विरोधी था क्योंकि उनकी सारी शिकायतों की जड़ मौजूदा औपनिवेशिक शासन था। राजनीतिक जागृति पैदा करने और राष्ट्रवादी राजनीतिक संगठन स्थापित करने में बुद्धिजीवियों ने प्रमुख भूमिका निभाई।

दक्षिण अफ़्रीका में शैक्षिक सुविधाएँ बहुत सीमित थीं। यहाँ तक कि माध्यमिक शिक्षा को भी औपनिवेशिक शासन के अस्तित्व के लिए ख़तरनाक माना जाता था। बहुत से अफ़्रीकी इतिहासकारों का विचार है कि भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अनुभवों को देखते हुए यूरोपीय औपनिवेशिक शासकों में अफ़्रीका में शिक्षा के स्तर को जानबूझ कर निम्न स्तर का रखा। भारत में शिक्षित लोगों की एक बड़ी संख्या ने ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए एक व्यापक राष्ट्रवादी आंदोलन संगठित कर लिया था। फिर भी कुछ अफ़्रीकियों को तो शिक्षित किया ही गया क्योंकि औपनिवेशिक शासन सिर्फ़ मूल औपनिवेशिक देशों से लाए गए लोगों के बल पर ही नहीं चलाया जा सकता था। शिक्षित अफ़्रीकियों में से बहुतों को औपनिवेशिक प्रशासन में खपा लिया गया था। उन्होंने औपनिवेशिक शासकों के द्वारा अपने



डॉ. नाम्दी आज़ीकिवे

ख़िलाफ़ बरते जा रहे भेदभाव को शिद्दत से महसूस किया और अपने लोगों के शोषण के प्रति उनमें अधिकाधिक जागरूकता आती गई। उनमें से बहुत से लोग उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के लिए अन्य देशों में, ख़ास तौर से ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य में गए और वहाँ उनका संपर्क क्रांतिकारी और राष्ट्रवादी विचारों तथा आंदोलनों से हुआ। कीनिया के जोमो केन्याटा, नाइजीरिया के प्रथम राष्ट्रपति बनने वाले नामदी आज़ीकिवे, गोल्ड कोस्ट (घाना) के एनक्रुमा और सेनेगल के लियोपोल्ड सेंघोर अफ़्रीका के उन भावी नेताओं में से थे जिन्होंने अपने प्रवास के दौरान पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी।

1920 वाले दशक में दक्षिणी अफ़्रीका के विभिन्न देशों में कई संगठन स्थापित किए गए। जिन देशों में कुछ प्रतिनिधिक संस्थाएँ स्थापित कर दी गई थीं उनमें बाद में नियमित राजनीतिक दल स्थापित हो सके। उदाहरण के लिए नाइजीरिया में संवैधानिक सुधार लागू हो जाने के बाद वहाँ राष्ट्रीय लोकतंत्र दल (नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी) गठित की गई। इस काल में जो संगठन स्थापित किए गए उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं–युवा किकुयू संघ (यंग किकुयू एसोसिएशन), गोल्ड कोस्ट युवा सम्मेलन (गोल्ड कोस्ट यूथ कान्फ़्रेंस), अधिकार तथा नागरिकता संघ (लीग ऑफ़ राइट्स ऑफ़ मेन एंड सिटीजनशिप) और अंगोला की अफ़्रीकी लीग (लिगा अफ़्रीकाना)।

अखिल अफ़्रीकी कांग्रेस

इस काल में अफ़्रीका में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलनों के उदय में कई अंतर्राष्ट्रीय संगठनों तथा आंदोलनों ने महत्वपूर्ण योगदान किया। इनमें से बहुत-से आंदोलनों का सूत्रपात अमरीका में काले लोगों की समानता प्राप्ति के लिए किए जा रहे संघर्ष के नेताओं ने किया। कुछ का मूल कैरिबियन क्षेत्र के फ़्रांसीसी और ब्रिटिश उपनिवेशों के काले लोगों में था। इन आंदोलनों की एक सर्वसामान्य विशेषता यह थी कि ये सभी काले लोगों की एकता और भ्रातृत्व की हिमायत करते थे। इनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण अखिल अफ़्रीकी कांग्रेस (पैन अफ़्रीकन कांग्रेस) थी। इसका संयोजन डब्ल्यू.ई.बी. दुबॉइस ने किया था। अमरीका में अश्वेत लोगों की तरक्की के लिए राष्ट्रीय संघ (नैशनल एसोशिएशन फ़ॉर द



डॉ. डब्ल्यू.ई.बी.दु बॉइस

एडवासमैंट ऑफ़ कलर्ड पीपुल) की स्थापना में इस नेता की भूमिका की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। दुबॉइस ने पैरिस शांति सम्मेलन के दौरान 1919 में पहली अखिल अफ़्रीकी कांग्रेस का अधिवेशन पेरिस में आयोजित किया। कांग्रेस ने प्रस्ताव पास करके संयुक्त राज्य तथा दुनिया के अन्य हिस्सों के काले लोगों के लिए समान राजनीतिक अधिकारों और अफ़्रीकी लोगों के लिए आत्मनिर्णय के हक की माँग की। इसके बाद 1921, 1923 तथा 1927 ई. में यूरोप के विभिन्न राजधानी नगरों में अखिल अफ़्रीकी कांग्रेसों का आयोजन किया गया जिनमें अफ़्रीका, संयुक्त राज्य और कैरिबियन क्षेत्र के काले बुद्धिजीवी इकट्ठे हुए। एक अन्य अखिल अफ़्रीकावादी आंदोलन का प्रवर्तन मार्कस गार्वे ने किया जिसका जन्म जमायका में हुआ था। 1914 में उसने विश्व नीग्रो उत्थान संघ (यूनिवर्सल नीग्रो इंप्रूवमेंट एसोसिएशन) की स्थापना की थी। उसने काले अमरीकियों को देशांतरण करके अफ़्रीका चले जाने के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से एक अभियान

चलाया। हर देश के काले लोगों में स्वाभिमान का भाव जगाने में उसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

नेग्रीच्यूड आंदोलन

1920 ई. और 1930 ई. वाले दशकों में एक सांस्कृतिक आंदोलन भी उभरा। उससे काले लोगों में अपनी पृथक पहचान और स्वाभिमान का भाव जागृत हुआ और गोरों के वर्चस्व तथा औपनिवेशिक प्रभुत्व को अस्वीकार करने की वृत्ति पैदा हुई। यह नेग्रीच्यूड आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध है। काले लोगों की अपनी संस्कृति में आस्था, अफ्रीकी कला तथा संस्कृति के सौंदर्य का अभिमान एवं "सभी अफ्रीकियों तथा अफ्रीकी मूल के लोगों की एक सम्मिलित सांस्कृतिक विरासत में विश्वास" जैसे तत्व इस आंदोलन के आधार थे। कैरिबियन क्षेत्र के मार्टिनिक नामक फ्रांसीसी उपनिवेश का निवासी आमेसिज़ेर, सेनेगल का ल्योपोल्ड सेंघोर और संयुक्त राज्य का लैंग्स्टन ह्यूज़ इस आंदोलन से जुड़े प्रमुख व्यक्तियों में से थे। ये तीनों विख्यात कवि थे-पहले दो फ्रांसीसी भाषा के और ह्यूज़ अंग्रेज़ी का। जमायकाई मूल का क्लॉड मेक्के एक अन्य कवि था जिसने काले लोगों को अपने सामान्य कष्टों के निवारण तथा अपने सम्मान को प्रतिष्ठित करने के लिए उठ खड़े होने की प्रेरणा दी।

अगर हमको मरना ही है

अगर हमको मरना ही है तो ऐसा न हो -
सुअरों की तरह जान देनी पड़े,
हर तरह से हमें किसी गौरवहीन जगह पर घेर कर
भूखे, पागल कुत्ते भौंकते रहें,
वे हमारी बुरी तकदीर पे हँसे।
अगर हमको मरना ही है, मौत हो शान की,
खून अपना न बेकार जाए कहीं,
और ज़ालिम भी हम सबके मरने पे,
हो के मजबूर इज़्ज़त ज़रा तो करें।
तो मेरे दोस्तो, अपने दुश्मन हैं जो,
आओ मिलकर उन्हें आज ललकार लें।
उनकी तादाद हमसे ज़ियादा सही
हौसला उनको अपना दिखाएँ, चलो,
उनकी सौ चोट पर एक ही चोट हम
ऐसी मारें कि वे फिर सम्हल न सकें।
क्या हुआ जो हमरे लिए कब्र हैं
आओ, इन बुज़दिलों, कातिलों का जरा
आदमी की तरह सामना तो करें।
पीछे हटने का कोई न रस्ता सही,
एक-एक करके हम कटके गिरते रहें,
फिर भी आओ लड़ें और लड़ते रहें।

-क्लॉड मैक्के

यूरोपीय मूल के साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों से भी अफ्रीका में राष्ट्रवादी आंदोलनों को बढ़ावा मिला। 1927 में ब्रूसेल्स में एक अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस आयोजित की गई जिसमें साम्राज्यवाद विरोधी लीग (लीग अगेंस्ट इपीरियलिज़्म) की स्थापना की गई। इस कांग्रेस में भाग लेने वालों में यूरोप के वामपंथी आंदोलनों के नेता और आमूल परिवर्तन की हिमायत करनेवाले बुद्धिजीवी तथा औपनिवेशिक शासन के अधीनस्थ एशियाई एवं अफ्रीकी देशों के प्रतिनिधि शामिल थे। अफ्रीकी देशों में से मिस्र, कीनिया और दक्षिण अफ्रीका के प्रतिनिधि आए थे। जोमो केन्याट और ला गुमा इनमें से प्रमुख नाम थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रतिनिधित्व जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

दक्षिण अफ्रीका में नस्लवादी ज़ुल्म

दो युद्धों के बीच के काल में दक्षिण अफ्रीका के नस्लवादी ज़ुल्मों में और भी तीव्रता आ गई थी लेकिन साथ ही उसके विरुद्ध चलने वाले संघर्ष में भी और प्रखरता आई। 1910 में नाटाल तथा केप कॉलोनी के ब्रिटिश उपनिवेशों और ऑरेंज फ़्री स्टेट तथा ट्रांसवाल के बोअर राज्यों को मिलाकर ब्रिटिश साम्राज्य का एक स्वशासी राज्य बना दिया गया था जिसका नाम दक्षिण अफ्रीका संघ (यूनियन ऑफ साउथ अफ्रीका) था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद दक्षिण अफ्रीका में गोरों की आबादी लगभग 18 लाख थी जो वहाँ की कुल आबादी का कोई 20 प्रतिशत बैठती थी। गोरों में ब्रिटिश मूल तथा बोअर कहे जानेवाले डच मूल के लोग शामिल थे। बहुसंख्यक

अफ़्रीकी लोग थे। कोई 2 लाख लोग एशियाई–मुख्यत: भारतीय मूल के थे। सरकार पूरी तरह से गोरों के हाथों में थी। गांधी जी ने भारतीयों के ख़िलाफ़ किए जाने वाले नस्लवादी भेदभाव के विरुद्ध दक्षिण अफ़्रीका में जो संघर्ष किया था उससे आप अवगत हैं। 1912 में अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस (अफ़्रीकन नेशनल कांग्रेस) का गठन किया गया। यह संगठन दक्षिण अफ़्रीका में नस्लवादी ज़ुल्मों के ख़िलाफ़ भविष्य में प्रमुख भूमिका निभाने वाला था। 1921 में दक्षिण अफ़्रीका के साम्यवादी दल की स्थापना की गई।

नेशनलिस्ट पार्टी में, जो कि मुख्य रूप से बोअरों (या अफ़्रीकानर्स) की पार्टी थी, उग्र गोरा नस्लवादी विचारों का बोलबाला था। गोरों की सामाजिक तथा राजनीतिक सर्वोच्चता को कायम रखने के लिए यह दल रंगभेद की नीति की हिमायत करता था। उसका कहना था कि गोरों को कालों से ख़तरा है। 1920 वाले दशक से रंगभेद की नीति के हिमायती गोरे शासकों ने ऐसे कानून बनाए जिनके बल पर काले लोगों को कौशलपूर्ण कार्यों या ऐसे ही कार्यों का प्रशिक्षण पाने से अलग रखा गया और जहाँ गोरे लोग रहते थे, उन इलाकों में उन्हें बसने भी नहीं दिया गया। अच्छी ज़मीनें उनसे पहले ही ले ली गई थीं। उनसे कबीलाई क्षेत्र कहे जानेवाले इलाकों में जाकर बसने को कहा गया। उन्हें नगरों में या गोरे लोगों के फ़ॉर्मों में काम करने के लिए विशेष अनुमति लेनी पड़ती थी। वे शहरों में जाते थे तो उन्हें वहाँ जाने की अनुमति दी गई है, इसके प्रमाण के तौर पर साथ में पहचान पत्र या पास रखना पड़ता था। अगर उनके पास यह नहीं होता था तो उन्हें गिरफ़्तार कर लिया जाता था। उन्हें शहरों में सिर्फ़ उन्हीं इलाकों में सर्वथा दयनीय स्थिति में रहना पड़ता था जो उनके लिए पहले से ही निश्चित कर दिए गए होते थे। गोरे मज़दूरों की औसत मज़दूरी काले मज़दूरों से दस गुना ज़्यादा होती थी। काले लोगों को श्रमिक संघ बनाने या गोरों के संघों में शामिल होने की इजाज़त नहीं थी। उन्हें मताधिकार तक प्राप्त नहीं था और अपने देश के शासन में उनकी कोई आवाज़ नहीं थी। 1930 वाले दशक में गोरे नस्लवादियों ने जर्मनी की नाज़ी पार्टी के तर्ज़ पर फ़ासीवादी आंदोलन चलाए। नस्लवादी नीतियों के ख़िलाफ़ व्यापक असंतोष फैल गया और इस घृणित प्रणाली को समाप्त करने के लिए एक संयुक्त संघर्ष की तैयारियाँ होने लगीं।

लैटिन अमरीका

अधिकतर लैटिन अमरीकी देशों में बड़े ज़मींदारों तथा सेना के प्रभुत्व वाले शासन कायम रहे, लेकिन इनमें से लगभग हर देश में लोकतांत्रिक तथा वामपंथी आंदोलनों एवं श्रमिकों और किसानों के संगठनों की शक्ति बढ़ी। ज़्यादातर लैटिन अमरीकी देशों में इस काल में साम्यवादी दल भी स्थापित किए गए। आगस्टो सीज़र सैंडिनो के नेतृत्व में निकारागुआ की कठपुतली सरकार के विरुद्ध जिसे संयुक्त राज्य की सेना ने सत्तासीन किया था, जन-विद्रोह भड़क उठा। यह विद्रोह कई वर्ष चलता रहा और 1933 में संयुक्त राज्य ने वहाँ से अपनी सेना वापस बुला ली। लेकिन सैंडिनो की हत्या कर दी गई और अनास्तासियो सोमोज़ा सत्ता हथियाकर निकारागुआ का अधिनायक बन बैठा। सैंडिनो के नेतृत्व में चलनेवाले जन विद्रोह को सभी लैटिन अमरीकी देशों की जनता का समर्थन और सहानुभूति प्राप्त थी और इसके फलस्वरूप लैटिन अमरीकी देशों में हस्तक्षेप करने के लिए अपनी सेना को भेजने की अमरीकी नीति में भी बदलाव आ गया। 1929 के आर्थिक संकट ने सभी लैटिन अमरीकी देशों की अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया था। इनमें से अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्था निर्यात पर निर्भर थी और जब संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य देशों ने अपने यहाँ आयात पर सख़्त पाबंदियाँ लगा दीं तो लैटिन अमरीकी देश भारी आर्थिक संकट में पड़ गए। वहाँ के उद्योगों में भारी बेरोज़गारी फैल गई। खेतीबाड़ी करने वाले लोगों पर तो इसका और भी बुरा असर पड़ा, जबकि इन देशों की आबादी में वे ही भारी बहुसंख्या में थे।

मैक्सिको

दो युद्धों के बीच के काल में मैक्सिको में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। मैक्सिको लैटिन अमरीका के उन पहले देशों में से था जिन्होंने स्वयं को संयुक्त राज्य से स्वतंत्र घोषित किया था और किसानों के लिए हितकारी नीतियाँ अपनाई थीं। वह सोवियत संघ से राजनीतिक संबंध स्थापित करने वाला पहला

अमरीकी देश था। 1934 से 1940 तक लज़ारो कारडेनास मैक्सिको का राष्ट्रपति था। उसने बड़े ज़मींदारों की सत्ता समाप्त करने और लोकहितकारी अर्थव्यवस्था की रचना करने के लिए कई आमूल परिवर्तनवादी कदम उठाए। बहुत-सी ज़मींदारियों की ज़मीनें छीन कर किसानों में बाँट दी गई। उसने रेलमार्गों और कुछ अन्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। अंत में पूरे तेल उद्योग का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया गया जो कि अंत तक अमरीकी कंपनियों की मिल्कियत में था। तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण एक दूरगामी महत्व का कदम था क्योंकि इसका मतलब देश की जनता द्वारा अपने देश की संपदा तथा संसाधनों पर अपना खुद का नियंत्रण स्थापित कर लेना था। कालांतर में मैक्सिको के उदाहरण का अनुकरण कई अन्य लैटिन अमरीकी देशों ने भी किया।

संयुक्त राज्य की नीति में परिवर्तन

इस काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता लैटिन अमरीकी देशों द्वारा विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त होने का आग्रह तथा विश्व रंगमंच पर उनकी अपनी स्वतंत्र भूमिका निभाने की ललक थी। उनके राष्ट्रसंघ में शामिल होने के पीछे यह एक बड़ा मकसद था। अखिल अमरीकी साम्राज्यवाद विरोधी संघ (ऑल-अमेरिकन एंटी-इंपीरियलिस्ट लीग) नामक एक संगठन की स्थापना की गई। उसके प्रतिनिधियों ने 1927 के ब्रुसेल्स सम्मेलन में भाग लिया जहाँ साम्राज्यवाद-विरोधी संघ (लीग अगेंस्ट इंपीरियलिज़्म) की स्थापना की गई। संयुक्त राज्य की पहल पर एक अखिल अमरीकी संघ (पैन अमेरिकन यूनियन) की स्थापना की गई थी जिसमें संयुक्त राज्य का ही बोलबाला था। संयुक्त राज्य के इस प्रभुत्व का विरोध करने के लिए सभी लैटिन अमरीकी देश एक हो गए। उन्होंने संयुक्त राज्य के इस दावे का भी विरोध किया कि उसे दोनों अमरीकी महाद्वीपों के देशों के मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। अखिल अमरीकी संघ के एक सम्मेलन में 1933 में संयुक्त राज्य को इस घोषणा का समर्थन प्रदान करने के लिए विधिवत वचन देना पड़ा कि "किसी भी राज्य को किसी दूसरे राज्य के आंतरिक या वैदेशिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।"

लैटिन अमरीका के प्रति संयुक्त राज्य की नीति में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। 1920 वाले दशक से वह लैटिन अमरीकी देशों में सीधे सैनिक हस्तक्षेप करने की बजाय "डालर कूटनीति" पर अधिक निर्भर करने लगा जिसका मतलब था कि लैटिन अमरीकी देशों में अपने निवेश बढ़ाकर उनकी अर्थव्यवस्था पर अपना नियंत्रण स्थापित करना। निकारागुआ से संयुक्त राज्य की सेना की वापसी का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। फ्रैंकलिन डी. रूज़वैल्ट के राष्ट्रपतित्व काल में लैटिन अमरीकी देशों के प्रति संयुक्त राज्य की नीति को "अच्छे पड़ोसी की नीति" कहा गया है। कुछ मामलों में संयुक्त राज्य की नीति में आए परिवर्तन महत्वपूर्ण थे। संयुक्त राज्य ने प्लैट संशोधन नामक उस व्यवस्था को रद्द कर दिया जिसके आधीन उसने क्यूबा में अपनी सेना भेजने का अधिकार अपने को आप ही दे डाला था। उसने पनामा नहर क्षेत्र को छोड़कर बाकी पानामा से अपनी सेना वापस बुला ली, लेकिन इन कार्रवाइयों से लैटिन अमरीका पर संयुक्त राज्य के प्रभुत्व का अंत नहीं हुआ और आगे के वर्षों के दौरान अहस्तक्षेप की नीति का पालन नहीं किया गया।

यूरोप में फ़ासीवाद के उदय के बाद कुछ लैटिन अमरीकी देशों में भी फ़ासीवादी मंडलियाँ और दल स्थापित किए जाने लगे। इनमें से कई देशों में जर्मनी, इटली और स्पेन से आकर बहुत-से लोग बस गए थे। लेकिन लैटिन अमरीका के देश फ़ासीवाद के ख़तरे के प्रति सजग हो उठे और फ़ासीवाद मंडलियों तथा दलों की गतिविधियों को रोकने के लिए संयुक्त मोर्चे बनाने की कोशिशें की गईं। उन्होंने फ़ासीवादी देशों तथा जापान की आक्रामक कार्रवाइयों की निंदा की। मैक्सिको लगातार फ़ासीवाद-विरोधी नीति का अनुसरण करता रहा। उसने मंचूरिया में जापानी अतिक्रमण की, इथियोपिया पर इटली के आक्रमण तथा कब्ज़े की और जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को अपने साम्राज्य में मिलाए जाने की कार्रवाइयों की भर्त्सना की। उसने उन हज़ारों स्पेनी गणतंत्रवादियों को शरण दी जिन्हें इटली तथा जर्मनी के समर्थन से फ्रैंको द्वारा स्पेनी गणतंत्र के समाप्त कर दिए जाने के बाद स्वदेश छोड़कर भागना पड़ा था।

यूरोपीय परिदृश्य

1919 और 1923 के बीच का यूरोप

यूरोप में नए राज्य

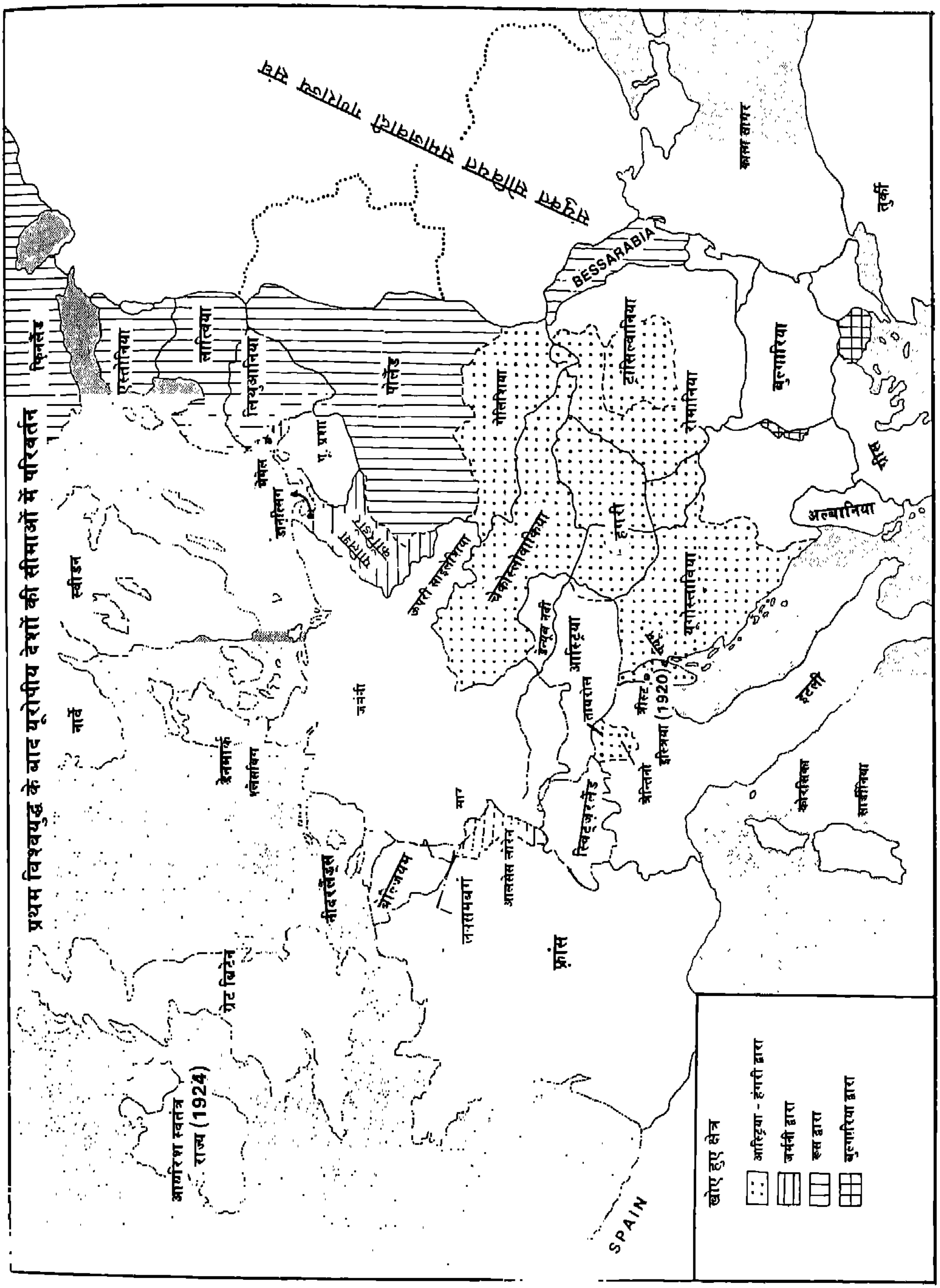
जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ ही कई यूरोपीय राष्ट्र स्वतंत्र राज्यों के रूप में उदित हुए। ये राज्य थे-एस्तोनिया, लैत्विया, लिथुआनिया, फ़िनलैंड, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया। कुछ नए राज्य पुराने राज्य में नए क्षेत्र मिलाने से बने, जैसे यूगोस्लाविया। 1922 में आयरलैंड को, जो इंग्लैंड से स्वतंत्र होने के लिए संघर्ष कर रहा था, विभाजित किया गया। आयरिश फ़्री स्टेट को अधिराजत्व (डोमिनियन) का दर्ज़ा दिया गया जबकि उत्तर आयरलैंड (अल्स्टर) ने, जिसमें छह काउंटियाँ थीं, ब्रिटेन से अपना संबंध बनाए रखा। बाद में आयरिश फ़्री स्टेट ने स्वयं को "आयर" के नाम से एक संप्रभुता युक्त राज्य (आगे चलकर आयरलैंड गणतंत्र) घोषित कर दिया। हंगरी और ऑस्ट्रिया दो अलग राज्य बन गए।

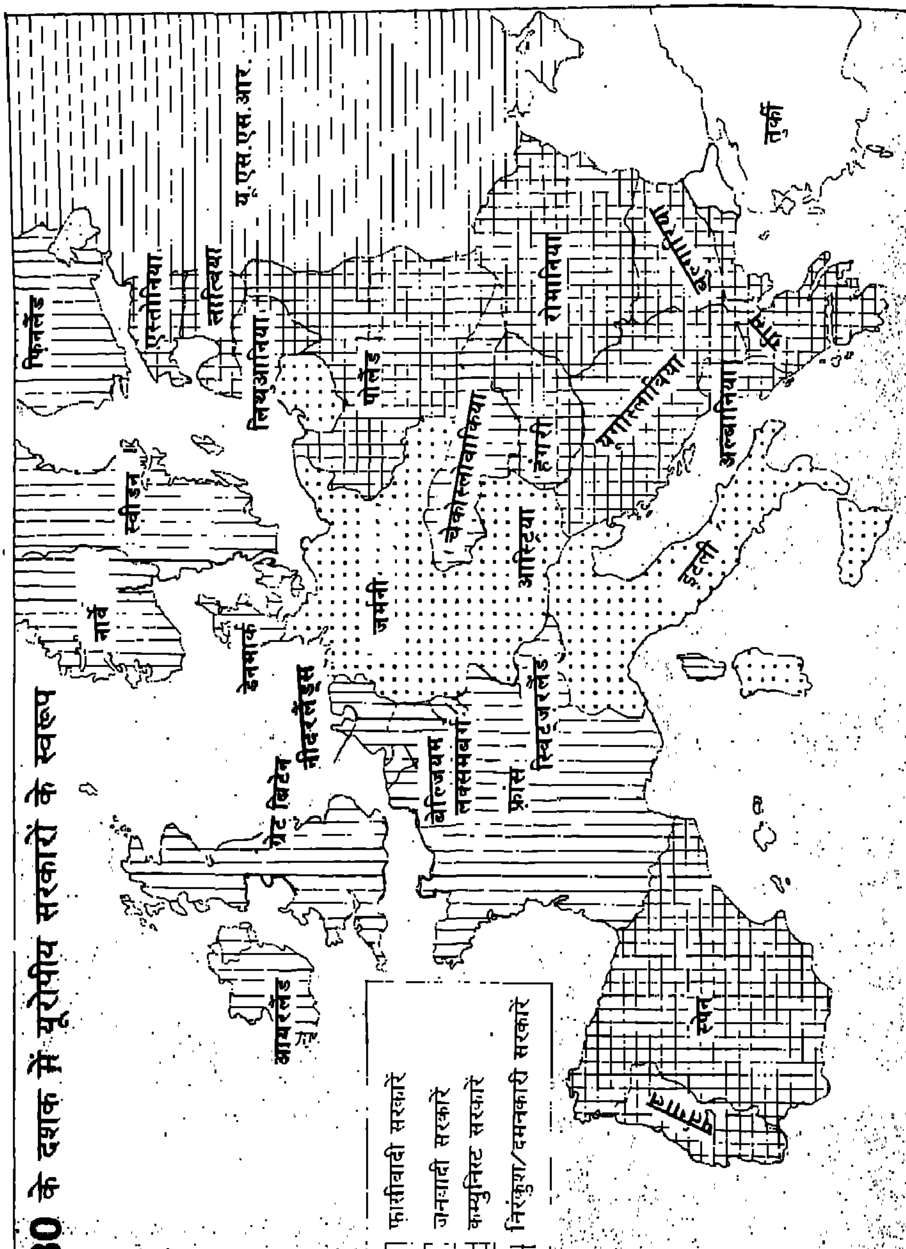
शांति संधियों के फलस्वरूप यूरोप के विभिन्न राज्यों के जो सीमांकन किए गए वे तनावों और झगड़ों के कारण बन गए। मध्य, दक्षिणी तथा पूर्वी यूरोप के अधिकतर देश इन सीमांकनों से असंतुष्ट थे। उनमें से कई असुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहे। इस काल से विभिन्न देशों के बीच मित्रता और अनाक्रमण की बहुत-सी संधियों और समझौतों पर हस्ताक्षर हुए और बाद में इन समझौतों तथा संधियों से संबंधित पक्षों ने कई बार अपनी स्थितियाँ बदलीं। इस समय यूरोप के अंदर जो प्रादेशिक विवाद चल रहे थे वे बीस साल बाद द्वितीय विश्व युद्ध के तात्कालिक कारण बने।

सर्वसत्तावादी शासनों का उदय

युद्ध के शीघ्र बाद के वर्ष प्राय: प्रत्येक यूरोपीय देश के लिए अशांति के वर्ष थे। युद्ध अपने पीछे अनेक समस्याएँ छोड़ गया था। अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी जिसे नए सिरे से इस तरह सँवारना था कि वह शांति काल की आवश्यकताएँ पूरी कर सके। युद्ध में लाखों लोगों की मृत्यु और लाखों के अपाहिज हो जाने से उत्पन्न दुख-दर्द मामूली नहीं था। जो लोग बच गए थे उनके सामने अब असैनिक कामकाज में लगने की समस्या थी, यानी वे बेरोज़गारी झेल रहे थे। इन तमाम कारणों से व्यापक असंतोष फैला। यूरोप के हर देश में हड़तालों का सिलसिला-सा बँध गया और कुछ देशों में मौजूदा व्यवस्था को क्रांति द्वारा उखाड़ फेंकने की भी कोशिशें की गईं। रूसी क्रांति का उदाहरण कई देशों के श्रमिकों के लिए प्रेरणा का स्रोत था। साम्यवादी दलों तथा समाजवादी लोकतांत्रिक दलों के कुछ हिस्सों ने भी सोवियत ढंग की क्रांतियों का संगठन करने का प्रयत्न किया। क्रांति का सबसे गंभीर विस्फोट जर्मनी में हुआ। हंगरी में बेला कुन के नेतृत्व में 1919 में एक क्रांतिकारी सरकार सत्ता में आई। लेकिन 1923 तक यूरोप के अन्य भागों में समाजवादी क्रांति के सफल होने की संभावना बिलकुल तिरोहित हो चुकी थी और हंगरी की क्रांति भी सिर्फ़ पाँच महीने टिक पाई थी।

इस स्थिति का कारण यह था कि समाजवादी दलों तथा आमूल परिवर्तनवादी मंडलियों में बहुधा एकता का अभाव रहता था। बहरहाल क्रांति की संभावनाओं के मिटने का नतीज़ा यह हुआ कि कई देशों में लोकतंत्र विरोधी तथा सर्वसत्तावादी शक्तियाँ प्रबल हो उठीं और 1930 ई. वाले दशक के आरंभिक वर्षों तक यूरोप के कुछ गिने-चुने देश ही लोकतांत्रिक संस्थाओं और लोकतांत्रिक शासन पद्धति को बरकरार रख पाए। हंगरी में एक सर्वसत्तावादी सरकार सत्तासीन हो चुकी थी जिसका अभिभावक या संरक्षक हॉर्थी था। रोमानिया और युगोस्लाविया में सर्वसत्तावादी राजतंत्रिक सरकारें प्रतिष्ठित हो गईं। पोलैंड में जोसफ़ पिलसुद्स्की के अधीन एक तानाशाही सरकार ने सत्ता हथिया ली। यूनान में राजतंत्र फिर से कायम कर दिया गया था लेकिन कई वर्षों तक वहाँ की राजनीतिक स्थिति डावाँडोल रही, राजा बदलते रहते थे और सेना के जनरल तख़्तापलट करते रहते थे। 1936 में जोआनस मेटाक्सस के नेतृत्व में वहाँ फ़ासीवादी तानाशाही स्थापित हो गई। स्पेन का शासन राजतंत्रिक था लेकिन वहाँ जनरल मिगुएल प्राइमो डि रिवेरा ने 1923 ई. में सैनिक तानाशाही कायम की। यह तानाशाही 1930 तक चलती रही और 1931 में जब राजतंत्र विरोधी शक्तियों ने चुनावों में भारी विजय प्राप्त की तो स्पेन एक गणतंत्र बन


प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोपीय देशों की सीमाओं में परिवर्तन
फिनलैंड
एस्तोनिया
लात्विया
लिथुआनिया
पोलैंड
पू. प्रशा
मेमेल
डान्ज़िग
ऊपरी साइलेशिया
गेलिशिया
चेकोस्लोवाकिया
ट्रांसिल्वानिया
रोमानिया
BESSARABIA
बुल्गारिया
तुर्की
काला सागर
ग्रीस
अल्बानिया
हंगरी
यूगोस्लाविया
आस्ट्रिया
डेन्यूब नदी
टायरोल
इस्ट्रिया (1920)
ट्रेन्टिनो
इटली
कोर्सिका
सार्डीनिया
स्विट्ज़रलैंड
आलसेस लारेन
सार
लक्समबर्ग
बेल्जियम
नीदरलैंड्स
जर्मनी
डेनमार्क
श्लेसविग
स्वीडन
नार्वे
ग्रेट ब्रिटेन
आयरिश स्वतंत्र राज्य (1924)
फ्रांस
SPAIN
खोए हुए क्षेत्र
आस्ट्रिया - हंगरी द्वारा
जर्मनी द्वारा
रूस द्वारा
बुल्गारिया द्वारा



1930 के दशक में यूरोपीय सरकारों के स्वरूप

गया। इस काल की सबसे गंभीर घटना इटली में फ़ासीवादी तानाशाही की स्थापना थी जिसका विवरण अलग से दिया जाएगा।

ब्रिटेन, फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया

जिन देशों ने अपने यहाँ सर्वसत्तावादी सरकारें कायम नहीं होने दीं उनमें स्कैंडिनेवियाई देशों के अलावा ब्रिटेन, फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया थे। लेकिन इन देशों को भी गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। ब्रिटेन में 20 लाख बेरोज़गार लोग थे। लेबर पार्टी ने बेरोज़गारी दूर करने के लिए कदम उठाने, अमीरों पर भारी कर लगाने, मज़दूरी बढ़ाने, बड़े पैमाने पर निर्माण कार्यक्रम आरंभ करके आवासों की कमी को दूर करने आदि के लिए मुहिम चला रखी थी। इन सरगरमियों के फलस्वरूप लेबर पार्टी 1923 के चुनावों में विजयी हुई। लेकिन लेबर पार्टी की सरकार जो 1924 के आरंभ में पदासीन हुई थी, ज़्यादा दिनों तक कायम न रह सकी और वह अपने वादों में से बहुत कम को ही पूरा कर पाई। इस काल में फ्रांसीसी सरकार पर बड़े उद्योगपति और बैंकर हावी थे। फ्रांस की महत्वाकांक्षा यूरोप की परम शक्ति बनने की थी। इस उद्देश्य से उसने जर्मनी के संसाधनों को अपने नियंत्रण में लाने की कोशिश की। नवोदित राज्य चैकोस्लोवाकिया को गणतंत्र घोषित किया गया जिसका अध्यक्ष (राष्ट्रपति) तामस मसारिक बना। 1919 में चेकोस्लोवाकिया ने एक संविधान अपनाया। वहाँ अनेक महत्वपूर्ण सुधार लागू किए गए और जहाँ पूर्वी तथा दक्षिणी यूरोप के ज़्यादातर देश दो युद्धों के बीच के काल में आर्थिक दृष्टि से पिछड़े रहे, चेकोस्लोवाकिया का तीव्र औद्योगिक विकास हुआ।

वाइमार गणतंत्र

जर्मनी में 1919 में एक संसदीय गणतंत्र स्थापित किया गया। इसे लोग वाइमार गणतंत्र के नाम से जानते हैं जिसका कारण यह है कि वाइमार नगर में ही उस संविधान-सभा का अधिवेशन हुआ था जिसमें नया संविधान तैयार हुआ। इस संविधान में अनेक विशेषाधिकारों से संपन्न एक राष्ट्रपति (प्रैसिडेंट), संसद के प्रति ज़िम्मेदार एक चांसलर (प्रधानमंत्री) तथा सार्वजनीक वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित राइक्सरा नामक संसद की व्यवस्था की गई थी। इसके अलावा जनता की स्वतंत्रता के अधिकारों की रक्षा का भी विधान किया गया था।

जर्मनी में 'थोपी गई' शांति के ख़िलाफ़ बहुत असंतोष था और वर्साय संधि में समाविष्ट कई धाराओं को लगभग सभी लोग अन्यायपूर्ण मानते थे। इसके बावजूद उग्र राष्ट्रवाद का विरोध करने वाले समाजवादी लोकतांत्रिक दल (सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी) और साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी) प्रबल राजनीतिक दलों के रूप में उभरे। समाजवादी लोकतांत्रिक दल 1930 तक जर्मनी के शासक दलों में से एक था। साम्यवादी दल ने 1923 ई. में क्रांति करने का एक और प्रयत्न किया था जो विफल हो गया था।

इस बीच सर्वसत्तावादी मंडलियाँ और दल उभरने लगे थे। वे लोकतंत्र के निंदक थे, वर्साय संधि को अस्वीकार कर देने की हिमायत करते थे और युद्ध की महिमा का बखान किया करते थे। उन्होंने लोकतांत्रिक पद्धति से निर्वाचित सरकार का तख़्ता पलट कर उसके स्थान पर तानाशाही स्थापित करने के षड्यंत्र रचे। उन्हें बड़े-बड़े व्यावसायियों तथा जर्मन सेना के एक बहुत बड़े वर्ग का समर्थन प्राप्त था। उन्होंने युद्ध में जर्मनी की हार के लिए यहूदियों और साम्यवादियों को दोषी बताया और देश को उनके प्रभाव से मुक्त कराने के लिए हत्याओं और आतंक की योजनाएँ बनाई। 1920 में उन्होंने एक साज़िश के द्वारा सत्ता प्राप्त करने की कोशिश की। एक षड्यंत्रकारी संगठन के स्वयंसेवकों तथा सेना में उनके समर्थकों ने बर्लिन पर कब्ज़ा कर लिया। समाजवादी लोकतांत्रिक दल की सरकार को भंग कर दिया गया और काप नाम के एक व्यक्ति के अधीन एक नई सरकार स्थापित कर दी। इस घटना की प्रतिक्रिया में सभी समाजवादी तथा लोकतांत्रिक दल एकजुट हो गए। देश में आम हड़तालें आयोजित की गईं और श्रमिक लोग षड्यंत्रकारियों से लड़ने के लिए शस्त्र सज्जित हो गए। शीघ्र ही षड्यंत्रकारियों को खदेड़ दिया गया। 1919 में नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी (राष्ट्रवादी समाजवादी जर्मन श्रमिक दल) का गठन



टी.ए.स्टीले का चित्र "यह हमारा घर है"। इसमें एक फ्रांसीसी परिवार को
अपने गाँव वापस आते हुए दिखाया गया है जो युद्ध में तहस नहस हो गया था।

किया गया था जिसे संक्षेप में नाज़ी दल कहा जाता था। एडॉल्फ़ हिटलर के नेतृत्व में इस दल ने भी 1923 ई. में एक विद्रोह करने की कोशिश की थी जिसे दबा दिया गया।

वाइमार गणतंत्र की आर्थिक समस्याएँ

वाइमार गणतंत्र जर्मनी में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था कायम करने में तो सफल हो गया था लेकिन उसे गंभीर आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। वर्साय संधि की कुछ धाराओं तथा कुछ अन्य यूरोपीय शक्तियों के रवैये के कारण ये समस्याएँ और भी गंभीर हो गई थीं। जर्मनी को मित्र-शक्तियों को क्षतिपूर्ति के तौर पर 660 करोड़ पौंड देने थे। 1921 में उसने 5 करोड़ पौंड की पहली किस्त चुका दी लेकिन आगे की किस्तों की पूरी अदायगी करने में वह असमर्थ था। सीधी सी बात यह थी कि इस दायित्व को पूरा करने के लिए उसके पास संसाधन ही नहीं थे। बेकाबू मुद्रा स्फीति के कारण जर्मन अर्थव्यवस्था बुरी तरह चरमरा गई थी। 1921 का अंत होते-होते जर्मन मुद्रा मार्क का मूल्य गिरकर पहले के मुकाबले पचासवाँ हिस्सा रह गया था। पहले 20 मार्क एक ब्रिटिश पौंड के बराबर होते थे, अब हज़ार से भी अधिक मार्क एक पौंड के बराबर हो गए थे। 1922 में उसमें और भी गिरावट आई। जनवरी 1923 में बेल्जियम और फ़्रांस की सेनाओं ने रूर घाटी पर कब्ज़ा कर लिया जो जर्मनी के कोयला तथा धातु उद्योगों का केंद्र थी। उन्होंने यह कार्रवाई जर्मनी के कोयले और इस्पात से अपनी क्षतिपूर्ति की रकमों की भरपाई के लिए की थी। लेकिन जर्मन श्रमिकों ने उनसे सहयोग करने से इन्कार कर दिया और वे हड़ताल पर चले गए। उन्होंने अनाक्रामक प्रतिरोध का सहारा लिया जिसमें उनकी सरकार ने भी उनका समर्थन किया। जर्मन सरकार ने बेशुमार कागज़ी मुद्रा छापना शुरू कर दिया जिससे भारी संकट उपस्थित हो गया। नवंबर 1923 तक जर्मन मुद्रा कौड़ी के मोल की भी नहीं रह गई थी। अब एक ब्रिटिश पौंड की कीमत पाँच अरब मार्क हो गई थी। 1923 के अंत में एक मुद्रा सुधार कार्यक्रम लागू किया गया। सुधार अनिवार्य हो गया था लेकिन जर्मन लोगों के कई वर्गों के लिए वह विनाशकारी साबित हुआ। किया यह गया कि एक नई मुद्रा का चलन आरंभ



कबाडी की दुकान पर जर्मन मुद्रा जो रद्दी कागज़ की तरह से इस्तेमाल की जाती थी

कर दिया गया। इसका मतलब यह था कि लाखों लोगों की बचतें देखते-देखते हवा हो गईं। सबसे बुरा हाल मध्य वर्ग तथा निम्न मध्य वर्ग यानी वेतनभोगी लोगों का हुआ। लाखों लोग अचानक मुफ़लिस हो गए। इस विपत्ति से सबसे ज़्यादा लाभ नाज़ी दल को हुआ। हताश होकर अपने त्राण के लिए बहुत-से लोग इस दल की ओर उन्मुख हुए। 1924 में संयुक्त राज्य और अन्य देशों से मिलनेवाले ऋणों के बल पर जर्मन अर्थव्यवस्था सँभलने लगी। इन ऋणों से जर्मनी ने नए सिरे से अपनी अर्थव्यवस्था का निर्माण करना आरंभ किया और साथ ही क्षतिपूर्ति की रकमें भी अदा करने लगा। लेकिन जब विश्व व्यापी आर्थिक मंदी ने अन्य देशों के साथ जर्मनी की भी अर्थव्यवस्था को संकट में डाल दिया तो अंत में क्षतिपूर्ति की राशियों की अदायगी बंद कर दी गई।

इटली में फ़ासीवाद

यूरोप के अन्य देशों की ही तरह इटली में भी युद्ध के शीघ्र बाद के वर्षों के दौरान बेरोज़गारी और जनक्षोभ व्यापक रूप से फैला हुआ था। समाजवादी आंदोलन एक प्रबल शक्ति के रूप में उभरा था, हालाँकि तरह-तरह के आंतरिक विभेदों के कारण उसकी प्रभावशीलता में कमी आ गई। इस बीच इटली में एक लोकतंत्र विरोधी हिंसक आंदोलन अर्थात् फ़ासीवादी आंदोलन का जन्म हो चुका था। राष्ट्र के शत्रु माने जाने वाले लोगों–ख़ासकर समाजवादियों, साम्यवादियों तथा श्रमिकों एवं किसानों के आंदोलनों के नेताओं को आतंकित करने के लिए सशस्त्र दल खड़े किए गए जो फ़ासी कहलाते थे। प्राचीन रोम साम्राज्य का वैभव उनकी प्रेरणा का स्रोत था और इटली की विगत महानता को पुन: प्रतिष्ठित करने के लिए वे हिंसा तथा युद्ध की पूजा का प्रचार करते थे।

इटली के शासक वर्गों ने अपने देश को मित्र शक्तियों की ओर से युद्ध में झोंक दिया था। युद्ध समाप्त हुआ तो उन्हें लगा कि उनके साथ धोखा हुआ है। इटली की औपनिवेशिक तथा महान शक्ति कहलाने की अपनी महत्वाकांक्षाएँ थीं जिन्हें मित्र शक्तियाँ संतुष्ट नहीं कर पाईं। यूरोप में तो उसे आस्ट्रिया के कुछ प्रदेश मिले थे, लेकिन उपनिवेशों में हिस्सा पाने की उसकी आकांक्षा अतृप्त रह गई थी। शासक वर्गों को फ़ासीवादी आंदोलन के रूप में अपनी महत्वाकांक्षाएँ पूरी करने का एक उपकरण नज़र आया। देश के अंदर फ़ासीवादी आंदोलन को एकमात्र ऐसी शक्ति के रूप में देखा जा रहा था जो उन वर्गों को सामाजिक क्रांति से बचा सकता था।

नवंबर 1921 में राष्ट्रीय फ़ासीवादी पार्टी स्थापित की गई जिसका नेता था बेनितो मुसोलिनी। हड़तालें तोड़ने और साम्यवादी तथा समाजवादी नेताओं की हत्या कराने के लिए हज़ारों कालीकुर्तीधारी (ब्लैक शर्ट्स) भरती किए गए। फ़ासीवादी आंदोलन की लोकप्रियता इन सशस्त्र गिरोहों तथा शासक वर्गों–अर्थात् उद्योगपतियों एवं बड़े ज़मींदारों के दायरे तक ही सीमित थी लेकिन बढ़ते हुए फ़ासीवादी ख़तरे के ख़िलाफ़ की जाने वाली हड़तालों और प्रदर्शनों को कुचलने



मुसोलिनी

में वे कामयाब रहे। सरकार बढ़ती हुई फ़ासीवादी हिंसा की मूकदर्शक बनी रही। फ़ासीवादी 1919 ई. में संसद में एक भी स्थान नहीं जीत पाए थे। 1921 में उन्होंने पैंतीस स्थान जीते। लेकिन जन-समर्थन प्राप्त करने में ख़ास प्रगति करने में फ़ासीवादियों की नाकामयाबी के बावजूद शासक वर्ग उनसे साँठ-गाँठ करने से बाज़ नहीं आए। फ़ासीवादियों ने बोलोना और मिलान नगरों पर ज़बरदस्ती दख़ल जमा लिया। 24 अक्तूबर, 1924 को उन्होंने रोम की ओर एक प्रयाण मार्च का आयोजन किया। इन सशस्त्र प्रयाणियों को कुचलने के बदले सरकार ने उनके सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इटली

के राजा ने बेनिंतो मुसोलिनी को, जो स्वयं इस प्रयाण में शामिल भी नहीं था, सरकार बनाने के लिए निमंत्रित किया। उसने शीघ्र ही तानाशाही अधिकार हस्तगत कर लिए और कालीकुर्ताधारी गिरोहों द्वारा मचाए गए आतंक के बीच 1924 में चुनाव करवाए। जब जियासोमो मैतीयोती नामक एक समाजवादी सांसद ने संसद में चुनावों के दौरान फ़ासीवादियों द्वारा मचाई गई हिंसा के बारे में बोलने की हिम्मत की तो उसकी हत्या करवा दी गई। उसके बाद समाजवादियों, साम्यवादियों तथा अन्य राजनीतिक विरोधियों की सुनियोजित ढंग से हत्या कराने का सिलसिला चल निकला और 1926 में सभी ग़ैर फ़ासीवादी दलों तथा संगठनों को अवैध घोषित करके भंग कर दिया गया।

इतालवी फ़ासीवादियों द्वारा अपनाए गए तरीकों का अनुसरण अन्य देशों में भी किया गया और उनमें से कुछ देशों में ये तरीके सफल रहे।

1924 से 1936 तक यूरोप

यूरोप पर महामंदी का प्रभाव

1924 से लेकर महामंदी आरंभ होने से पहले तक का काल सामान्यत: आर्थिक समुत्थान एवं विकास का काल था। यद्यपि मौजूदा व्यवस्था को क्रांति द्वारा समाप्त कर देने का भय मिट चुका था तथापि बहुत-से देशों की सरकारें और साथ ही समाजवाद के विरोधी लोग क्रांति के भय का भूत दिखाते रहे ताकि वे अपनी रूढ़िवादी नीतियों का निर्बाध अनुसरण करते रह सकें। कुछ देशों में बड़े-बड़े उद्योगपतियों के समर्थन और सरकार तथा सेना की मिलीभगत से फ़ासीवादी आंदोलनों ने सर्वसत्तावादी शासन की स्थापना की खुल्लमखुल्ला हिमायत की।

1920 वाले दशक के मध्य से आर्थिक समुत्थान का जो दौर आरंभ हुआ था वह 1929 में समाप्त हो गया। 1929-30 की कालावधि को "दु:स्वप्न की शुरुआत" कहा गया है। यह दु:स्वप्न 1933 तक जारी रहा जिसके बाद फिर से इसके समुत्थान का काल आरंभ हुआ। यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं पर उपस्थित संकट 1929 में संयुक्त राज्य में आई महामंदी का सीधा परिणाम था। अमरीका ने यूरोप को कर्ज़ देना बिल्कुल बंद कर दिया और लगातार कर्ज़ मिलते रहने से जिन देशों की अर्थव्यवस्था का विकास हुआ था उन पर इसका सबसे बुरा प्रभाव पड़ा,जैसे कि जर्मनी पर। अमरीका की ही तरह यूरोप में भी उद्योग-धंधे बंद होने लगे और करोड़ों लोग बेरोज़गार हो गए। 1932 में जर्मनी में 60 लाख लोग बेरोज़गार थे और लगभग आधी आबादी विपन्न थी। ब्रिटेन में बेरोज़गारों की संख्या तीस लाख थी।

जो यूरोपीय देश बुनियादी तौर पर कृषि प्रधान रह गए थे उन पर भी इसका बहुत बुरा असर हुआ। उनका सारा दारोमदार उनके कृषि-उत्पादों के निर्यात पर निर्भर था। कृषि-उत्पादों की कीमतों में भारी गिरावट से उनकी अर्थव्यवस्थाओं पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। हर देश ने अपने यहाँ के आयात पर प्रतिबंध लगा दिए जिसके गंभीर परिणाम हुए। यूरोप के आर्थिक संकट के राजनीतिक परिणाम लोकतंत्र के लिए विनाशकारी साबित हुए। इस काल के समाप्त होते-होते यूरोप के अधिकांश देशों में सर्वसत्तावादी, अर्ध-फ़ासीवादी तथा फ़ासीवादी शासन कायम हो चुके थे और जिन देशों में लोकतंत्र बचा भी रहा, उनमें भी फ़ासीवादी शक्तियों का ज़ोर बढ़ा। जर्मनी में आधुनिक काल का सबसे बर्बरतापूर्ण शासन स्थापित हुआ। इस काल के समाप्त होते-होते यूरोप तथा बाकी की दुनिया फिर से युद्ध की ओर खिसकती जा रही थी।

ब्रिटेन का घटनाचक्र

अर्थव्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने के वादे के बल पर 1924 में ब्रिटेन में लेबर पार्टी की प्रथम सरकार बनी। वह कुछ भी करके दिखा नहीं पाई और दस महीने में ही समाप्त हो गई। भय फैलाने के लिए लिखे गए एक जाली पत्र ने इस सरकार के पतन में कुछ योगदान किया। यह पत्र जिनोवीव के नाम से लिखा गया था जो उन दिनों कोमिंटर्न का अध्यक्ष था। उसमें ब्रिटेन के साम्यवादियों को वहाँ विद्रोह कराने और ब्रिटिश थल सेना तथा नौ सेना में अंदर से तोड़-फोड़ कराने की हिदायत दी गई थी। कंज़र्वेटिव पार्टी ने लेबर पार्टी पर साम्यवादियों का हमदर्द होने का आरोप लगाकर उस पर प्रहार

किए और अक्टूबर में उसने सत्ता प्राप्त कर ली। उसकी सरकार 1929 तक कायम रही।

इसी दौर में ब्रिटिश इतिहास की सबसे बड़ी हड़ताल हुई जो कि नाकामयाब रही। मई 1926 में मज़दूरी में कटौती और काम के घंटों में बढ़ोतरी की आशंका के ख़िलाफ़ ब्रिटेन के कोयला खान मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। ब्रिटिश सरकार ने पूरे तौर पर कोयला खान मालिकों का पक्ष लिया। 4 मई 1926 को तीस लाख श्रमिकों ने कोयला खनाकों के प्रति सहानुभूति में हड़ताल की। हड़तालियों में रेलकर्मी, परिवहन मज़दूर, इस्पात उद्योग श्रमिक तथा कुछ अन्य उद्योगों के भी मज़दूर शामिल हुए। इस हड़ताल को "आम हड़ताल" के नाम से जाना जाता है। ब्रिटेन की सरकार और उद्योगपति हड़ताल से चौंक उठे और इसे तोड़ने की हर संभव कोशिशें की गईं। हड़ताल के प्रति सरकार के पूर्णत: विरोधी रवैये तथा आम जनता को उसके ख़िलाफ़ खड़ा करने के लिए किए गए भारी प्रचार के फलस्वरूप 12 मई को आम हड़ताल वापस ले ली गई। लेकिन फिर भी खान मज़दूरों की हड़ताल कई महीने चलती रही जो आखिर में पूरी नाकामयाबी के साथ समाप्त हो गई और श्रमिकों को कम मज़दूरी तथा काम के अधिक घंटों की शर्त पर काम पर लौटने को मजबूर होना पड़ा। इसके शीघ्र बाद सरकार ने आम हड़तालों को अवैध घोषित कर दिया।

1929 में लेबर पार्टी फिर सत्ता में आ गई। जब ब्रिटेन आर्थिक संकट की चपेट में आया तब लेबर प्रधानमंत्री ने वेतन और मज़दूरी में कटौती तथा बेराज़गारी राहत और समाज कल्याण के अन्य कार्यक्रमों में कमी करके इससे मुकाबला करना चाहा। अन्य अधिकांश मंत्रियों ने इसमें उसका साथ देने से इन्कार कर दिया। फलत: उसने त्यागपत्र दे दिया। अब एक राष्ट्रीय सरकार का गठन किया गया, जिसमें ज़्यादातर मंत्री कंज़र्वेटिव पार्टी के थे। राष्ट्रीय सरकार का समर्थन करने वाले दल 1935 के चुनावों के बाद भी सत्ता में बने रहे, हालाँकि उनका बहुमत पहले से कम हो गया था। इस बीच ब्रिटेन में एक फ़ासीवादी आंदोलन भी उभरा जो यहूदियों के ख़िलाफ़ हिंसा की हिमायत करता था और जिसने अव्यवस्था तथा उपद्रव फैलाए।

1933 के बाद ब्रिटेन आर्थिक संकट से उबरने लगा, हालाँकि बेरोज़गारों की संख्या अब भी लगभग पंद्रह लाख थी। उपनिवेशों में राष्ट्रवादी आंदोलनों की बढ़ती हुई शक्ति के कारण ब्रिटेन की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में और भी कमज़ोरी आ गई। 1931 में ब्रिटिश साम्राज्य के "गोरे" अधिराज्य (डोमिनियन), अर्थात् गोरों से आबाद देशों के ब्रिटिश अधिराज्य लगभग स्वतंत्र हो गए। वे ब्रिटिश राष्ट्रकुल (ब्रिटिश कॉमनवेल्थ ऑफ़ नेशंस) के सदस्य तो बने रहे, लेकिन अब ब्रिटिश कानून उन पर लागू नहीं रहे और वे अपनी स्वतंत्र नीतियों पर चलने लगे। 1936 में फ़ासीवादी देशों के आक्रामक युद्ध आरंभ कर दिए जिनसे अख़िरकार दूसरे विश्व युद्ध की विनाश-लीला मची। अन्य पश्चिमी देशों की तरह ब्रिटिश सरकार ने भी फ़ासीवाद के तुष्टीकरण की नीति अपनाई, यद्यपि फ़ासीवाद विरोधी दलों तथा मंडलियों ने इस नीति के ख़तरनाक परिणामों के प्रति लोगों को सचेत करने की कोशिशें कीं।

फ़्रांस में राजनीतिक अस्थिरता

फ़्रांस में यह अस्थिरता का काल था। फ़्रांस के मन में यूरोप की सर्वप्रमुख शक्ति बनने की महत्वाकांक्षा पल रही थी और उसने भारी शस्त्रीकरण कार्यक्रम आरंभ कर दिया था। जर्मनी के कोयला तथा इस्पात उद्योगों को हथियाने के लिए फ़्रांस द्वारा रूर घाटी पर कब्ज़ा कर लिए जाने का उल्लेख हम कर चुके हैं। 1924 के बाद फ़्रांस को रूर से वापस चला जाना पड़ा। फ़्रांस की सरकार में व्यवसायी वर्गों और भ्रष्ट राजनीतिज्ञों का बोलबाला था और इन दोनों की खूब मिलीभगत थी। अत: वहाँ की सरकारें चंद महीनों के अंतराल में ही बनती-बिगड़ती रहती थीं। आर्थिक संकट के दौरान जब बेरोज़गारों की संख्या लगभग पंद्रह लाख पर पहुँच गई और औद्योगिक तथा कृषि उत्पादों में 30 प्रतिशत से अधिक गिरावट आ गई तो समाजवादी तथा साम्यवादी दलों का ज़ोर बढ़ा। साथ ही एक प्रबल फ़ासीवादी आंदोलन भी उठ खड़ा हुआ जिसने सत्ता हाथियाने के लिए हिंसा और आतंक का रास्ता अपनाया। 1933 में फ़्रांस एक भारी घोटाले में डाँवाडोल हो उठा। एलेक्ज़ैंडर स्ताविस्की नामक एक सटोरिए ने लोगों

को ठग कर साठ करोड़ फ्रैंक की विशाल संपत्ति अर्जित कर ली थी। जब इसका भंडाफोड़ हुआ तो पता चला कि इसमें बहुत-से राजनीतिज्ञ भी शामिल थे जिन्हें स्ताविस्की के भ्रष्ट सौदों में हिस्सा मिला था। इन राजनीतिज्ञों में कुछ ऐसे लोग भी थे जो सरकार में ऊँचे पदों पर आसीन थे। इस घोटाले को बहाना बनाकर फ़ासीवादियों ने पेरिस पर कब्ज़ा करके सरकार को भंग कर सत्ता हथियाने की कोशिश की। लेकिन साम्यवादियों तथा समाजवादियों ने इस फ़ासीवादी चाल को विफल करने के लिए श्रमिकों को लामबंद कर दिया। फ़ासीवादियों से उनकी जम कर भिड़ंत हुई और आख़िर उनके मंसूबे को नाकाम कर दिया गया।

1936 में एक महत्वपूर्ण बात हुई। फ़ासीवाद के ख़तरे का मुकाबला करने और ख़ास तौर से श्रमिकों के कल्याण के लिए फिर आवश्यक आर्थिक सुधार करने के उद्देश्य से साम्यवादियों, समाजवादियों तथा आमूल परिवर्तनवादी समाजवादियों (रैडिकल सोशलिस्ट्स) का एक जनमोर्चा गठित किया गया। जनमोर्चे ने चुनावों में भारी विजय पाई और उपर्युक्त समाजवादियों और रैडिकल समाजवादियों ने मिलकर जनमोर्चा सरकार बनाई। यह सरकार दो साल से कुछ अधिक समय तक चली। अपने शासन के प्रथम वर्ष में जब लियो ब्लूम प्रधान मंत्री था, जनमोर्चा सरकार ने कई महत्वपूर्ण कदम उठाए। शस्त्र उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया गया, मज़दूरी तथा वेतन में कटौती समाप्त कर दी गई और श्रमिकों के लिए सप्ताह भर के लिए चालीस घंटे का कार्य-काल तय किया गया।

फ़्रांस की विदेश नीति का उद्देश्य अपनी महाशक्ति बनने की आकांक्षाओं की पूर्ति करना तथा जर्मनी की ओर से किसी भी प्रकार के संभावित अतिक्रमण से अपनी रक्षा की व्यवस्था करना था। उसकी शह पर रोमानिया, यूगोस्लाविया तथा चेकोस्लोवाकिया के बीच एक गठजोड़ कायम हुआ था, जो लघु सुदृढ़ संघ (लिटल आंटांट) के नाम से प्रसिद्ध है। फ़्रांस ने उन्हें शस्त्रास्त्र भी दिए। उसे आशा थी कि अगर जर्मनी ने भविष्य में कोई आक्रामक कार्रवाई की तो इन देशों के भय से वह अपनी सारी शक्ति फ़्रांस के ख़िलाफ़ केंद्रित नहीं कर पाएगा। 1920 वाले दशक में उसने ऐसे सुरक्षा दुर्ग भी बनवाए थे ताकि जर्मनी से लड़ाई होने पर वह फ़्रांस में तेज़ी से आगे न बढ़ पाए। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी से मिला सबक उसे याद था। यह रक्षा प्रणाली मगिनो रेखा के नाम से विख्यात है। 1935 में उसने सोवियत संघ के साथ एक उभयपक्षी सहायता समझौता किया। सोवियत संघ ने ऐसी ही संधि फ़्रांस के मित्र चेकोस्लोवाकिया के साथ की। इस प्रकार एक तरह से एक त्रिपक्षीय सहायता संधि कायम हो गई। जब जनमोर्चा सरकार बनी तो आशा की जा रही थी कि फ़्रांस फ़ासीवादी अतिक्रमण के ख़िलाफ़ तन कर खड़ा होगा। लेकिन 1938 में यह मोर्चा समाप्त हो गया। एडुअर्ड दलादिया के नेतृत्व में जो सरकार बनी उसने ब्रिटिश सरकार की ही तरह फ़ासीवादी देशों के तुष्टीकरण की नीति अपनाई। इस सिलसिले में कुछ ही समय बाद वह अपने मित्र चेकोस्लोवाकिया को भी धोखा देने जा रहा था।

पुर्तगाल तथा स्पेन

ऊपर बताया जा चुका है कि हंगरी, पोलैंड, रोमानिया, यूगोस्लाविया तथा अन्य देशों में सर्वसत्तावादी और अर्ध-फ़ासीवादी सरकारें स्थापित की जा चुकी थीं। 1930 वाले दशक के आरंभ में पुर्तगाल में सालाज़ार ने सेना की मदद से फ़ासीवादी तानाशाही कायम कर ली थी। जर्मनी और इटली की फ़ासीवादी सरकारों से वह हमदर्दी रखता था और ब्रिटेन से मैत्रीपूर्ण संबंध रखते हुए उसने स्पेन में गणतंत्रवादियों को उखाड़ने में योगदान किया। स्वयं को गणतंत्र घोषित करने के बाद स्पेन को अनेक गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। 1932 में सेना के एक जनरल के नेतृत्व में विद्रोह हुआ लेकिन उसे दबा दिया गया। इस बीच वहाँ "फ़ेलंजे" नामक एक फ़ासीवादी आंदोलन ज़ोर पकड़ने लगा। इस आंदोलन को कैथोलिक चर्च का समर्थन प्राप्त था। स्पेनी फ़ासीवादियों ने राजनीतिक हत्याएँ कीं और सेना में अपने कई समर्थक तैयार कर लिए। फ़ासीवादियों और राजतंत्र-समर्थकों से मुसोलिनी ने मदद का वादा किया। फ़ासीवाद विरोधी ताकतों को एकजुट करने के लिए एक विद्रोह भी हुआ लेकिन उसे कुचल दिया गया। 1935 में खान-मज़दूरों ने अस्तूरिया में विद्रोह कर दिया और जनरल फ़्रैंसिस्को फ़्रैंको से विद्रोह को दबाने के लिए कहा गया। 1936 में स्पेन में चुनाव हुए। फ़ासीवाद के ख़तरे का सामना करने

के लिए एक जनमोर्चा खड़ा किया गया। जनमोर्चा चुनावों में विजयी हुआ। इस मोर्चे में सभी समाजवादी दल, साम्यवादी दल, अराज्यवादी (एनार्किस्ट) तथा वामपंथी गणतंत्रवादी शामिल थे। जनमोर्चा सरकार ने हज़ारों राजनीतिक बंदियों का रिहा कर दिया और महत्वपूर्ण आर्थिक तथा राजनीतिक कदम उठाए। लेकिन स्पेनी फ़ासीवादी फ़ेलंजे सेना के जनरलों के साथ जा मिले और स्पेन में घोर गृह-युद्ध आरंभ हो गया। गणतांत्रिक सरकार को उखाड़ फेंकने में सेना के जनरलों तथा फ़ासीवादियों को फ़ासीवादी सरकारों की भी मदद मिल रही थी। इस गृह-युद्ध तथा इसके परिणामों के बारे में हम आगे चर्चा करेंगें।

जर्मनी में नाज़ीवाद की विजय

इस काल की सबसे गंभीर घटना जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय थी। नाज़ी पार्टी के गठन तथा जिस तरह की साज़िश और विद्रोह (पुच) से मुसोलिनी सत्ता में आया था, इस तरह की साज़िश की कोशिशों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। युद्धोत्तर काल की मुद्रा-स्फीति तथा 1929 के आर्थिक संकट से उत्पन्न दुख-दैन्य का भी ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं। फ़ासीवाद का जर्मन रूप नाज़ीवाद सबसे अधिक बर्बरतापूर्ण था। इटली के फ़ासीवाद की तरह जर्मनी का नाज़ीवाद भी राजनीतिक लोकतंत्र तथा नागरिक स्वतंत्रता को हिकारत की नज़र से देखता था और युद्ध की महिमा का गुणगान करता था। जिस प्रकार इटली के फ़ासीवादी रोमन साम्राज्य के वैभव का पुन: प्रतिष्ठित करने का नारा लगाते थे उसी प्रकार जर्मनी के नाज़ीवादी प्राचीन ट्यूटोनी साम्राज्य की महानता को फिर से वापस लाना चाहते थे। नाज़ियों ने ग़ैर-यहूदी जर्मनों में सामी (सेमिटिक) जाति, यानी यहूदियों के प्रति विरोध की भावना को उभारा। उनका मानना था कि प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की हार के लिए यहूदी ही



एक नाज़ी पोस्टर देखते हुए लोग जिस पर लिखा है: 'हमारी अंतिम आशा हिटलर'

ज़िम्मेदार थे। यही नहीं, जर्मनी के सारे दुखों की जड़ उन्होंने यहूदियों को बताया। उन्होंने जर्मन जाति की शुद्धता और सुनहली "आर्य नस्ल" का ढिंढोरा पीटा। वे जर्मन नस्ल को दूसरी नस्लों से श्रेष्ठ और इसलिए उन सब पर शासन करने का हकदार मानते थे। उनका ध्येय जर्मन "नस्ल" के सभी लोगों को एक राज्य में संगठित करने का था ताकि महान जर्मनी का निर्माण किया जा सके। उन्होंने "हमारे लोगों के भरण-पोषण के लिए भूमि और प्रदेशों का" दावा किया।



अगस्त 1933 में हिटलर (बाएँ), हिंडनबर्ग (बीच में) तथा गोयरिंग (दाएँ)

उनका कहना था कि अतिरिक्त जर्मन आबादी को बसाने के लिए अधिक भूमि और प्रदेश आवश्यक हैं।

जर्मनी को सही रास्ते पर लाकर महान बनाने वाले नेता की कल्पना को बढ़ावा दिया गया। नाज़ी लोग साम्यवाद को अपना सबसे बड़ा शत्रु तथा उसके विनाश को अपना मुख्य कर्तव्य मानते थे। नाज़ियों ने जर्मन लोगों के युद्ध में पराजित होने के अपमान के भाव का उपयोग अपना उल्लू सीधा करने के लिए किया। उन्होंने लोगों को "थोपी गई शांति" की उन अन्यायपूर्ण धाराओं की याद दिलाई जिनके तहत जर्मनी को युद्ध-अपराध स्वीकार करने और क्षतिपूर्ति पर राज़ी होना पड़ा था। उन्होंने लोगों को इस सबका मार्जन करके राष्ट्रीय स्वाभिमान वापस दिलाने का सब्ज़बाग़ दिखाया। इन विचारों को सेना से भी काफ़ी समर्थन मिला जिसके ज़्यादातर अफ़सर ज़मींदार वर्ग के थे। ये लोग अपनी हार का बदला लेना चाहते थे। सबसे बड़ी बात यह हुई कि उन्हें जर्मन उद्योगपतियों का भी पूरा समर्थन मिला, क्योंकि समाजवादी तथा साम्यवादी दलों के प्रबल होने से वे लोग चिंतित हो उठे थे। उनका मानना था कि साम्यवादियों तथा समाजवादियों से उन लोगों की रक्षा तो केवल नाज़ी ही कर सकते हैं।

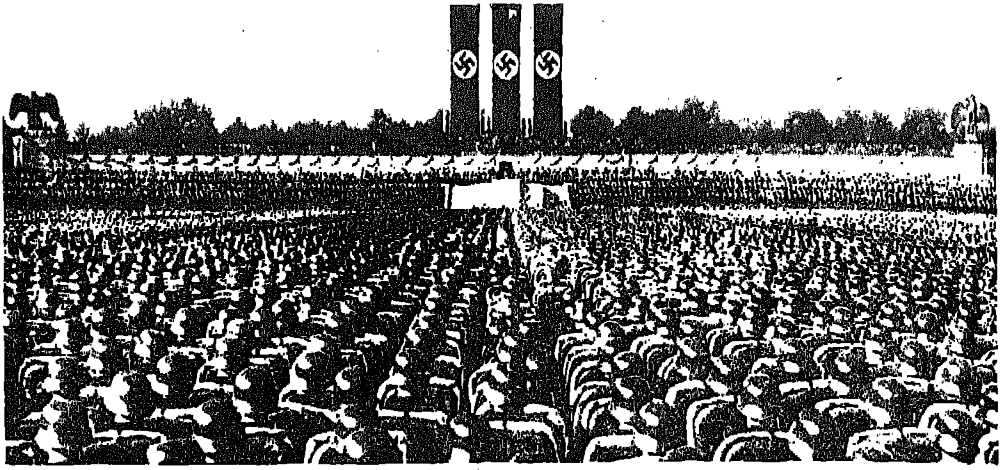
इतालवी फ़ासीवादियों की तरह नाज़ियों ने भी सशस्त्र स्वयंसेवक तैयार किए जिन्हें "एस ए" कहा जाता था। इनको आम तौर पर "भूरी शर्टधारी" कहा जाता था। ये लोग दिनों-दिन बढ़ते पैमाने पर फ़ासीवाद विरोधियों तथा यहूदियों की पिटाई और हत्या करने लगे, उनकी संपत्ति नष्ट करने लगे तथा उन्हें तरह-तरह से सार्वजनिक रूप से अपमानित करने लगे। 1930 तक भूरी शर्ट धारियों की संख्या लगभग एक लाख पर पहुँच गई। उनके और साम्यवादियों के बीच अक्सर झड़पें हो जाती थीं, लेकिन नाज़ियों की बढ़ती नृशंसता को रोकने के लिए सरकार ने कुछ नहीं किया। फिर भी 1929 के आर्थिक संकट के पूर्व तक नाज़ियों का जन-समर्थन सीमित था। 1928 के चुनावों में उन्होंने राइक्सटाग में केवल बारह सीटें जीती थीं। उन्हें समाजवादी लोकतंत्रवादियों के 90 लाख और साम्यवादी पार्टी के 30 लाख वोटों के मुकाबले सिर्फ़ 8 लाख के आसपास वोट मिले थे। लेकिन 1930 के चुनावों में उनके प्राप्त मतों की संख्या 65 लाख पर पहुँच गई थी, जबकि समाजवादी लोकतंत्रवादियों को 65 लाख तथा साम्यवादियों को 45 लाख मत मिले थे। अप्रैल 1932 में राष्ट्रपति-पद के चुनाव में पॉल फ़ॉन हिंडनबर्ग, जिसने प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन सेना का नेतृत्व किया था और अब अस्सी की उम्र पार कर चुका था, एक करोड़ पचासी लाख मत प्राप्त करके विजयी हुआ। उसका समर्थन समाजवादी लोकतंत्रवादियों ने किया था। इस चुनाव में हिटलर को एक करोड़ दस लाख मत मिले थे, जबकि साम्यवादी दल के उम्मीदवार अर्न्स्ट थालमान को 37 लाख मत प्राप्त हुए थे। जुलाई 1932 में राइक्सटाग के लिए जो चुनाव हुए उसमें नाज़ी पार्टी सबसे बड़े एकल दल के रूप में उभरी। उसे समाजवादी लोकतंत्रवादियों के 80 लाख तथा साम्यवादियों के 52 लाख मतों के मुकाबले 1.37 करोड़ मत प्राप्त हुए। उसी साल नवंबर महीने में दूसरा चुनाव हुआ जिसमें नाज़ियों को प्राप्त मतों में कोई 20 लाख की कमी आ गई, जबकि साम्यवादियों के प्राप्त मत बढ़कर 60 लाख पर पहुँच गए।

लेकिन अब नाज़ियों को सत्ता में लाने के लिए कुछ दूसरी शक्तियाँ भी काम कर रही थीं। 30 जनवरी 1933 को हिंडनबर्ग ने हिटलर को जर्मनी का चांसलर (प्रधान मंत्री) नियुक्त किया। इस प्रकार हिटलर का सत्तासीन होना न तो चुनावों में उसकी विजय का और न ही तत्कालीन सरकार के किसी जबरन तख़्ता-पलट का परिणाम था, बल्कि वह "पर्दे के पीछे किए गए सौदे" का नतीजा था जिसमें दक्षिणपंथी राजनीतिज्ञों की मिलीभगत थी। इन दलों तथा जर्मनी के बैंकरों, उद्योगपतियों और बड़े ज़मींदारों ने हिंडनबर्ग को उसे चांसलर बनाने को राज़ी कर लिया था।

उधर हिटलर ने हिंडनबर्ग को राइक्सटाग को भंग करके 5 मार्च 1933 को उसके नए चुनाव कराने के लिए मना लिया। चुनाव के पाँच दिन पहले 27 फरवरी 1933 को राइक्सटाग की इमारत में आग लगा दी गई। आमतौर पर यह माना जाता था कि यह काम स्वयं नाज़ियों ने किया है, हालाँकि यह साबित नहीं हुआ है। आतंक फैलाने और मतदाताओं को भयभीत करने के उद्देश्य से सरकार ने आग लगाने का आरोप साम्यवादियों पर लगाया। आनन फानन में हज़ारों लोग गिरफ़्तार कर लिए गए जिनमें जॉर्जी दिमित्रोव



आग की लपटों में राइक्सटाग भवन, 27 फरवरी 1933



1937 में न्यूरंबर्ग में एक नाज़ी रैली

भी शामिल था। दिमित्रोव बुलगारिया के साम्यवादी दल का नेता था और उन दिनों जर्मनी में ही था। इन परिस्थितियों में चुनाव हुए फिर भी हिटलर बहुमत प्राप्त करने में नाकामयाब रहा। लेकिन चंद महीनों के अंदर हिटलर ने अपनी तानाशाही की जड़ें जमा लीं जिसके लिए उसने समाजवादी लोकतंत्रवादियों, साम्यवादियों, श्रमिक नेताओं तथा अन्य नाज़ी-विरोधियों को आतंकित करने और उनकी हत्या कराने का रास्ता अपनाया। समाजवादी लोकतंत्रवादी दल तथा साम्यवादी दल पर प्रतिबंध लागू कर दिया गया। 60.000 से ज़्यादा लोगों को जेल या यातना शिविरों में भेज दिया गया। 1933 के मध्य तक अन्य सभी दलों को भी भंग कर दिया गया, बल्कि कुछ ने तो स्वत: ही अपने को भंग कर दिया। 1934 में हिटलर जर्मनी का राष्ट्रपति बन बैठा। सत्तारूढ़ होने के चंद महीनों के अंदर ही हिटलर ने अपने आतंक तंत्र को चाक-चौबंद कर लिया और जर्मन जनता को पूरी तरह से अपने हुक्म का फ़रमांबरदार बना लिया। शीघ्र ही पूरा देश एक सशस्त्र शिविर बन गया।

सत्तारूढ़ होते ही हिटलर ने गोपनीय रूप से देश को फिर से हथियारबंद करना शुरू कर दिया और एक के बाद एक ऐसे अनेक कदम उठाए जो वर्साय संधि की शर्तों के ख़िलाफ़ थे। अक्तूबर 1933 में जर्मनी राष्ट्र संघ से अलग हो गया। वायुसेना का गठन आरंभ कर दिया गया, जबकि वर्साय संधि में इस पर स्पष्ट पाबंदी लगा दी गई थी। मार्च 1935 में हिटलर ने घोषणा की कि वर्साय संधि ने जर्मन सैनिक शक्ति पर जो प्रतिबंध लगाए थे, उनसे अब जर्मनी बँधा हुआ नहीं है। उसने थलसेना तथा वायुसेना के पुनर्गठन के साथ ही एक नौसेना का निर्माण भी आरंभ कर दिया। जुलाई 1936 में विसैन्यीकृत राइनलैंड पर जर्मन सेना काबिज़ हो गई। वर्साय संधि की शर्तों का पूर्ण उल्लंघन करने वाले इन कदमों का किसी भी पश्चिमी ताकत ने कोई विरोध नहीं किया। 1936 तक जर्मनी अपनी सैन्य शक्ति को परवान चढ़ा चुका था और अब उन आक्रामक कार्रवाइयों के लिए रंगमंच तैयार हो चुका था जो दुनिया को दूसरे विश्व युद्ध की आग में झोंकने वाली थीं।

राष्ट्रसंघ

यहाँ राष्ट्र संघ (लीग ऑफ़ नेशंस) की थोड़ी चर्चा फिर से कर लेना प्रासंगिक होगा। यद्यपि इसके सदस्यों में सभी महाद्वीपों के देश शामिल थे, लेकिन इसमें बोलबाला यूरोप की बड़ी शक्तियों का था और इसके भाग्य का निबटारा भी वही करने वाली थीं। इसकी स्थापना के समय चवालीस सदस्य थे—रूस और जर्मनी को छोड़कर, जिन्हें कि इरादतन बाहर

किताबों की होली

जब हुकूमत ने ये हुक्म जारी किया- वो सभी किताबें जिनमें नुकसानदेह इल्म का कोई भी एक टुकड़ा मिले,
फेंक दी जाएँ। ऐसी किताबें सभी
आग की होलियों में खुले-आम अब !
और बैलों को कोड़ो से धुनते हुए हर तरफ़ से किताबों को लाया गया गाड़ियों, गाड़ियों - होलियों के लिए।
एक अभिशप्त पर श्रेष्ठ लेखक ने जब जलने वाली किताबों की फेहरिस्त में देखा - उसकी किताबें तो शामिल न थीं,
उसको धक्का लगा, भयानक दुख हुआ, और ग़ुस्से में वह तिलमिलाता हुआ मेज़ पर जा डटा, काँपते हाथ से उसने ये ख़त
लिखा हुक्मरानों के नाम-
आओ मुझको जला दो खुले आम ! क्या मेरी सारी किताबों ने सच्चाई की विश्व को जानकारी नहीं दी सदा ?
और तुम हो कि मुझसे यूँ पेश आ रहे जैसे मैं कोई झूठा हूँ, मक्कार हूँ !
मैं तुम्हें हुक्म देता हूँ - आओ यहाँ और मुझको जला दो, जला दो मुझे ! !

[जर्मन नाटककार और कवि बर्टोल्ट ब्रेख़्ट की एक कविता का हिंदी अनुवाद]

रखा गया था। यूरोप के बहुत से देश, लैटिन अमरीका के अधिकांश देश, एशिया से ईरान, जापान, चीन, थाईलैंड और भारत (जोकि अब तक एक उपनिवेश ही था), अफ़्रीका से दक्षिण अफ़्रीकी संघ, इथियोपिया और लाइबेरिया तथा आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड इसके सदस्य थे। संघ की एक महासभा, एक परिषद् तथा एक सचिवालय था। महासभा में सभी देशों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था और हर देश को एक मत देने का अधिकार था। आरंभ में परिषद के नौ सदस्य थे, जिनमें से ब्रिटेन, फ़्रांस, इटली, जापान और संयुक्त राज्य अमरीका-ये पाँच देश स्थायी सदस्य होने थे और शेष चार अस्थायी। संघ में संयुक्त राज्य शामिल नहीं हुआ और जब 1926 में जर्मनी को दाख़िल किया गया तो पाँचवाँ स्थायी सदस्य इसी को बनाया गया। जर्मनी को लोकार्नो (स्विट्ज़रलैंड) में 1925 में आयोजित बैठक में दाख़िला दिया गया था। इस बैठक में जर्मनी सहित सात यूरोपीय देश शामिल हुए थे। लेकिन सोवियत संघ को बाहर ही रखा गया। इस बैठक में एक समझौते पर भी हस्ताक्षर हुए जिसके तहत जर्मनी तथा फ़्रांस और जर्मनी तथा बेल्जियम के बीच की मौजूदा सीमाओं को स्थायी माना गया। इन तीनों देशों ने एक-दूसरे के ख़िलाफ़ कोई अतिक्रमण न करने का वचन दिया। 1928 तक यूरोप के सभी देश राष्ट्रसंघ के सदस्य बन चुके थे। लेकिन सोवियत संघ को 1934 में दाखिला दिया गया। तब तक जर्मनी और जापान संघ का त्याग कर चुके थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संघ में यूरोपीय देशों का, ख़ास तौर से ब्रिटेन और फ़्रांस का, बोलबाला था। संघ छोटे राज्यों के मामूली विवादों को तो हल कर पाया, लेकिन जिस किसी विवाद से कोई बड़ी ताकत उलझी होती थी, उसमें अतिक्रमण को रोकने, सदस्य देशों की स्वतंत्रता तथा प्रादेशिक अखंडता की रक्षा करने और शांति की हिफ़ाज़त करने में वह सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुआ। इस मामले में संघ की घोर असफलता फ़ासीवादी एवं सैन्यवादी शक्तियों के प्रति अपनाई गई तुष्टीकरण की नीति का प्रतिबिंब थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, संघ के प्रतिज्ञापत्र में अतिक्रमण को रोकने के कारगर उपायों की व्यवस्था की गई थी लेकिन इन उपायों का सहारा नहीं लिया गया।

जापान ने मंचूरिया पर कब्ज़ा करके वहाँ मंचूकू नाम की एक कठपुतली सरकार स्थापित कर दी थी। प्रथम विश्व युद्ध के बाद यह नग्न अतिक्रमण की पहली बड़ी कार्रवाई थी। लीग ने मंचूकू सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया लेकिन जापान से उससे यह कहते नहीं बना कि वह 1931 से पूर्व की व्यवस्था पुन: स्थापित कर दे और अपना अतिक्रमण वापस ले। कुछ साल बाद ही जापान ने चीन पर भारी हमले शुरू कर दिए।

अक्तूबर 1935 में इटली ने छह लाख की विशाल सेना लेकर इथियोपिया पर आक्रमण किया। नवंबर में संघ ने इटली के ख़िलाफ़ सीमित आर्थिक प्रतिबंध की घोषणा की, लेकिन मई 1936 में इथियोपिया के प्रबल प्रतिरोध के बावजूद इटली ने संघ के इस सदस्य राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। जुलाई 1936 में सीमित आर्थिक प्रतिबंध भी वापस ले लिए गए। संघ पर दबदबा रखने वाले देशों ने अतिक्रमण का प्रतिरोध करने की इच्छा के सर्वथा अभाव का परिचय दिया। संयुक्त राज्य ने भी, जो संघ का सदस्य नहीं था, यही नीति अपनाई। सोवियत संघ ऐसा एकमात्र देश था जिसने अतिक्रमण को रोकने के लिए शक्ति-प्रयोग और ब्रिटेन तथा फ़ांस के साथ फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चा कायम करने की हिमायत की। विश्व भर के फ़ासीवाद-विरोधी लोकमत ने सोवियत संघ की स्थिति का समर्थन किया। पश्चिमी देशों को फ़ासीवाद तथा अतिक्रमण के तुष्टीकरण की नीति का आधार यह विश्वास था कि अंत में फ़ासीवादी देशों के अतिक्रमण का रुख सोवियत संघ की ओर मुड़ेगा। पिछले तीन वर्षों से दुनिया धीरे-धीरे एक और विश्व युद्ध की ओर बढ़ती जा रही थी। अक्तूबर 1936 में इटली और जर्मनी ने एक राजनीतिक सहयोग पर समझौता किया। यह समझौता रोम-बर्लिन धुरी (रोम-बर्लिन ऐक्सिस) के नाम से प्रसिद्ध है। नवंबर 1936 में जर्मनी और जापान के बीच एक कोमिंटर्न-विरोधी समझौता हुआ था। अगले नवंबर महीने में इटली भी उसमें शामिल हो गया। 1937 में इटली राष्ट्रसंघ से बाहर आ गया। रोम-बर्लिन धुरी कायम होने के पहले से ही इटली और जर्मनी स्पेन में एक फ़ासीवादी तानाशाही को प्रतिष्ठित करने के लिए परस्पर सहयोग करने लगे थे।

अतिक्रमण और तुष्टीकरण

1936-37 में जर्मनी, इटली और जापान-इन तीन शक्तियों का एक आक्रमण गुट उभरा। प्रमुख पश्चिमी ताकतों, ख़ासकर ब्रिटेन और फ़ांस, की तुष्टीकरण की नीति से इस गुट को बढ़ावा मिला। इन देशों की विभिन्न आक्रामक कार्रवाइयों के प्रति संयुक्त राज्य भी उदासीन रहा। तुष्टीकरण की नीति चलती रही जिससे हिटलर को विश्वास हो गया कि पोलैंड पर उसके आक्रमण से भी ब्रिटेन और फ़ांस की निष्क्रियता भंग नहीं होगी, हालाँकि उसका यह अंदाज़ा ग़लत निकला और उसकी इसी कार्रवाई को लेकर 1939 में युद्ध आरंभ हो गया। युद्ध का बुनियादी कारण इन तीन देशों की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ थीं। जर्मनी यूरोप को जीतकर दुनिया में अपना दबदबा कायम करना चाहता था। इटली बाल्कन देशों, अरब देशों तथा अफ़्रीका के एक बड़े हिस्से को हथियाना चाहता था। जापान एशिया और प्रशांत क्षेत्र का स्वामी बनने के सपने देख रहा था।

स्पेन का गृह-युद्ध

इटली और जर्मनी के संयुक्त अतिक्रमण का यूरोप में पहला शिकार स्पेन हुआ। फ़रवरी 1936 के चुनावों में जन-मोर्चे की जीत का ज़िक्र किया जा चुका है। नई सरकार ने सुधार के कदम उठाने शुरू कर दिए। उसने नागरिक स्वतंत्रताओं को पुनः प्रतिष्ठित कर दिया, बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों को तोड़ कर किसानों की ज़मीन की माँग पूरी करने की कोशिश की और खान मज़दूरों तथा अन्य औद्योगिक श्रमिकों की अवस्था में सुधार किया। शैक्षिक विकास का भी एक कार्यक्रम आरंभ किया गया।

इस सबसे जल-भुन कर फ़ेलंजे और स्पेन को पिछड़ा रखने के लिए ज़िम्मेदार हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अन्य दक्षिण-पंथी दलों तथा गुटों ने अपने सहयोगी सैनिक जनरलों से मिलकर जनमोर्चा सरकार को हटाकर फ़ासीवादी शासन स्थापित करने की योजना बनाई। जुलाई 1936 में फ़ासीवादियों ने देश के अंदर और स्पेनी उपनिवेशों में भी सैनिक विद्रोह करवा दिए। विद्रोहियों का प्रमुख नेता जनरल फ़्रैंको था। वह स्पेन के मोरक्को स्थित उपनिवेश से अपनी सेना को लेकर विद्रोहियों का साथ देने स्पेन पहुँच गया। तीन साल तक भीषण गृह-युद्ध चलता रहा। इस बीच गणतंत्र-विरोधी फ़ासीवादी शक्तियों और उनके सहयोगियों ने, जो स्वयं को "राष्ट्रवादी" कहते थे, गणतांत्रिक सरकार को अपदस्थ करने के लिए इटली और जर्मनी की सहायता प्राप्त कर ली थी। सच तो यह है कि स्पेनी गृह-युद्ध ने यूरोप के दो फ़ासीवादी देशों को एक साथ जोड़ दिया। उन्होंने स्पेनी

फ़ासीवादियों की सहायता से भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद और विमान स्पेन में झोंक दिए और अपनी फौजें भी वहाँ उतार दीं।

विद्रोहियों ने विदेशी सहायता से देश के कई हिस्सों पर क़ब्ज़ा कर लिया और उन सभी लोगों के ख़िलाफ़, जिन पर कि किसानों तथा गणतंत्रवादियों का समर्थन करने का संदेह था, आतंक का नग्न नृत्य मचा दिया। ऐसे नाजुक समय में भी इंग्लैंड, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अहस्तक्षेप की नीति पर कायम रहे। इस नीति का मतलब यह था कि गणतंत्रवादियों को तो कोई मदद नहीं मिल सकती थी और उधर फ़्रैंको को जर्मनी तथा इटली की सैनिक सहायता निर्बाध मिलती रही। गणतंत्रवादियों के समर्थन में आगे आने वाला एकमात्र देश

स्पेन में काम आए अमरीकियों पर

स्पेन में आज रात मृतक ठंड में निद्रा में हैं। जैतून के बाग़ों से होती हुई पेड़ों की जड़ों को पछोरती बर्फ़बारी हो रही है। टीलों के ऊपर बरफ़ के ढेर बनते जा रहे हैं। वहाँ नामों की छोटी-छोटी तख़्तियाँ लगी हैं। (जब कबरों के टीलों पर नाम की तख़्तियाँ संभव था)। सर्द हवा में जैतून के पेड़ दुबले पतले हैं क्योंकि एक समय में उनकी निचली डालों को टैंकों को ढकने के लिए काट दिया गया था। हरामा नदी के ऊपर छोटी पहाड़ियों में मृतक ठंड में निद्रा में हैं। उस फरवरी में जब वे काम आए थे, बहुत ठंड पड़ी थी। उसके बाद से इन मृतकों का ध्यान बदलते मौसमों की तरफ़ नहीं गया है।

इस बात को अब दो साल हो चुके हैं जब लिंकन बटैलियन हरामा की पहाड़ियों पर साढ़े चार महीनों तक जमी रही और पहले अमरीकी, जो यहाँ काम आए, अब काफ़ी ज़माने से स्पेन की धरती का हिस्सा बन चुके हैं।

स्पेन में आज रात मृतक ठंड में निद्रा में हैं और सारी सर्दियाँ वे ठंड में सोये रहेंगे और उनके साथ धरती भी सोई रहेगी। लेकिन बसंत में बरसात होगी और धरती को फिर सुहावना बना देगी। दक्षिण से पहाड़ियों पर धीमी-धीमी हवा चलेगी। काले पेड़ फिर जीवित हो उठेंगे और उन पर छोटी-छोटी हरी पत्तियाँ निकल आएँगी और हरामा नदी के किनारे सेब के पेड़ों पर कलियाँ खिल आएँगी। इस बसंत में मृतकों को लगेगा कि धरती फिर से जीवित हो रही है।

क्योंकि हमारे मृत अब स्पेन की धरती का हिस्सा बन गए हैं और स्पेन की धरती कभी नहीं मर सकती। हर सर्दी के मौसम में लगेगा जैसा वह मर गई है, लेकिन हर बसंत में वह ज़िंदा हो जाएगी। हमारे मृत उसके साथ हमेशा ज़िंदा रहेंगे।

जैसे धरती कभी नहीं मर सकती, उसी तरह वे जो कभी आज़ाद हुए हैं, गुलाम नहीं बनाए जा सकते। जो किसान धरती पर मेहनत करते हैं, जिस धरती में हमारे मृत सोये हैं, वे जानते हैं कि हमारे मृतकों ने किन बातों के लिए अपनी जान दी। युद्ध के दौरान के समय में उन्होंने ये बातें जान ली थीं और अब उनके पास हमेशा का समय है उन बातों को याद रखने का।

हमारे मृतक स्पेन के किसानों और स्पेन के मज़दूरों और उन सब सीधे सच्चे और भले लोगों के दिलों में और दिमाग़ों में ज़िंदा हैं जिनकी स्पेन के गणतंत्र में निष्ठा थी और जिसके लिए वे लड़े थे। और जब तक हमारे मृतक स्पेन की धरती के अंदर ज़िंदा हैं, और वे ज़िंदा रहेंगे जब तक धरती ज़िंदा रहेगी, कोई निरंकुश शासन कोई ज़ालिमाना व्यवस्था स्पेन में कामयाब नहीं हो सकती।

हो सकता है फ़ासिस्ट इस धरा पर फैल जाएँ, विदेशों से लाए गए बमों के बल पर धमाका करके आगे बढ़ते हुए। हो सकता है वे ग़द्दारों और कायरों की मदद से आगे बढ़ जाएँ। हो सकता है वे नगरों और गाँवों को ध्वस्त कर दें और जनता को गुलामी में जकड़ने की कोशिश करें। लेकिन सच तो यह है कि कोई किसी जनता को गुलामी में नहीं जकड़ सकता।

स्पेन की जनता फिर उठ खड़ी होगी जिस तरह हमेशा वह आतंक और ज़ुल्म के ख़िलाफ़ खड़ी होती आई है। मृतकों को उठ खड़े होने की ज़रूरत नहीं होती। वे तो अब धरती का अंग हैं और धरती को कोई अधीन नहीं कर सकता क्योंकि धरती तो अमर है। अत्याचार की और ज़ुल्म की तमाम व्यवस्थाएँ ख़त्म हो जाएँगी पर धरती ज़िंदा रहेगी।

जो लोग इस में सम्मान और गौरव के साथ समा गए हैं और स्पेन में काम आए लोगों से कौन ज़्यादा सम्मान और गौरव से धरती में समाया होगा, वे तो अमर हो ही गए हैं।

[अमरीकी कहानीकार अर्नेस्ट हेमिंगवे का लेख जो 14 फरवरी 1939 को *न्यू मासेज़* पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।]

सोवियत संघ था। गणतंत्रवादियों ने नागरिकों की सहायता से अपनी प्रतिरक्षा का संगठन किया। नागरिकों के सहयोग से तैयार की गई स्वयंसेवक सेना के बल पर उन्होंने कई भयंकर लड़ाइयों में मोर्चा लिया। नवंबर 1936 में उन्होंने राजधानी मद्रिद की रक्षा अपनी जान की बाज़ी लगाकर की और फ्रैंको की सेना को उस पर कब्ज़ा नहीं करने दिया।

स्पेनी गृह-युद्ध ने दुनिया की अंतरात्मा को झकझोर दिया। पचास से ज़्यादा देशों के फ़ासीवाद-विरोधी लोगों ने स्पेनी गणतंत्र की रक्षा के निमित्त लड़ने के लिए अपने नाम स्वयंसेवकों के रूप में दर्ज कराए। 40,000 स्वयंसेवकों की एक अंतर्राष्ट्रीय ब्रिगेड तैयार कर ली गई। स्पेन में लड़ते हुए उनमें से हज़ारों लोगों ने अपने प्राणों की आहुति दी। इनमें जर्मन और इतालवी फ़ासीवाद विरोधी लोग भी शामिल थे। जर्मन स्वयंसेवकों की बटालियन का नाम थालमान बटालियन रखा गया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, थालमान जर्मन साम्यवादी नेता था जिसे नाज़ियों ने यातना शिविर में भेज दिया था और बाद में मार डाला था। अमरीकी बटालियन का नाम संयुक्त राज्य में गुलामी को समाप्त करने वाले राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के नाम पर रखा गया था। स्पेन के गणतंत्र के प्रति अंतर्राष्ट्रीय समर्थन दुनिया में फ़ासीवाद के विरुद्ध बढ़ती चिंता का द्योतक था।

स्पेन के गृह-युद्ध को मात्र एक स्पेनी मामले के रूप में नहीं देखा गया, बल्कि उसे फ़ासीवाद तथा आक्रामक प्रवृत्तियों के ख़तरे से ग्रस्त पूरी दुनिया का मामला माना गया। स्पेनी गणतंत्रवादियों को भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की सहानुभूति का आश्वासन देने जवाहर लाल नेहरू स्पेन गए थे। विश्व के विभिन्न भागों के बहुत से लेखक, कवि और कलाकार स्पेनी गृहयुद्ध में लड़े और उन्होंने विश्व लोकमत को गणतंत्र के समर्थन में लामबंद किया। बीसवीं सदी के सबसे बड़े चित्रकार पाब्लो पिकासो का गुयेरनिका का चित्र बहुत महत्वपूर्ण कलाकृति माना जाता है। गुयेरनिका स्पेन का एक शहर था, जिसे फ़ासीवादियों के विमानों ने बमबारी करके तहस-नहस कर दिया था। यह चित्र, जिसे इसी शहर का नाम दिया गया था, फ़ासीवादी पाशविकता के विरुद्ध आक्रोश की उद्दाम अभिव्यक्ति था।

फ़रवरी 1939 तक स्पेन का अधिकतर भाग फ़ासीवादियों के हाथों में आ चुका था और ब्रिटेन तथा फ्रांस ने और कुछ बाद में संयुक्त राज्य ने भी फ्रैंको की सरकार को मान्यता दे दी। मद्रिद नगर मार्च के अंत तक प्रतिरोध करता रहा लेकिन इस नगर के पतन के साथ ही स्पेन पर फ़ासीवादी सत्ता पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो गई।



पाब्लो पिकासो का चित्र 'गुयेरनिका'

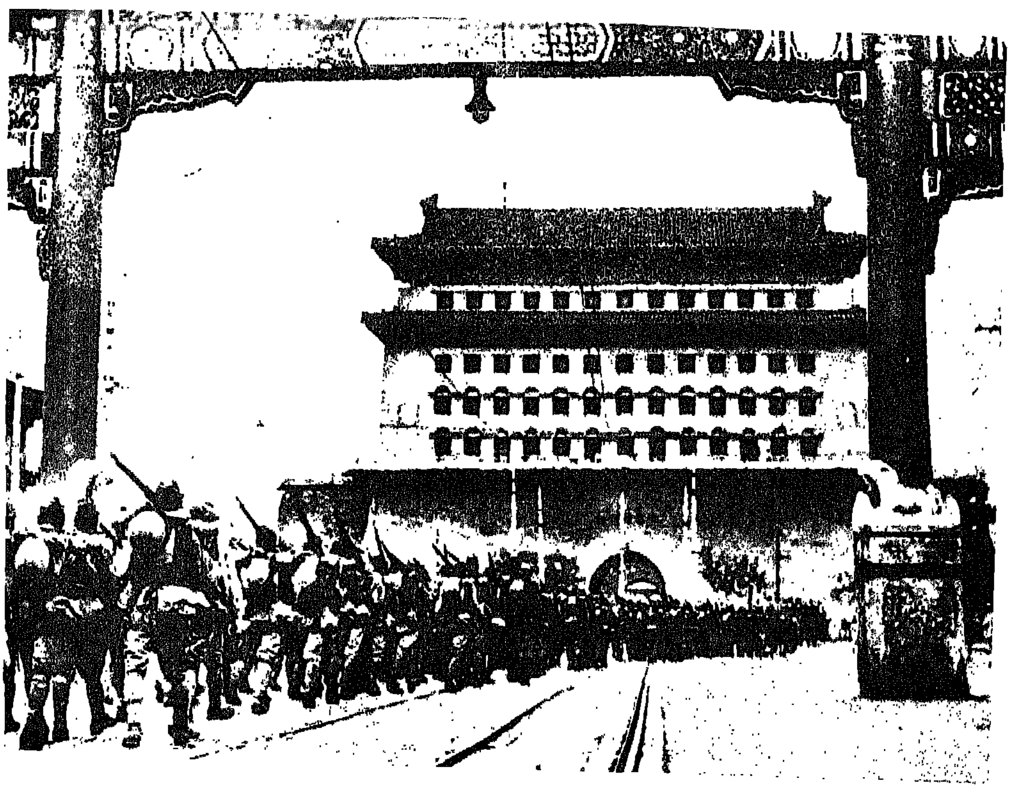
स्पेनी गृहयुद्ध को अक्सर द्वितीय विश्व युद्ध का "सज्जायुक्त अभ्यास" (ड्रेस रिहरसल) कहा जाता है। फ़ासीवादी देशों ने स्पेन की युद्ध भूमि में अपने नए हथियारों को आज़माया था।

चीन पर जापानी आक्रमण

मंचूरिया में अपनी विजय को पुख़्ता करके जुलाई 1937 में जापान ने चीन पर बड़े पैमाने पर हमला कर दिया। कुछ महीनों में बेजिंग, नानजिंग और शंघाई नगर सहित उत्तरी चीन के बहुत बड़े हिस्से उसके कब्ज़े में चले गए। जिन चीनी नगरों का कोई सामरिक महत्व नहीं था उन पर भी जापानियों ने बमबारी की और चीनी आबादी के साथ बहुत बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया। 1938 में उन्होंने "पूर्व एशिया की नई व्यवस्था" की घोषणा की। जिस व्यवस्था को उन्होंने यह संज्ञा दी थी उसमें उनकी तजवीज़ जापान, चीन और मंचूरिया का एक राजनीतिक संघ बनाने की थी। इस समय तक चीन ने एकजुट होकर जापान का प्रतिरोध करना शुरू कर दिया था। राष्ट्रसंघ ने जापानी अतिक्रमण की निंदा तो की, लेकिन उसे समाप्त करने के लिए कुछ नहीं किया।

आस्ट्रिया पर कब्ज़ा

जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ हुई शांति संधियों के अनुसार इन दोनों देशों का कोई राजनीतिक संघ बनाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। लेकिन हिटलर के उदय के साथ यह ख़तरा पैदा हो गया कि जर्मनी आस्ट्रिया को अपने राज्य में मिला लेगा। जर्मनी के साथ आस्ट्रिया का संघ बनाने के लक्ष्य



जुलाई 1937 में बेजिंग पर कब्ज़ा करती जापानी फ़ौजें

को लेकर आस्ट्रिया में एक नाज़ी आंदोलन भी सिर उठाने लगा था। इस आंदोलन को "आंशलस" (जर्मनी के साथ संयोजन) की संज्ञा दी गई। 1930 वाले दशक के आरंभ में एंगेलबर्ट डॉलफ़स ने आस्ट्रिया में अपनी तानाशाही स्थापित कर ली थी। उसने आस्ट्रिया के समाजवादी तथा साम्यवादी दलों को दबा दिया, लेकिन वह जर्मनी के साथ संघ बनाने के भी ख़िलाफ़ था। उसे मुसोलिनी का समर्थन मिल रहा था, जिसने तब तक जर्मनी से गठबंधन नहीं किया था और इटली को महाशक्ति बनाने की अपनी स्वतंत्र महत्वाकांक्षा लेकर चल रहा था। 1934 में डॉलफ़स की हत्या कर दी गई और आस्ट्रिया के नाज़ियों ने एक विप्लव द्वारा सत्ता पर अधिकार करने की कोशिश की। नाज़ियों तथा साम्यवादियों एवं अन्य नाज़ी विरोधियों के बीच हिंसक झड़पें हुईं। विप्लव का प्रयत्न विफल हो गया। मुसोलिनी ने भी अपनी सेना को इटली की आस्ट्रियाई सीमा पर लगा दिया। हिटलर अब तक जर्मनी की शक्ति के संबंध में आश्वस्त नहीं हो पाया था, सो उसने भी आस्ट्रिया के मामले में दख़ल न देने का फ़ैसला किया। लेकिन 1938 में स्थिति बदल चुकी थी। इटली की इथियोपिया विजय के बाद तथा स्पेनी गृह-युद्ध के दौरान बर्लिन-रोम धुरी और कोमिंटर्न-विरोधी समझौते की बदौलत जर्मनी और इटली एक-दूसरे के निकट आ चुके थे। मुसोलिनी से साँठगाँठ करके हिटलर ने 11 मार्च 1938 को अपनी सेना को आस्ट्रिया में प्रवेश करा दिया और आस्ट्रियाई नाज़ियों ने देश में सत्ता हथिया ली। हिटलर ने घोषणा की कि जर्मन सेना को "विपत्ति में पड़े उन जर्मन भाईयों की मदद के लिए" भेजा गया जो आस्ट्रियाई सरकार के कुशासन में दुख भोग रहे हैं। इस तरह पश्चिमी देशों की ओर से बिना किसी प्रतिरोध-प्रतिवाद के "आंशलस" का लक्ष्य प्राप्त हो गया, यद्यपि यह कदम शांति संधियों का सरासर उल्लंघन था। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री नेविल चैंबरलेन का विचार था कि जर्मनी के पूर्वाभिमुख विस्तार तथा उसकी "उचित प्रादेशिक माँगों" की पूर्ति से पश्चिमी यूरोप सुरक्षित रहेगा और उससे शांति कायम रखने में सहायता मिलेगी।

म्यूनिख़ समझौता

तुष्टीकरण की नीति अपनी पराकाष्ठा पर तब पहुँची जब चेकोस्लोवाकिया के पश्चिमी मित्र-देशों ने उससे निर्लज्जता के साथ विश्वासघात करते हुए उसे जर्मन भेड़ियों के हाथों सौंप दिया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद चेकोस्लोवाकिया का उदय एक स्वतंत्र राज्य के रूप में हुआ था। वह यूरोप के उन चंद राज्यों में था जिन्होंने अपनी लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था कायम रखी थी, जब कि पूर्वी, दक्षिणी तथा मध्य यूरोप के ज़्यादातर देश सर्वसत्तावादी शासन की गिरफ़्त में आ गए थे। चेकोस्लोवाकिया पूर्वी यूरोप का सबसे अधिक औद्योगीकृत राज्य भी था। चेकोस्लोवाकिया के सुडेटनलैंड नामक एक हिस्से में अच्छी ख़ासी जर्मन आबादी थी। सुडेटनलैंड इस देश के कुछेक अति महत्वपूर्ण उद्योगों का भी केंद्र था। ऑस्ट्रिया को हड़प लेने के बाद हिटलर के आक्रामक मंसूबों का लक्ष्य चेकोस्लोवाकिया था। जर्मनी ने आरंभ में यह माँग की कि सुडेटनलैंड उसे सौंप दिया जाए। फ़्रांस 1920 वाले दशक से ही चेकोस्लोवाकिया से मित्रता की संधि से बँधा हुआ था। चेकोस्लोवाकिया ने जर्मनी की माँग ठुकरा दी। इसमें उसे सोवियत संघ का समर्थन मिला। 1935 में सोवियत संघ ने भी चेकोस्लोवाकिया के साथ मित्रता की संधि की थी। उसने चेकोस्लोवाकिया से वादा किया कि अगर वह जर्मन अतिक्रमण का प्रतिरोध करने का फ़ैसला करे तो वह तुरंत उसकी मदद करने के लिए आ जाएगा। लेकिन 29 और 30 सितंबर 1938 को म्यूनिख़ में एक बैठक हुई, जिसमें हिटलर, मुसोलिनी, चैंबरलेन और दलादिय शामिल हुए। बैठक में न तो चेकोस्लोवाकिया को बुलाया गया जिसकी किस्मत का फ़ैसला किया जा रहा था, और न सोवियत संघ को निमंत्रित किया गया जो चेकोस्लोवाकिया का मित्र था। इस बैठक में चेकोस्लोवाकिया को जर्मनी की दया पर छोड़ देने का फ़ैसला किया गया। ब्रिटेन और फ़्रांस ने चेकोस्लोवाकिया को सुडेटनलैंड जर्मनी को सौंप देने पर विवश कर दिया। उसने सोवियत सहायता न लेने का फ़ैसला किया और आत्मसमर्पण कर दिया। सुडेटनलैंड पर जर्मनी ने कब्ज़ा कर लिया और चेकोस्लोवाकिया के कुछ प्रदेश हंगरी तथा पोलैंड को भी दे दिए गए। मार्च 1939 में जर्मनी अपनी सेना लेकर आगे बढ़ा और चेकोस्लोवाकिया के बचे-खुचे हिस्सों पर भी अधिकार कर लिया। लगभग इसी समय लिथुआनिया को पूर्वी प्रशा की सीमा से लगा मेमल नामक शहर जर्मनी के हवाले कर देना पड़ा।

कगार पर

यह बात भी साफ़ हो गई है कि अगर नाज़ी या फ़ासीवादी आक्रामकता के ख़िलाफ़ एक शक्तिशाली शांति मोर्चा बनाया गया होता तो युद्ध को रोका जा सकता था और शांति को कायम रखा जा सकता था। यह शांति मोर्चा सोवियत संघ, फ़्रांस, इंग्लैंड और चेकोस्लोवाकिया को मिलाकर और संयुक्त राज्य की सद्भावना को साथ लेकर बनाया जा सकता था। फिर अपने आप पोलैंड, रोमानिया तथा और छोटी-मोटी ताकतें इस शांति मोर्चे की ओर खिंची आतीं। जर्मनी और इटली के ख़िलाफ़ यह एक ज़बरदस्त संगठन होता (यदि इटली जर्मनी से मिल गया होता, जो इस समय निश्चित नहीं था)। अगर ऐसा हुआ होता तो नाज़ी सरकार के लिए हमलावर की भूमिका अपनाना पागलपन होता और शांति कायम रहती।

यह सीधी स्पष्ट नीति जिससे शांति स्थापना अनिवार्य हो जाती, ब्रिटिश सरकार को पसंद नहीं थी क्योंकि इस नीति का मतलब था सोवियत संघ के साथ सहयोग करना। इसका मतलब था सोवियत संघ को मज़बूत करना और दुनिया भर में जन शक्तियों को मुक्त करना। ब्रिटिश सरकार अपनी वर्ग सहानुभूतियों के कारण सोवियत संघ को वीभत्सता से देखती थी और उसका झुकाव नाज़ीवाद तथा फ़ासीवाद की तरफ़ था। और इसलिए वह बात तो करती थी लोकतंत्र की और शांति की, लेकिन नीति अपनाती थी फ़ासीवाद के तुष्टीकरण की जिसका सीधा परिणाम था – युद्ध।

चैंबरलेन बर्ख़्टेसगाडन में है। अब और कौन सी दुष्टता की तैयारी है, पहले से भी घिनौना कौन-सा विश्वासघात होने वाला है ? इतनी अविश्वसनीय घटनाएँ अब तक घट चुकी हैं कि अब किसी बात पर हैरानी नहीं होती। ब्रिटेन का एक प्रधानमंत्री हिटलर और फ़ासीवाद का दूत बना हुआ है और यूरोप पर फ़ासीवादी अधिपत्य जमाने के लिए काम कर रहा है। फ़्रांस का विदेश मंत्री एम. बोने एक कदम और आगे है। वह हिटलर की महिमा बढ़ाने की ख़ातिर अपने मित्र देश चेकोस्लोवाकिया को नष्ट करने के लिए सक्रिय है। ये सब सज्जन दुहाई तो देते हैं देश-भक्ति, राष्ट्रवाद और शांति की लेकिन उनके सामने मकसद है हिटलर की विजय। अचानक एक झटके में इन महान राजनेताओं की वास्तविक मंशा सामने आ जाती है, मानो बिजली की कौंध से वह साफ़ सामने आ गई हो।

शासक वर्ग के लोगों, मालिकों के लिए लोकतंत्र और स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। उनको दोनों से डर लगता है और हिटलर को वे प्रतिक्रियावाद के समर्थक के रूप में देखते हैं। यद्यपि उसे बर्दाश्त करना मुश्किल है लेकिन वास्तविक लोकतंत्र के मुकाबले में वह लाख दरजे अच्छा है। वे आसानी से यह भूल गए हैं कि हिटलर का उद्देश्य फ़्रांस को नष्ट करना और पूरे यूरोप पर अपना प्रभुत्व जमाना है। वे यह भी भूल रहे हैं कि यूरोप में चेकोस्लोवाकिया लोकतंत्र का एक मात्र गढ़ है। अगर चेकोस्लोवाकिया का पतन हो गया तो फ़्रांस का भी पतन हो जाएगा। एम.बोने और चैंबरलेन को अपने वर्गस्वार्थ सुरक्षित करने की फ़िक्र है, और सब क्या होता है उससे कोई मतलब नहीं। किस प्रकार वर्ग भावनाएँ किसी संकट का सामना करने का अंतिम मानदण्ड बन जाती हैं, यह सब हम देख रहे हैं।

फ़्रांस और इंग्लैंड के लोगों के सिर शर्म से झुक गए हैं। घटनाओं के अचानक बदलते मोड़ से वे विस्मित हैं। उनके लिए यह केवल अपमान की बात नहीं है बल्कि उनके गौरवशाली देशों को अपना विनाश नज़र आ रहा है। बोने और चैंबरलेन ने चेकोस्लोवाकिया को अंतिम चेतावनी दी है। हिटलर की माँगें मान लो वरना हम भी तुम्हारे ख़िलाफ़ खड़े हो जाएँगे। इस पर ध्यान दीजिए : यह केवल अपने एक सहयोगी और मित्र को मुसीबत में अकेला छोड़ देने की बात नहीं है बल्कि उसके दुश्मन का साथ देने की धमकी भी है। चेतना की घोर व्यथा में और पीड़ाग्रस्त चेक मंत्रिपरिषद की लगातार 48 घंटे तक बैठक होती है। जवाब मिलने में देरी के कारण चैंबरलेन बहुत गुस्से में है और उसका मंत्री और फ़्रांस का मंत्री रात भर चेक मंत्रियों से जवाब माँगते रहते हैं और धमकियाँ देते रहते हैं। चेक सरकार आत्मसमर्पण कर देती है।

इसकी व्याख्या हम कैसे करें ? इसकी मुकम्मल व्याख्या किसी ने दी है। यह चैकोस्लोवाकिया का जर्मनी द्वारा बलात्कार था, जिसके लिए इंग्लैंड और फ़्रांस उसको ज़बरदस्ती ज़मीन पर दबोचे हुए थे।

संसदों से कोई विचारविमर्श नहीं किया गया है। उनकी बैठक तक नहीं बुलाई गई। चैंबरलेन का कहना है कि बातचीत के नाजुक दौर में संसद की बैठक बुलाना असुविधाजनक होगा। फ़्रांस में सभाओं और प्रदर्शनों पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। इंग्लैंड और फ़्रांस फ़ासीवादी तरीके अपनाते नजर आ रहे हैं।

अंग्रेज़ कह रहे हैं कि उन्हें अंग्रेज़ कहलाने में शर्म आ रही है। फ्रांस में एक ख़बर बिजली की कौंध की तरह चमकती है और वहाँ की हताश जनता को कुछ गर्व महसूस होता है। प्राग में फ्रांसीसी सैनिक मिशन के एक फ्रांसीसी जनरल ने घोषणा की है कि उसके देश ने जो चेक जनता के साथ विश्वासघात किया है, उससे उसे इतनी घृणा हुई है कि वह अपनी फ्रांसीसी नागरिकता को त्याग रहा है। उसने शपथ ली है कि वह अब फ्रांस कभी नहीं लौटेगा। अब से वह स्वयं को चेक नागरिक मानेगा। ताज्जुब की बात है कि फ्रांसीसी नागरिकता को अपमानजनक कह कर उसे त्यागने की इस घोषणा ने फ्रांस के लोगों की बड़ी संख्या में एक गर्व की भावना का.एहसास भर दिया है। उन्हें इस बात पर गर्व है कि एक बहादुर फ्रांसीसी ने जो सोचा वह साफ़-साफ़ कह दिया और उसके परिणाम का सामना किया।

चैंबरलेन हिटलर से मिलने वाला है। इस बीच जनता में उत्तेजना फैल रही है और फ्रांस और ब्रिटेन में अजीब गड़गड़ाहट सुनाई दे रही है। बहुत ज़माने से उनकी सरकारों ने और उनके मंत्रियों ने उन्हें धोखे में रखा है। लेकिन वे कठिन दुविधा में हैं। युद्ध तो वे नहीं ही चाहते। अगर युद्ध होगा तो वे, उनके बेटे और भाई और पति ही उसमें मारे जाएँगे और उनके बच्चों, स्त्रियों, माताओं और बहनों पर बम गिरेंगे। वे करें क्या ?

यह सब आसानी से रोका जा सकता था अगर इंग्लैंड, फ्रांस और रूस एक साथ मिलकर शांति के पक्ष में खड़े हो जाते। लेकिन चैंबरलेन और बोने को हिटलर ज़्यादा पसंद है।

[जवाहरलाल नेहरू द्वारा पेरिस में लिखे गए एक लेख का अंश जो 5 अक्तूबर 1938 को *नेशनल हेराल्ड* में प्रकाशित हुआ]

उन दिनों जवाहरलाल नेहरू यूरोप में थे। वे चेकोस्लोवाकिया भी गए जहाँ उन्होंने "अपने मित्र को कैसे धोखा देते हैं, इस का कठिन और उलझा हुआ खेल काफ़ी नज़दीक से देखा"। म्यूनिख़ समझौते पर हस्ताक्षर होने से सप्ताह-भर पहले लिखे "ऑन द ब्रिंक" (कगार पर) शीर्षक से अपने एक लेख में उन्होंने कहा कि "अगर इंग्लैंड, फ्रांस और रूस एक साथ मिलकर शांति के पक्ष में खड़े हो जाते" तो नाज़ी अतिक्रमण को रोका जा सकता था। लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस को हिटलर का साथ ज़्यादा पसंद था।

पोलैंड का प्रश्न और सोवियत संघ के साथ वार्ता

जर्मनी की ओर से अगला ख़तरा पोलैंड पर आया। जर्मनी ने वर्साय संधि में पोलैंड को दिया गया "गलियारा" और पूर्व



म्यूनिख़ में (दाएँ से बाएँ) चैंबरलेन, दलादिया, हिटलर और मुसोलिनी

प्रशा का शेष जर्मनी से अलग कर देने वाला "स्वतंत्र" नगर डांज़िग वापस माँगा। ब्रिटेन और फ़्रांस की सरकारों ने घोषणा की कि "पोलैंड की स्वतंत्रता को साफ़ तौर पर ख़तरे में डालनेवाली कोई कार्रवाई की गई" तो वे पोलैंड को "अपनी सामर्थ्य-भर पूरी सहायता देंगी।" मालूम होता है, अतीत के अनुभवों के आधार पर जर्मनी ने सहायता के इन वादों को गंभीरता से नहीं लिया।

लेकिन फ़ासीवादी अतिक्रमण आरंभ होने के बाद से यह पहला अवसर था जब ब्रिटेन और फ़्रांस ने जर्मनी के ख़िलाफ़ संधि करने के लिए रूस के साथ वार्ता शुरू की। ब्रिटेन और फ़्रांस में से किसी की भी सीमा पोलैंड से नहीं लगती थी और पोलैंड पर जर्मन हमला होने पर उनमें से कोई भी पोलैंड की सीधी मदद के लिए आगे नहीं आ सकता था। लेकिन सोवियत संघ के साथ पोलैंड की सीमा दूर-दूर तक मिलती थी और इस हालत में ब्रिटेन, फ़्रांस और सोवियत संघ का गठबंधन ही पोलैंड के ख़िलाफ़ जर्मन अतिक्रमण पर अंकुश लगा सकता था। लेकिन लगातार सोवियत-विरोधी नीतियों पर चलनेवाले पोलैंड को यह गवारा नहीं था कि सोवियत सेना उसकी भूमि में प्रवेश करे, चाहे उसके अस्तित्व पर ही क्यों न आन पड़ी हो। इससे मास्को-स्थित फ़्रांसीसी, ब्रिटिश तथा सोवियत सैनिक मिशनों के बीच 12 से 21 अगस्त 1939 तक चलने वाली वार्ता में गतिरोध पैदा हो गया। अंत में ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सैनिक मिशनों ने स्पष्ट कर दिया कि उनकी सरकारों ने उन्हें सोवियत संघ के साथ कोई कारगर संधि करने का अधिकार नहीं दिया है और इसी के साथ वार्ता भंग हो गई। 23 अगस्त 1939 को जर्मनी और सोवियत संघ ने एक अनाक्रमण समझौते (नॉनएग्रेशन पैक्ट) पर दस्तख़त किए। 1 सितंबर को जर्मनी ने पोलैंड पर हमला कर दिया। 3 सितंबर को ब्रिटेन और उसके बाद फ़्रांस ने जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा कर दी।

अभ्यास

1. राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सूत्रों की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। उन पर कहाँ तक अमल किया गया ?
2. वर्साय संधि की मुख्य धाराओं का उल्लेख कीजिए। इस संधि की कौन-कौन-सी बातें अन्यायपूर्ण थीं ?
3. उस्मानिया साम्राज्य तथा तुर्की के आंतरिक घटना चक्र के लिए प्रथम युद्ध के परिणामों पर विचार कीजिए।
4. "महामंदी" से क्या तात्पर्य है ? उसका कहाँ, क्यों और कब आरंभ हुआ ? जिस देश से शुरू हुई उस पर तथा विश्व के अन्य भागों पर पड़े उसके प्रभावों पर विचार कीजिए।
5. दो विश्व युद्धों के बीच संयुक्त राज्य के समाज में व्याप्त असमानता के कारणों पर विचार कीजिए। संयुक्त राज्य के समाज का कौन-सा हिस्सा उससे सबसे अधिक प्रभावित था और क्यों ?
6. दो विश्व युद्धों के बीच सोवियत संघ की आर्थिक तथा राजनीतिक घटनाक्रमों की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। समाजवादी आंदोलन के संस्थापकों द्वारा प्रस्तुत आदर्शों को ध्यान में रखकर इन घटनाक्रमों का मूल्यांकन कीजिए।
7. 1920 और 1930 वाले दशकों में सोवियत संघ की विदेश नीति का वर्णन कीजिए। अपनी किन विशेषताओं के कारण वह अन्य देशों की विदेश नीतियों से अलग थी ?
8. प्रथम विश्व युद्ध के बाद जापान के राजनीतिक विकास की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
9. एशिया तथा अफ्रीका स्थित यूरोपीय उपनिवेशों पर प्रथम विश्व युद्ध के प्रभावों का वर्णन कीजिए। शांति संधि में उपनिवेशों के प्रश्न का निबटारा किस प्रकार किया गया ?
10. प्रथम विश्व युद्ध के शीघ्र बाद के वर्षों के दौरान चीन के राष्ट्रवादी आंदोलन की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं ? डॉ. सुन यात-सेन की मृत्यु के बाद वहाँ के घटनाक्रम तथा उससे निकले परिणामों का वर्णन कीजिए।

11. दो विश्व युद्धों के बीच के काल में दक्षिण पूर्व एशिया तथा अरब दुनिया के देशों में राष्ट्रवादी आंदोलनों के विकास पर प्रकाश डालिए।
12. प्रथम विश्व युद्ध के बाद अफ्रीकी राष्ट्रवाद की मुख्य विशेषताओं पर विचार कीजिए। इस काल में दक्षिण अफ्रीका की महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख कीजिए।
13. "फ़ासीवाद" से क्या तात्पर्य है ? इटली में फ़ासीवाद किस प्रकार विजयी हुआ ?
14. जर्मनी में फ़ासीवाद के उदय का वर्णन कीजिए। उन घटनाक्रमों तथा कारणों पर विचार कीजिए जिनकी बदौलत उसकी विजय हुई। फ़ासीवाद का जर्मन रूप उसके इतालवी रूप से किन दृष्टियों से भिन्न था ?
15. दो विश्व युद्धों के बीच लैटिन अमरीका में हुए परिवर्तनों का वर्णन कीजिए।इस दौरान लैटिन अमरीकी देशों के प्रति संयुक्त राज्य की नीति में आए परिवर्तनों का भी उल्लेख कीजिए।
16. राष्ट्रसंघ के मुख्य उद्देश्यों, उसकी संरचना तथा उसके गठन का वर्णन कीजिए। अपने उद्देश्यों की पूर्ति में उसकी प्राप्त सफलता का मूल्यांकन कीजिए। अपने मूल्यांकन के समर्थन में उदाहरण दीजिए।
17. किन कारणों से जर्मनी, जापान और इटली एक साथ हो गए ?
18. तुष्टीकरण की नीति का क्या अर्थ है ? 1930 वाले दशक से इस नीति के उदाहरण दीजिए।
19. स्पेन का गृहयुद्ध क्यों और कब हुआ? इसे ऐसी घटना क्यों माना गया जिसने पूरी दुनिया को प्रभावित किया? गणतंत्रवादियों की पराजय के कारणों का वर्णन कीजिए।
20. द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ होने से पूर्व जर्मनी, जापान और इटली की आक्रामक कार्रवाइयों का वर्णन कीजिए। इन कार्रवाइयों को अन्य देशों ने क्यों नहीं रोका ?
21. म्यूनिख़ समझौते पर कब हस्ताक्षर हुए और कौन–से लोग हस्ताक्षर-कर्ता थे ? इसे विश्वासघात की कार्रवाई कहकर आमतौर पर इसकी निंदा क्यों की गई ?
22. पश्चिमी शक्तियों और सोवियत संघ के एक साथ न हो पाने के कारणों पर विचार कीजिए। इसके परिणाम क्या हुए ?
23. सोवयित–जर्मन अनाक्रामक समझौते की पृष्ठभूमि का वर्णन कीजिए। क्या आप मानते हैं कि सोवियत संघ ने यह संधि करके ठीक किया? अगर ठीक किया तो क्यों ? अगर ठीक नहीं किया तो क्यों ?
24. आशा की गई थी कि प्रथम विश्वयुद्ध "युद्ध-मात्र का अंत कर देने वाला युद्ध" साबित होगा। एक सामूहिक परियोजना के अधीन उन विभिन्न घटनाक्रमों और कारणों का अध्ययन कीजिए जिनके चलते यह आशा पूरी न हो सकी।
25. यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के मानचित्र की रूपरेखाओं में 1919 और 1939 के बीच होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों को दर्शाइए। इन परिवर्तनों पर वर्णनात्मक टिप्पणियाँ लिखिए।
26. इस अध्याय में उद्धृत साहित्यिक अंशों का अध्ययन कीजिए। ये अंश इस काल के इतिहास पर क्या प्रकाश डालते हैं, यह स्पष्ट करने के लिए टिप्पणियाँ तैयार कीजिए।

अध्याय 4

द्वितीय विश्व युद्ध

युद्ध का आरंभ

अगस्त 1939 की 23 तारीख़ को सोवियत-जर्मन अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर हुए। अब पोलैंड पर आक्रमण का रास्ता साफ़ हो चुका था। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हिटलर को विश्वास था कि पहले की ही तरह पश्चिमी शक्तियाँ आक्रमण की ओर से आँखें बंद कर लेंगी। उसने अपने कमांडरों से कहा था, "हमारे शत्रु भुनगे हैं। मैं उन्हें म्यूनिख़ में देख चुका हूँ।" 1 सितंबर 1939 ई. को हिटलर की सेना ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया। 3 सितंबर को ब्रिटेन और फ़्रांस ने जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा कर दी। लेकिन युद्ध की घोषणा के बावजूद ब्रिटेन और फ़्रांस में से कोई भी पोलैंड की मदद के लिए नहीं पहुँचा। तीन हफ़्ते में पोलैंड परास्त हो गया। ब्रिटेन और फ़्रांस ने पश्चिम में भी कोई सैनिक कार्रवाई आरंभ नहीं की थी। द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ हो चुका था, लेकिन अभी वह पूरब में यूरोप के एक छोटे-से हिस्से तक सीमित था। युद्ध की घोषणा के बाद लगभग सात महीने तक छोटी-मोटी नौसैनिक झड़पों को छोड़कर ब्रिटेन और फ़्रांस की जर्मनी के साथ कोई वास्तविक लड़ाई नहीं हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के इस दौर को इतिहास में "वाक्-युद्ध" (फ़ोनी वार) कहा गया है।

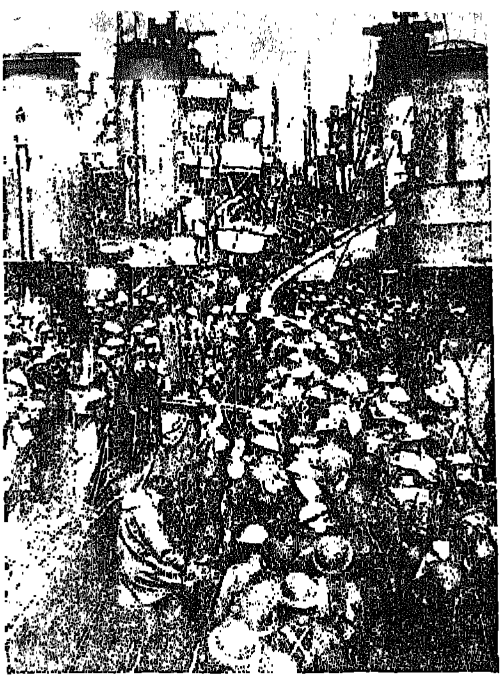
पूर्वी पोलैंड और बाल्टिक राज्यों पर सोवियत कब्ज़ा

पोलैंड पर जर्मनी के आक्रमण के कुछ दिन बाद सोवियत संघ ने पोलैंड के उन पूर्वी हिस्सों पर कब्ज़ा कर लिया जो पहले रूसी साम्राज्य के यूक्रेन तथा बाइलोरूस प्रदेशों में शामिल थे। इन इलाकों को फिर सोवियत संघ के यूक्रेनी तथा बाइलोरूसी गणतंत्रों में मिला दिया गया। सोवियत संघ ने अपनी इस



वारसा, पोलैंड, पर कब्ज़ा करती जर्मन फ़ौजें

कार्रवाई को इस आधार पर उचित बताया कि ये प्रदेश पोलैंड ने उससे प्रथम विश्व युद्ध के बाद हथिया लिए थे और पोलैंड में जर्मनी के आ जाने से रूस की सुरक्षा को ख़तरा पैदा हो गया था। अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि पोलैंड के पूर्वी हिस्सों पर रूसी कब्ज़ा पोलैंड को आपस में बाँट लेने की जर्मन-सोवियत योजना का अंग था। नवंबर 1939 में सोवियत संघ और फ़िनलैंड के बीच लड़ाई छिड़ गई। यह लड़ाई मार्च 1940 में सोवियत-फ़िनिश शांति संधि के साथ समाप्त हुई। इस संधि से सोवियत संघ को एक नौसैनिक अड्डा और फ़िनलैंड के उत्तर में कुछ प्रदेश मिल गए और दोनों देशों ने तय किया कि वे ऐसे किसी देश के साथ नहीं जाएँगे जो उनमें से किसी का भी शत्रु हो। इस बीच सोवियत संघ ने लैत्विया, लिथुआनिया और एस्तोनिया के बाल्टिक राज्यों पर कब्ज़ा कर लिया। ये रूसी साम्राज्य का अंग रह चुके थे और प्रथम विश्व युद्ध के बाद आज़ाद हुए थे। अगस्त



डंकर्क छोड़ती हुई ब्रिटिश फ़ौजें

1940 में इन देशों में सोवियत गणतंत्र स्थापित कर दिये गए और वे सोवियत संघ का हिस्सा बन गए।

डेनमार्क और नार्वे की विजय

अप्रैल 1940 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री चैंबरलेन ने ऐलान किया कि "हिटलर के हाथों से मौका निकल चुका है" क्योंकि जब पश्चिमी यूरोप आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए तैयार नहीं था उस समय वह उस पर आक्रमण करने में चूक गया। चंद दिनों बाद ही उसका अंदाज़ा ग़लत साबित होने वाला था और महीने भर बाद वह प्रधानमंत्री पद से हाथ धोने जा रहा था। स्वीडन जर्मनी को कच्चा लोहा निर्यात करने वाला प्रमुख देश था और स्वीडन से कच्चे लोहे की आपूर्ति जारी रखने के लिए नार्वे जर्मनी के लिए महत्वपूर्ण था। इस बीच नार्वे में एक फ़ासीवादी आंदोलन आरंभ हो गया था और उसका नेता विदकुम क्विसलिंग अपने देश पर जर्मनी के हमले का रास्ता साफ़ करने के लिए उससे संपर्क बनाए हुए था। 9 अप्रैल 1940 को हिटलर ने डेनमार्क और नार्वे पर हमला कर दिया। डेनमार्क ने बिना किसी लड़ाई के आत्मसमर्पण कर दिया और जून तक नार्वे के फ़ासीवादियों के सक्रिय सहयोग से जर्मनी ने उसे भी परास्त कर दिया। नार्वे के फ़ासीवादी के नाम से क्विसलिंग शब्द का अर्थ हो गया है एक ऐसा व्यक्ति जो शत्रुसहयोगी हो और विदेशी शक्ति को अपने देश पर अधिकार करने में सहायता करे और विदेशी शासकों की कठपुतली बन कर प्रधानमंत्री इत्यादी बन जाए। नार्वे की मदद के लिए भेजी गई ब्रिटिश और फ़्रांसीसी फ़ौजें वहाँ से पहले ही वापस चली गई थीं। डेनमार्क और नार्वे की विजय से हिटलर को उत्तरी यूरोप में महत्वपूर्ण वायुसैनिक तथा नौसैनिक अड्डे मिल गए।

बेल्जियम, नीदरलैंड्स और फ़्रांस का आत्मसमर्पण

10 मई 1940 को जर्मनी ने नीदरलैंड्स (हॉलैंड), बेल्जियम, लुक्ज़ंबर्ग और फ़्रांस पर आक्रमण किया। नीदरलैंड्स ने पाँच दिनों में और लुक्ज़ंबर्ग ने चंद घंटों में आत्मसमर्पण कर दिया। बेल्जियम के राजा ने आक्रमण के सत्रह दिन बाद 28 मई को अपनी सेना को आत्मसमर्पण करने का आदेश दिया। 26 मई को कोई साढ़े तीन लाख ब्रिटिश, फ़्रांसीसी और बेल्जियमी सैनिकों (अर्थात् जिन बेल्जियमी सैनिकों ने आत्मसमर्पण

करने से इनकार कर दिया था) का, जो पीछे हटकर डंकर्क चले गए थे, मैदान ख़ाली करने का सिलसिला आरंभ हुआ और 4 जून तक उन्हें ब्रिटेन पहुँचा दिया गया। वे अपने सारे भारी साज़-सामान अपने पीछे डंकर्क मे ही छोड़ गए। इस बीच ब्रिटेन और फ़्रांस में राजनीतिक परिवर्तन हो चुके थे। 10 मई को चैंबरलेन ने त्यागपत्र दे दिया था और उसके स्थान पर विंस्टन चर्चिल को एक संविद सरकार का प्रधानमंत्री बना दिया गया था। लेबर पार्टी के नेता क्लेमेंट एटली को उपप्रधानमंत्री बनाया गया।

मार्च 1940 में फ़्रांसीसी प्रधानमंत्री दलादियार को अपदस्थ करके उसके स्थान पर पॉल रेनो को प्रधानमंत्री बना दिया गया था। इस समय के फ़्रांसीसी मंत्रिमंडल के अधिकांश सदस्य "पराजयवादी" यानी ऐसे लोग थे जो हिटलर के सामने आत्मसमर्पण करने के पक्ष में थे। 9 जून को फ़्रांसीसी सरकार ने पेरिस का त्याग कर दिया और 14 जून को पेरिस पर जर्मन सेना का कब्ज़ा हो गया। इस समय फ़्रांसीसी सरकार का प्रधान मार्शल हेनरी फ़िलिप पेटाँ था जिसने जर्मनी से शांति के लिए अपील की। अब तक इटली इन सबसे अलग रहा था। अब जबकि फ़्रांस और ब्रिटेन दोनों को अपनी पराजय सामने दिखाई दे रही थी, 10 जून को वह भी जर्मनी की ओर से युद्ध में शामिल हो गया। 22 जून को पेटाँ की सरकार ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार अल्सास-लोरेन को जर्मनी ने अपने राज्य में मिला लिया, उत्तरी फ़्रांस पर जर्मन सेना ने कब्ज़ा कर लिया और पेटाँ की सरकार को लगभग आधे फ़्रांस पर नियंत्रण रखने दिया गया। अब पेटाँ की यह कठपुतली सरकार विशी में जाकर वहीं से आधे फ़्रांस का शासन सँभालने लगी। उसे फ़्रांसीसी उपनिवेशों पर अपना अधिकार कायम रखने दिया गया और बदले में वह नाज़ियों के स्याह-सफ़ेद कारनामों में सहयोगी बन गई। जब जर्मनी ने फ़्रांस पर आक्रमण किया था उस समय चार्ल्स डिगॉल फ़्रांसीसी सेना में कर्नल था और फ़्रांसीसी सरकार के आत्मसमर्पण के बाद वह बचकर ब्रिटेन भाग निकला था। डिगॉल (अब जनरल डिगॉल) के नेतृत्व में स्वतंत्र फ़्रांस आंदोलन (फ्री फ़्रांस मूवमेंट) आरंभ हुआ और नाज़ी जर्मनी से लड़ने के लिए ब्रिटेन में एक फ़्रांसीसी सेना भी तैयार की गई। फ़्रांस के जिस हिस्से पर पेटाँ सरकार का शासन था और जो नाज़ियों के साथ सहयोग कर रहा था, वह विशी फ़्रांस के नाम से जाना जाता है।

ब्रिटेन की लड़ाई

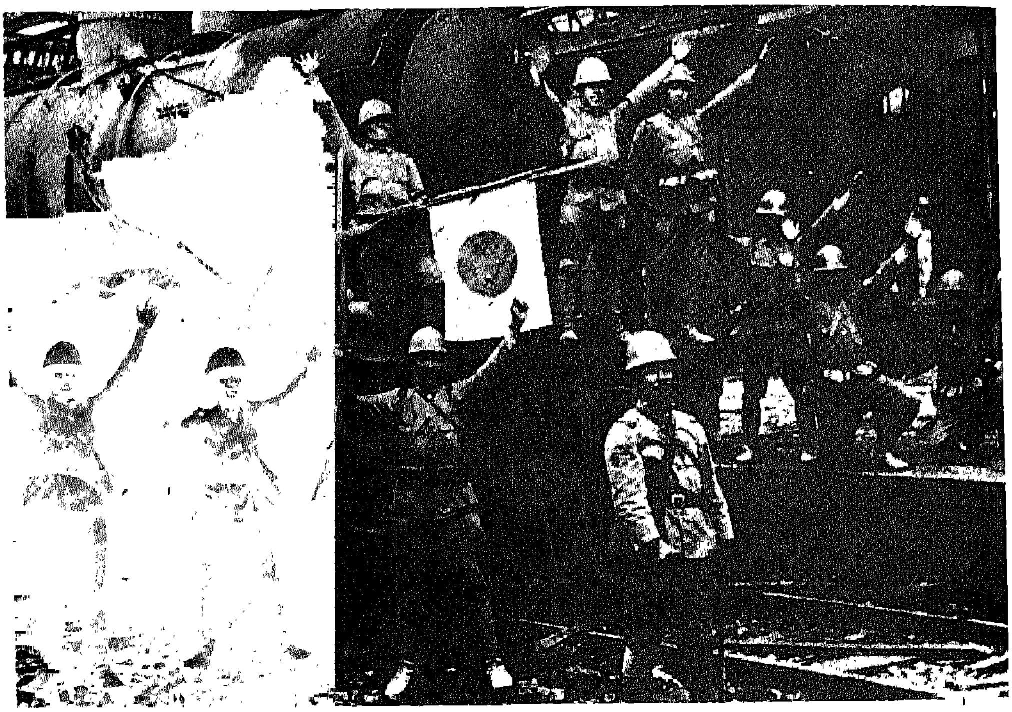
लगभग पूरे पश्चिमी यूरोप को जीत लेने के बाद जर्मनी की योजना ब्रिटेन पर आक्रमण करने की थी। इसे "सी-लायन" (सागर-सिंह) का सांकेतिक नाम दिया गया। ब्रिटेन पर आक्रमण करना तभी संभव था जब जर्मनी इंगलिश चेनल पर नियंत्रण स्थापित कर लेता, जिसे पार करके ही जर्मन सेना ब्रिटेन में पहुँच सकती थी। ब्रिटिश वायुसेना तथा नौसेना जर्मनी को चेनल पार करने से न रोक सकें, इसके लिए यह आवश्यक था कि उन्हें निष्प्रभावी बना दिया जाए। जर्मन बमबाज़ और युद्ध विमानों ने ब्रिटिश बंदरगाहों, हवाई अड्डों तथा विमान कारख़ानों पर बमबारी शुरू कर दी। इन दोनों देशों के विमानों के बीच इंगलिश चेनल तथा ब्रिटेन के शहरों और बंदरगाहों के ऊपर जमकर संकल-युद्ध हुए। जर्मन वायुसेना को ब्रिटेन की वायुसेना से अधिक नुकसान हुआ।



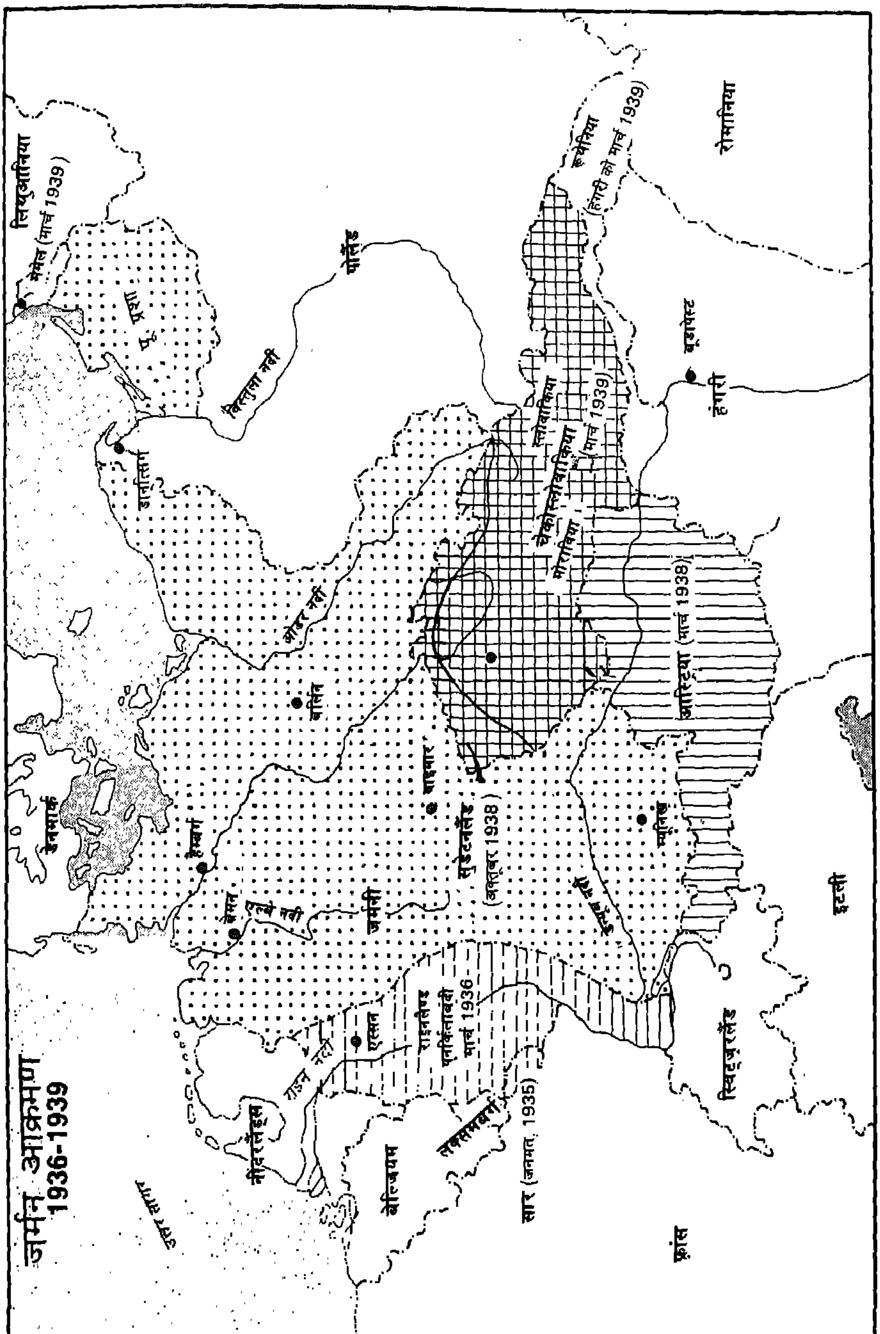
लंदन पर जर्मन बमबारी

हुआ। ब्रिटेन के प्रबल प्रतिरोध के कारण जर्मनी ने वहाँ की जनता के नैतिक बल को तोड़ने की आशा से ब्रिटेन के बड़े नगरों, ख़ासकर लंदन पर रात में हवाई हमले करना शुरू कर दिया। जवाब में ब्रिटेन ने भी जर्मनी पर हवाई हमले किए।

ब्रिटेन और जर्मनी के बीच की हवाई लड़ाई को इतिहास में "ब्रिटेन की लड़ाई" के नाम से जाना जाता है। अपने ओजस्वी भाषणों से ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने ब्रिटेन की जनता के नैतिक बल को बुलंद रखा। इनमें से कुछ भाषण वक्तव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एक ऐसे ही भाषण में उसने कहा था–"इस समय मेरे पास अपने देशभाइयों को देने के लिए "रक्त, कठोर श्रम, आँसू और पसीने" के अलावा कुछ नहीं है। हालाँकि बहुत-से पुराने और प्रसिद्ध राज्य गेस्टैपो (जर्मन खुफ़िया पुलिस) तथा नाज़ी शासन के अन्य दानवी संगठनों की गिरफ़्त में जा चुके हैं या जा सकते है, लेकिन हम अंत तक लड़ाई जारी रखेंगे। हम फ्रांस में लड़ेंगे, सागरों में लड़ेंगे, महासागरों में लड़ेंगे और अधिकाधिक शक्ति तथा आत्मविश्वास के साथ आसमान में लड़ेंगे। हम अपने द्वीपों की रक्षा करेंगे चाहे उसकी जो भी कीमत चुकानी पड़े, हम समुद्र-तटों पर लड़ेंगे, हम हवाई अड्डों पर लड़ेंगे, खेतों और सड़कों पर लड़ेगें और पहाड़ियों पर लड़ेंगे, लेकिन कभी भी आत्मसमर्पण नहीं करेंगे।" ब्रिटेनवासियों ने अपने हवाई अड्डों की हिफ़ाज़त करने में कामयाबी हासिल की और उन्हें कभी कोई गंभीर क्षति नहीं पहुँचने दी। उन्होंने अपने विमान उद्योगों का उत्पादन भी बढ़ाया जिससे न केवल ब्रिटेन की लड़ाई में उनके विमानों की क्षति की भरपाई होती रही, बल्कि उनके विमानों की संख्या में वृद्धि भी हुई। दुर्घष ब्रिटिश प्रतिरोध के फलस्वरूप ऑपरेशन "सी-लायन"



चीन में जापानी फौजें


जर्मन आक्रमण
1936-1939
लिथुआनिया
मेमेल (मार्च 1939)
पू. प्रशा
पोलैंड
विस्तुला नदी
डानजिग
रूथेनिया
(हंगरी को मार्च 1939)
रोमानिया
बुडापेस्ट
हंगरी
स्लोवाकिया
(मार्च 1939)
चेकोस्लोवाकिया
मोराविया
आस्ट्रिया (मार्च 1938)
ओडर नदी
बर्लिन
डेनमार्क
हैम्बर्ग
ब्रेमन
एल्बे नदी
जर्मनी
वाइमार
सुडेटनलैंड
(अक्तूबर 1938)
म्यूनिख
डेन्यूब नदी
इटली
स्विट्ज़रलैंड
फ्रांस
सार (जनमत 1935)
लक्समबर्ग
बेल्जियम
नीदरलैंड्स
राइन नदी
एस्सन
राइनलैंड
पुनर्किलाबंदी
मार्च 1936
उत्तर सागर

अनिश्चित काल के लिए टल गया और नवंबर 1940 से लंदन पर जर्मन हवाई हमले कमोबेश बंद हो चुके थे।

युद्ध के अन्य क्षेत्र

इस बीच युद्ध यूरोप के कुछ अन्य हिस्सों और अफ्रीका में भी फैल चुका था। 27 सितंबर 1940 को जर्मनी, इटली और जापान ने एक त्रिपक्षीय संधि की। इस संधि के अनुसार प्रत्येक देश ने बाकी दो देशों को किसी तीसरी शक्ति द्वारा उन पर हमला होने पर सहायता देने का वचन दिया। जर्मनी और इटली ने जापान के वृहत्तर पूर्व एशिया सह-समृद्धि क्षेत्र (ग्रेटर ईस्ट एशिया को-प्रॉस्पैरिटी स्फियर) का निर्माण करने का दावा स्वीकार कर लिया। इस तथाकथित सह-समृद्धि क्षेत्र के निर्माण का मतलब यह था कि जापान न केवल चीन और मंचूरिया पर बल्कि पूरे पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व एशिया पर अधिकार कर सकता है। इसके बदले जापान ने यूरोप पर जर्मन तथा इतालवी वर्चस्व को मान्यता दी। अक्तूबर 1940 में इटली ने यूनान पर आक्रमण किया, लेकिन जब वहाँ उसे प्रबल प्रतिरोध का सामना करना पड़ा तो उसने जर्मनी से



मदद माँगी। नवंबर 1940 और मार्च 1941 के बीच जर्मनी ने हंगरी, रोमानिया, स्लोवाकिया और बुल्गारिया को भी त्रिपक्षीय गुट में शामिल कर लिया और अपने सैनिक इन देशों में भेज दिए। इस प्रकार ये देश जर्मनी, इटली और जापान के मित्र देश बन गए। इस समय तक हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया था। उपर्युक्त चारों देशों में सैनिक भेजना सोवियत संघ पर आक्रमण करने की तैयारी का हिस्सा थी। अप्रैल में जर्मन सैनिक यूगोस्लाविया और यूनान भेजे गए। यूनान ने अपने ऊपर इटली के हमले को नाकाम कर दिया। अब जर्मन सेना की मदद से यूगोस्लाविया और यूनान-दोनों को परास्त कर दिया गया। जून 1941 ई. तक जर्मनी और इटली रूस तथा ब्रिटेन को छोड़कर पूरे यूरोप को जीत चुके थे। इस बीच इटली ब्रिटिश सोमालीलैंड तथा सूडान को जीतकर मिस्र की ओर बढ़ रहा था। लेकिन दिसंबर 1940 तक अंग्रेज़ न केवल अफ्रीका के अपने सभी उपनिवेशों को फिर से जीत लेने में सफल हो गए थे बल्कि लीबिया को छोड़कर बाकी सभी अफ्रीकी देशों में इतालवी सेना को खदेड़ देने में भी कामयाब हो गए थे। फ़रवरी 1941 में जर्मन सैनिक लीबिया भेजे गए और जर्मनी तथा इटली ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ अफ्रीका में दूसरा अभियान आरंभ कर दिया। अफ्रीका की लड़ाई, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे, अभी दो वर्षों तक चलने वाली थी।

सोवियत संघ पर जर्मन आक्रमण

पिछले अध्याय में हम साम्यवाद तथा सोवियत संघ के प्रति हिटलर की नफ़रत, पश्चिमी देशों द्वारा हिटलर के तुष्टीकरण, फ़ासीवादी अतिक्रमण को रोकने के लिए एक गुट बनाने की सोवियत संघ की कोशिशों और सोवियत-जर्मन अनाक्रमण समझौते का ज़िक्र कर चुके हैं। हिटलर हमेशा से मानता आ रहा था कि उसे 'असली' लड़ाई सोवियत संघ के ख़िलाफ़ लड़नी होगी। उसका विश्वास था कि सोवियत संघ के विशाल संसाधनों के जीत लेने से जर्मनी 'अभेद्य' हो जाएगा और उसे "सभी महादेशों के साथ लड़ने की" शक्ति प्राप्त हो जाएगी। सोवियत संघ को जीतने का लक्ष्य जर्मनी के दूसरे सैनिक अभियानों के लक्ष्य से बहुत भिन्न भी था। हिटलर का इरादा इस लड़ाई को विनाश की संपूर्ण लड़ाई का रूप देने का था। और इसका लक्ष्य केवल साम्यवाद का ही विनाश नहीं था, बल्कि हिटलर का इरादा यूराल से पश्चिम के प्रदेशों में "विशुद्ध आर्य रक्त के" - यानी जर्मन नस्ल के – दस करोड़ लोगों को बसाने का था, और चूँकि जर्मनों की संख्या इतनी बड़ी नहीं थी, इसलिए यह सौभाग्य दूसरों को भी दिया जाना था। इन "दूसरों " में उत्तरी यूरोप के लोग, डच तथा अंग्रेज़ भी शामिल थे जिन्हें नस्ली तौर पर जर्मनों का नज़दीकी माना जाता था। इस क्षेत्र में वह जिस नई सभ्यता की स्थापना की योजना बना रहा था उसका वर्णन उसने लड़ाई के दौरान इन शब्दों में किया था : "इस क्षेत्र का एशियाई मैदान वाला रूप ख़त्म होना चाहिए। इसका यूरोपीयकरण करना चाहिए। ... राइक के किसान (जर्मन किसान) को अतीव मनोरम बस्तियों में ही रहना चाहिए। जर्मन अभिकरणें तथा प्राधिकरणें की इमारतें भव्य होनी चाहिएं–शासकों को शोभा देने योग्य। हर शहर के चारों ओर 20 से 40 किलोमीटर तक सुंदर गाँवों की एक श्रृंखला होगी। माला में बीचों-बीच में पिरोए मोती के दानों की तरह जर्मन नगर स्थित होंगे और नगरों के चारों और बस्तियाँ होंगी। कारण, हम अपने लिए लेबेंस्राम (शाब्दिक अर्थ : ठीक ज़िंदा रहने के लिए आवश्यक ज़मीन। नाज़ियों द्वारा अन्य देशों की भूमि के लिए प्रयुक्त शब्द, जिसे वे जर्मनी के राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए आवश्यक मानते थे) के द्वार नहीं खोलेंगे, हम स्वयं उन पुरानी, बदकिस्मत गंदी रूसी बस्तियों में नहीं रहेंगे। बस्तियाँ निश्चित रूप से बहुत ऊंचे स्तर की होंगी।" यहूदियों का सर्वनाश और स्लावों को गुलाम बनाना इस योजना के अभिन्न अंग थे।

सोवियत संघ पर आक्रमण की योजना 1940 के आरंभ से ही बनाई जाने लगी थी। उसे "ऑपरेशन बारबरोसा" की सांकेतिक संज्ञा दी गई। लाल सेना के नाम से विख्यात सोवियत सेना के बारे में हिटलर की राय बहुत ख़राब थी। उसे वह "एक मज़ाक से ज़्यादा कुछ नहीं" समझता था। योजना के अनुसार सोवियत संघ को नौ या ज़्यादा से ज़्यादा सत्रह हफ़्तों के अंदर जीत लेना था। लेकिन जैसा कि घटनाचक्र से सिद्ध हुआ, यह आक्रमण नाज़ी शासन और स्वयं हिटलर के विनाश का कारण बना।

जर्मन आक्रमण के बाद सोवियत सरकार ने सोवियत-जर्मन अनाक्रमण समझौते को इस आधार पर उचित ठहराया कि उससे सोवियत संघ को "शांति के डेढ़ वर्ष" और "नाज़ी हमले का मुकाबला करने की तैयारी करने का अवसर" मिल गया। इस प्रकार वह समय प्राप्त करने की एक रणनीति थी। मगर जब आक्रमण हुआ तो सोवियत संघ बिलकुल भौचक्का रह गया और उसे करारी हारों और बरबादी का मुँह देखना पड़ा। कुछ सोवियत लेखक कहते हैं कि इसका कारण यह था कि सोवियत संघ को आक्रमण का प्रतिरोध करने की पूरी तैयारी करने का समय नहीं मिल पाया। लेकिन ज़्यादातर इतिहासकारों की राय है कि स्टालिन अनाक्रमण समझौते पर ज़रूरत से ज़्यादा भरोसा करके चल रहा था और मानने लगा था कि जर्मनी अभी लंबे समय तक सिर्फ़ पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के साथ ही उलझा रहेगा, इसलिए सोवियत संघ को तत्काल कोई ख़तरा नहीं है। इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि जबसे युद्ध आरंभ हुआ था, स्टालिन ने सोवियत संघ में नाज़ी-विरोधी तथा जर्मन-विरोधी विचारों के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा दिया था। जब तक जर्मनी ने सोवियत संघ पर आक्रमण नहीं किया तब तक वहाँ द्वितीय विश्व युद्ध को फ़ासीवादी शक्तियों द्वारा आरंभ की गई लड़ाई के तौर पर नहीं, बल्कि साम्राज्यवादियों के आपसी युद्ध के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा। अनाक्रमण संधि तथा सोवियत संघ द्वारा पोलैंड पर किए गए हमले और बाल्टिक राज्यों पर कब्ज़ा करने से सोवियत संघ तथा साम्यवादी दलों की लोकप्रियता में पूरी दुनिया में कमी आई।

युद्ध की किसी औपचारिक घोषणा के बिना 22 जून 1941 ई. को जर्मन आक्रमण आरंभ हो गया। वायुसेना समर्थित जर्मन टैंक लेनिनग्राड, मास्को और कीव की ओर जाने वाले 3000 किलोमीटर से अधिक लंबे मोर्चे से होकर तेज़ी से आगे बढ़े। सोवियत सेना लगातार पीछे हटती रही और जर्मन सेना ने कीव, स्मोलैंस्क तथा ओडेसा पर कब्ज़ा कर लिया। जर्मनी ने सर्दी शुरू होने से पहले ही सोवियत संघ के ख़िलाफ़ अपने युद्ध को अंतिम परिणति तक पहुँचा देने की आशा की थी। अक्तूबर के आरंभ में मास्को के चारों ओर घेरा डाल दिया गया। लेकिन तब तक काफ़ी देर हो चुकी थी। शीघ्र ही भयावह रूसी ठंड आरंभ हो गई। नवंबर के मध्य तक मास्को पर आक्रमण को रोकना पड़ा। नवंबर के अंत तक तापमान शून्य से 40 डिग्री नीचे आ गया था जिससे जर्मनी के काफ़ी सारे भारी साज़-सामान बेकार हो गए। जर्मन सिपाहियों को इतने कपड़े नहीं दिएं गए थे कि वे रूस की सर्दी को झेल पाते। दिसंबर में सोवियत प्रत्याक्रमण आरंभ हुआ और जनवरी तक जर्मन सेना को मास्को से ख़देड़ दिया गया। "ऑपरेशन बारबरोसा" विफल हो चुका था, लेकिन जर्मनी की पूर्ण पराजय में अभी देर थी। इस बीच दुनिया में कई और भी महत्वपूर्ण घटनाएँ हो चुकी थीं।

संयुक्त राज्य का युद्ध में प्रवेश

जब द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ा, उस समय संयुक्त राज्य ने अपने को तटस्थ घोषित कर दिया था। फ़ासीवादी अतिक्रमण के आरंभ से ही संयुक्त राज्य ब्रिटेन तथा फ़्रांस की जैसी नीति पर चलता रहा था। सुडेटनलैंड को लेकर चलनेवाली वार्ता में संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति ने चैंबरलेन की तुष्टीकरण की नीति का समर्थन किया था। उसने चीन पर जापानी हमले का विरोध किया था, लेकिन इससे आगे कुछ नहीं। इस युद्ध में ज़्यादातर अमरीकी ब्रिटेन से सहानुभूति रखते थे, लेकिन वे लड़ाई में संयुक्त राज्य की सीधी शिरकत के ख़िलाफ़ थे। ब्रिटेन को संयुक्त राज्य से शस्त्रास्त्र की नकद ख़रीदारी करने दी गई। धीरे-धीरे ब्रिटेन के प्रति संयुक्त राज्य का समर्थन बढ़ता गया। 1941 के आरंभ होते-होते ब्रिटेन इस स्थिति में नहीं रह गया था कि वह शस्त्रास्त्रों तथा अन्य साज़-सामन की कीमत चुका सके। इन सबके लिए वह मुख्य रूप से संयुक्त राज्य पर ही निर्भर था। मार्च 1941 में संयुक्त राज्य की कांग्रेस (संसद) ने एक कानून पास किया जिसमें राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया कि वह ऐसे किसी भी देश को उधार या पट्टे पर शस्त्रास्त्र दे सकता है जिसकी रक्षा को वह "संयुक्त राज्य की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण समझे"।

इसे "उधार पट्टा व्यवस्था" (लेंड-लीज़ सिस्टम) की संज्ञा दी गई। अब ब्रिटेन को संयुक्त राज्य से बड़े पैमाने पर शस्त्रास्त्र आदि प्राप्त होने लगे। बाद में संयुक्त राज्य ने ब्रिटेन जाने वाले अपने लदे जहाज़ों की जर्मन हमलों से

हिफ़ाज़त करने का ज़िम्मा भी ले लिया। साथ ही संयुक्त राज्य के उद्योगों ने विशाल परिमाण में शस्त्रास्त्रों, विमानों तथा जहाज़ों का निर्माण आरंभ कर दिया। नवंबर 1941 में अमरीकी "उधार पट्टा व्यवस्था" सोवियत संघ पर भी लागू कर दी गई।

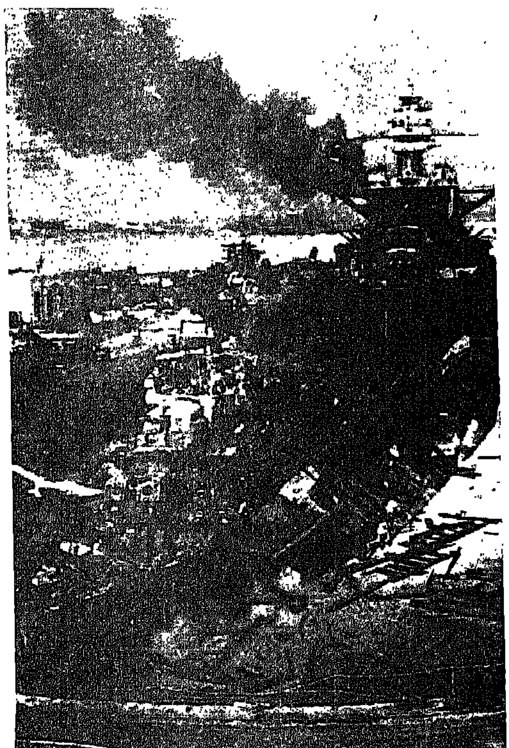
अटलांटिक चार्टर

इन्हीं दिनों एक और भी महत्वपूर्ण घटना हुई। अगस्त 1941 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल और अमरीकी राष्ट्रपति रूज़वेल्ट (जो 1940 में तीसरी बार इस पद पर चुना गया था) ने अपनी अगस्त 1941 की मुलाकात के बाद एक घोषणा जारी की। यह घोषणा 'एटलांटिक चार्टर' (एटलांटिक घोषणा-पत्र) के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ था यद्यपि इसका मतलब यह नहीं था कि संयुक्त राज्य युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने के लिए प्रतिबद्ध हो गया है। इस घोषणा पत्र में कुछ सामान्य सिद्धांत प्रतिपादित किए गए थे जिनके आधार पर "विश्व के लिए बेहतर भविष्य" की रचना की जा सकती थी। दोनों देशों ने इन सिद्धांतों से अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की और ये सिद्धांत एक प्रकार से युद्ध लक्ष्यों की घोषणा के रूप में सामने आए। दोनों देशों ने कहा कि हम "कोई प्रादेशिक या अन्य प्रकार का लाभ" नहीं चाहते और न देशों की स्थिति में ऐसे परिवर्तन चाहते हैं "जो संबंधित जन-समाज की स्वतंत्र इच्छा के अनुरूप न हों।" घोषणापत्र में यह भी कहा गया कि दोनों देश "सभी जन-समाजों के अपनी मर्ज़ी की सरकार चुनने के अधिकार का आदर करते हैं। वे चाहते हैं कि जिन लोगों की संप्रभुता और स्वशासन के अधिकार ज़बरदस्ती छीन लिए गए हैं उन्हें वे वापस लौटा दिए जाएं।"घोषणापत्र में "नाज़ी ज़ुल्म को सदा के लिए समाप्त कर देने" की बात भी कही गई थी। सोवियत संघ भी इस घोषणा में शामिल हो गया।

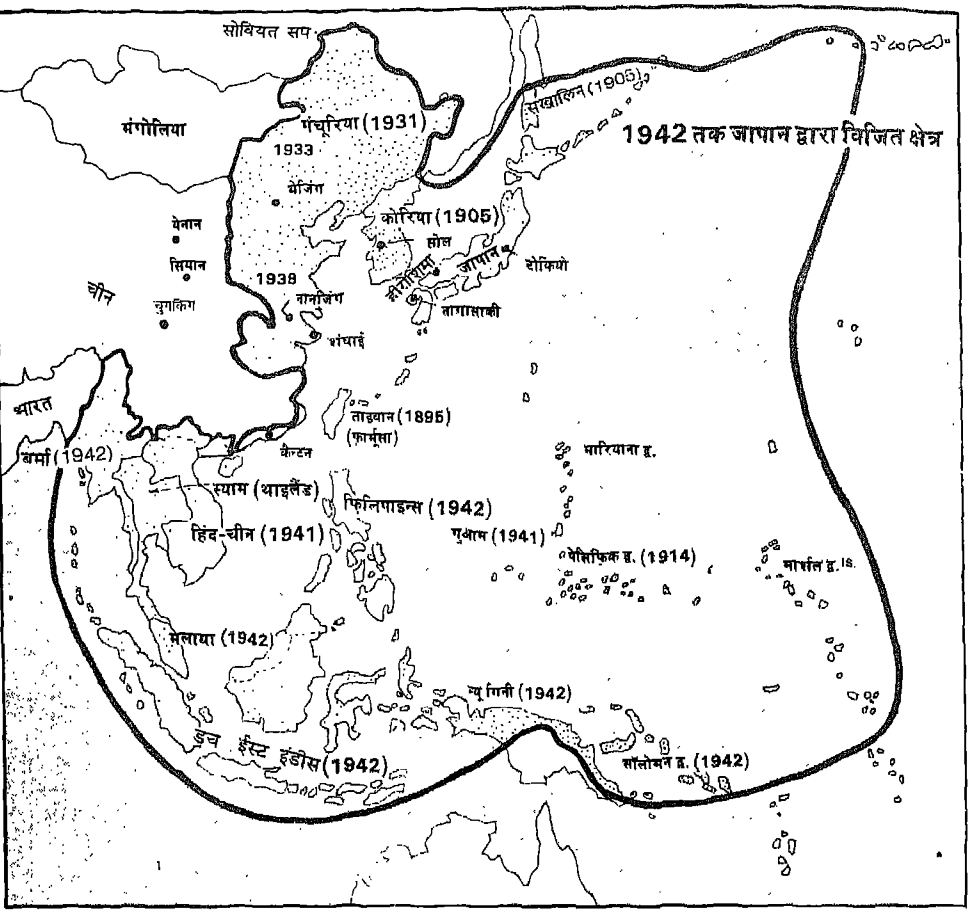
दिलचस्प बात है कि जब भारतीय नेताओं ने ब्रिटेन से स्वतंत्रता की माँग की और उसके समर्थन में एटलांटिक चार्टर के सिद्धांतों का हवाला दिया तो चर्चिल ने यह कहते हुए फटकार बता दी कि ये सिद्धांत केवल उन देशों पर लागू होते हैं जो जर्मनी के कब्ज़े में हैं।

पर्ल हारबर पर आक्रमण

संयुक्त राज्य ने अब तक युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से प्रवेश नहीं किया था। जुलाई 1941 में जापानियों ने हिंद-चीन (इंडोचाइना) में वियतनाम पर कब्ज़ा कर लिया था। अक्तूबर में जापान में और भी आक्रमण रुख़वाली सरकार पदारूढ़ हुई। उसका प्रधान जनरल हिदेकी टोजो था। जापानियों ने एक और भी आक्रामक कार्रवाई करने की तैयारी की। इस बार उसका लक्ष्य प्रशांत महासागर था। 7 दिसंबर 1941 को जापानी बमबाज़ विमानों ने हवाई द्वीप में पर्ल हारबर में स्थित अमरीकी नौसैनिक अड्डे पर हमला कर दिया। संयुक्त राज्य मान रहा था कि अगर जापान ने आक्रमण किया भी तो वह उस क्षेत्र के ब्रिटिश और डच उपनिवेशों पर ही हमला करेगा। इसलिए इस जापानी कार्रवाई के लिए वह बिलकुल



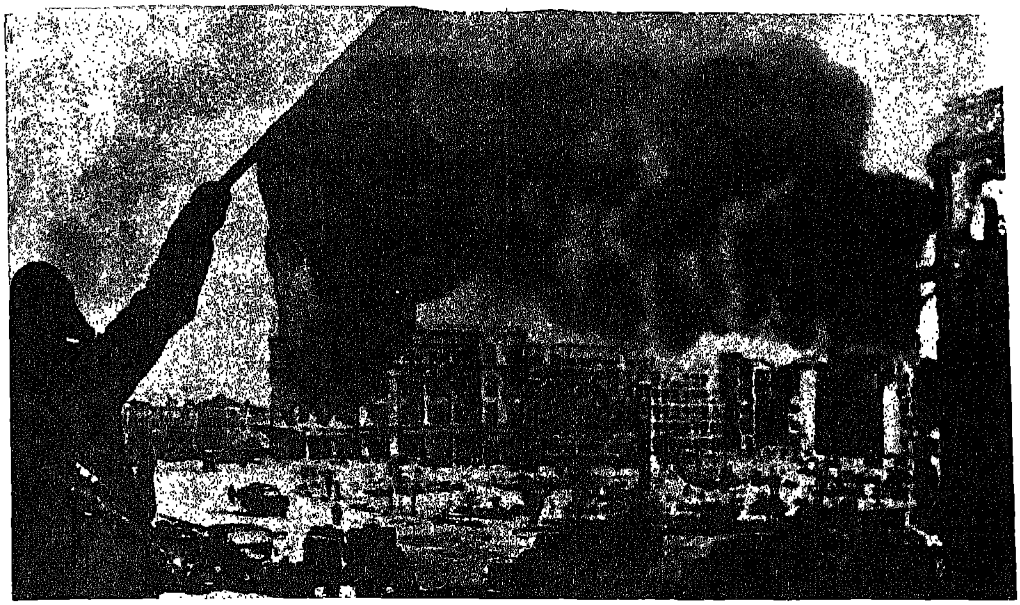
जापानी आक्रमण से क्षतिग्रस्त पर्ल हारबर में अमरीकी नौसैनिक बेड़ा



तैयार नहीं था। बमबारी में संयुक्त राज्य के 188 विमान और बहुत-से युद्ध-पोत, क्रूज़र तथा अन्य नौसैनिक जहाज़ ध्वस्त हो गए एवं 2000 से अधिक सैनिक मारे गए। जापानियों को मामूली क्षति हुई। 8 दिसंबर को संयुक्त राज्य ने जापान के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा कर दी। 11 दिसंबर को जर्मनी और इटली ने संयुक्त राज्य के ख़िलाफ़ तथा संयुक्त राज्य ने इन दोनों देशों के ख़िलाफ़ लड़ाई का एलान कर दिया।

विश्व युद्ध

सोवियत संघ पर जर्मन आक्रमण, पर्ल हारबर पर जापानी हमला और संयुक्त राज्य का लड़ाई में उतर आना – 1941 की इन घटनाओं ने इस युद्ध को वास्तव में विश्व युद्ध में परिणत कर दिया। 1942 के अंत तक जापान ने प्रशांत क्षेत्र में कई द्वीपों, फ़िलिपाइंस, इंडोनेशिया, बर्मा, मलाया, सिंगापुर और थाईलैंड पर कब्ज़ा कर लिया। इस समय फ़ासीवाद-विरोधी गठबंधन कायम हुआ जिसमें ब्रिटेन, सोवियत संघ और संयुक्त राज्य शामिल हुए। विंस्टन चर्चिल ने इसे महान गठबंधन ("ग्रैंड एलायंस") की संज्ञा दी। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य साथ होकर संयुक्त कमान के अधीन लड़े। यद्यपि सोवियत संघ के साथ मिलकर कोई संयुक्त कार्रवाई नहीं की गई, तथापि तीनों ने आपस में सक्रिय सहयोग किया और कभी-कभी तीनों ने सामान्य रणनीतियाँ भी बनाईं। इसके अलावा अब संयुक्त राज्य के उद्योग के विशाल संसाधनों को युद्ध संचालन के लिए विनियोजित किया गया। अपरिमित परिमाण में युद्ध सामग्री का उत्पादन किया गया जिसमें तीन लाख विमान और पचासी हज़ार टैंक भी शामिल थे। संयुक्त राज्य को "विजय



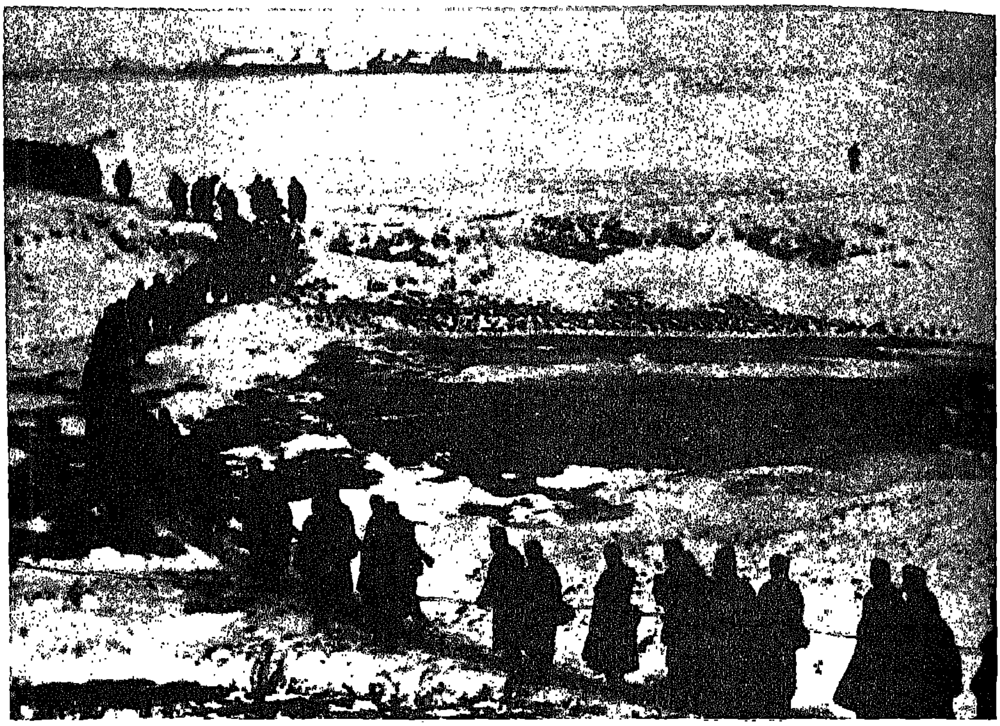
जर्मन फ़ौजों के समर्पण के बाद स्टालिनग्राड

का शस्त्रागार" कहा गया है। सोवियत संघ ने जनरल डिगॉल को मान्यता दी जिसने बाद में समस्त "स्वतंत्र फ़्रांसीसियों" की एक कामचलाऊ सरकार गठित कर ली थी।

स्टालिनग्राड की लड़ाई

वर्ष 1942 के पूरे दौर में यूरोप में यह युद्ध लगभग पूर्ण रूप से सोवियत सेना तथा जर्मनी और उसके मित्र देश रोमानिया और बुल्गारिया की सेनाओं के बीच लड़ा गया। जब मास्को पर जर्मन आक्रमण को विफल कर दिया गया तो जर्मनी की सेना कॉकेसस की ओर बहुत दूर तक बढ़ गई। मार्च 1942 में हिटलर ने दावा किया था कि लाल सेना को इसी ग्रीष्म में कुचल दिया जाएगा। जुलाई में जर्मन सेना ने स्टालिनग्राड (अब वोल्गोग्राड) पर आक्रमण किया और मध्य सितंबर तक वह स्टालिनग्राड की सीमाओं पर पहुँच गई। उसके बाद वह संघर्ष आरंभ हुआ जिसे द्वितीय विश्व युद्ध का "सबसे बड़ा एकल शक्ति-परीक्षण" कहा गया है। नवंबर के मध्य तक जर्मन सेना स्टालिनग्राड के अंदर और आसपास पहुँच चुकी थी। एक-एक इंच ज़मीन के लिए स्टलिनग्राड में तुमुल संघर्ष चल रहा था। नवंबर के आख़िरी दिनों में स्टालिनग्राड में और उसके आसपास मौजूद जर्मन सेना को सावियत सेना ने घेर लिया और अब उसे भागते राह नहीं मिल रही थी। कोई साज़-सामान, रसद-पानी उस तक पहुँच नहीं सकता था। घेरे में पड़ी जर्मन सेना के कमांडर जनरल पालस ने 24 जनवरी 1943 को ख़बर भेजी कि जर्मन सेना के जो सैनिक बचे हुए हैं उनमें से 20,000 घायल हैं, जिनकी कोई शुश्रूषा-परिचर्या नहीं हो रही है और 20,000 शीतक्षत (फ्रॉस्टबाइट) से पीड़ित हैं, उनके पास लड़ने को हथियार नहीं हैं और वे भूखों मर रहे हैं। 31 जनवरी को पालस ने आत्मसमपर्ण कर दिया। स्टालिनग्राड की लड़ाई पाँच महीने चली जिस दौरान वह शहर मलबे का ढेर बन गया था। इस लड़ाई में जर्मन पराजय को "इतिहास में किसी भी जर्मन सेना की सबसे गहरी शिकस्त" कहा गया है। जर्मनी और उसके मित्र देशों को इस लड़ाई में 3,00,000 सैनिकों से हाथ धोना पड़ा। उनमें से कोई 90,000 बच रहे, जिन्हें बंदी बना लिया गया।

जुलाई 1941 में सोवियत सरकार ने ब्रिटेन से जर्मन अधिकृत फ़्रांस पर आक्रमण करके एक "दूसरा मोर्चा" खोलने का आग्रह किया ताकि उसके ख़िलाफ़ सकेंद्रित जर्मन सेना को इस नए मोर्चे पर ध्यान देना पड़े और रूस पर दबाव



सोवियत संघ में जर्मन फ़ौजें पीछे हटती हुईं

कम हो। लेकिन ब्रिटेन इस पर सहमत नहीं हुआ। मई और जून 1942 में सोवियत संघ ने ब्रिटेन और संयुक्त राज्य से पुन: "दूसरा मोर्चा" खोलने का अनुरोध किया। संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति इसके लिए तैयार भी था, लेकिन अंत में ब्रिटेन और संयुक्त राज्य ने नया मोर्चा खोलने की बजाय अपनी सेना को उत्तर अफ्रीका भेजने का फैसला किया। यूरोप में 1942 में दूसरा मोर्चा न खोलने के पक्ष में तर्क यह दिया गया कि अभी ब्रिटेन और संयुक्त राज्य यूरोप में जर्मन सेना पर आगे बढ़कर हमला करने लायक ताकत नहीं जुटा पाए हैं। लेकिन सोवियत संघ ने इसका अर्थ यह लगाया कि ब्रिटेन और संयुक्त राज्य "चाहते हैं कि सोवियत संघ का बूँद-बूँद" रक्त निचुड़ जाए ताकि वे अपनी सेनाएँ सुरक्षित रख सकें और युद्ध के अंतिम चरणों में सर्वशक्तिमान होकर उभरें। लेकिन स्टालिनग्राड की जर्मन पराजय के बाद तीनों शक्तियों के बीच अधिक सहयोग होने लगा।

1943 के मध्य में जर्मनी और उसके मित्र देशों की सेनाओं ने सोवियत सेना के ख़िलाफ़ एक और भी ज़बरदस्त मुहिम छेड़ी, लेकिन उस साल अगस्त महीने में उन्हें करारी हार का मुँह देखना पड़ा और उनके कोई 5 लाख सैनिक मारे गए। इसे कुर्स्क की लड़ाई कहते हैं। उसके बाद उन्हें लगातार पीछे धकेला जाता रहा और जनवरी 1944 तक वे पूर्वी मोर्चे के सभी क्षेत्रों से पीछे हटने लगीं।

उत्तर अफ्रीका और प्रशांत क्षेत्र की लड़ाई

1942 में फ़ासीवादी ताकतें अपनी शक्ति के शिखर तक पहुँच चुकी थीं, लेकिन 1943 में उन्हें लगभग हर मैदान में हार का मुँह देखना पड़ा। उत्तर अफ्रीका में इटली की घोर पराजय के उपरांत जनरल रोमेल के नेतृत्व में जर्मन सेना उसकी मदद के लिए भेजी गई थी। रोमेल की सेना ने इस मुहिम में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की थी और अगस्त 1942 ई. में उसने मिस्र स्थित ब्रिटिश फ़ौज पर ज़बरदस्त हल्ला बोल दिया था। अल अलामीन में जनरल मॉण्टगुमरी के नेतृत्व

में ब्रिटिश सेना के साथ जर्मन सेना की भिड़ंत हुई और नवंबर में जर्मन सेना को वापस लौटने पर मजबूर होना पड़ा। अल अलामीन की लड़ाई के शीघ्र बाद ब्रिटिश और अमरीकी फ़ौजें मोरक्को और अल्जीरिया के अटलांटिक तट पर उतरीं। ये दोनों देश फ़्रांसीसी उपनिवेश थे और विशी फ़्रांस के नियंत्रण में थे, जो जर्मनी से संधि के सूत्र में बँधा हुआ था। लेकिन कुछ समय बाद इन देशों की फ़्रांसीसी सेनाएँ मित्र-राष्ट्रों से जा मिलीं। जर्मनी ने विशी फ़्रांस पर कब्ज़ा कर लिया और ट्यूनीसिया (यह भी एक फ़्रांसीसी उपनिवेश ही था) को कुमुक भेजी। मार्च 1943 में ब्रिटिश और अमरीकी सेनाओं ने ट्यूनिसिया पर आक्रमण किया और जर्मन तथा इतालवी सेनाओं को वहाँ आत्मसमपर्ण करना पड़ा। इसके साथ ही इटली और जर्मनी उत्तर अफ्रीका से उखड़ गए। इसके पूर्व 1941 में इराक में एक जर्मनी-समर्थक विद्रोह भड़क उठा था जिसे कुचल दिया गया। ब्रिटेन तथा स्वतंत्र फ़्रांस की फ़ौजों ने सीरिया तथा लेबनान पर, जो विशी फ़्रांस के अधिकार में थे, कब्ज़ा कर लिया।

प्रशांत क्षेत्र में 1942 में संयुक्त राज्य तथा जापान के बीच कई नौसैनिक लडाइयाँ हुईं और यद्यपि जापान की बढ़त को रोक दिया गया था, तथापि मित्र राष्ट्रों को कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली थी। मगर 1943 में मित्र राष्ट्रों ने प्रशांत क्षेत्र के अपने कई द्वीप जापानियों से छीन लिए। चीन में जापानी आक्रमण जारी रहा और मित्र राष्ट्र वहाँ अपनी सेना नहीं उतार पाए। च्यांग काई-शेक को युद्ध सामग्री भेजते रहने में तो वे कामयाब हो गए थे, लेकिन च्यांग की सेना जापानियों पर कोई हमला नहीं कर पाई।

यूरोप में मित्र राष्ट्रों की विजय

1943 में ब्रिटेन और संयुक्त राज्य ने पश्चिमी यूरोप में अपनी आक्रामक कार्रवाई 1944 तक के लिए स्थगित रखने का फैसला किया था। कुर्स्क की लड़ाई में सोवियत संघ की विजय के बाद उन्होंने सिसली पर आक्रमण किया। इस समय तक इटली में व्यापक असंतोष फैल चुका था। बार-बार हड़तालें हो रही थीं। असंतोष सेना में भी फैल गया था। इतालवी सेना को हर मोर्चे पर मुँह की खानी पड़ी थी और उसने भारी संख्या में मित्र राष्ट्रों के सामने समर्पण किया था। 25 जुलाई 1943 के दिन मुसोलिनी को बर्खास्त कर दिया गया और एक नई सरकार सत्तारूढ़ हुई। अब इटली युद्ध से अलग होना चाहता था। 3 सितंबर को मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ दक्षिणी इटली पर चढ़ आई और इटली ने बिना शर्त आत्मसमर्पण



दूसरे मोर्चे की शुरुआत-नार्मेन्डी, फ़्रांस में उतरती मित्र राष्ट्रों की फ़ौजें

कर दिया।

10 सितंबर को जर्मन सेना ने रोम सहित उत्तरी इटली पर कब्ज़ा कर लिया। उन्होंने मुसोलिनी को नज़रबंदी से रिहा करवाया जिसने जर्मन संरक्षण में उत्तरी इटली में अपनी सरकार स्थापित की। दक्षिणी इटली में एक नई सरकार बनाई गई जिसने जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा कर दी। यद्यपि कई महीने तक मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ उत्तर की ओर नहीं बढ़ीं, लेकिन उत्तरी इटली के अंदर ही फ़ासीवादियों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध ज़ोर पकड़ता गया और वे लोग जर्मनी तथा मुसोलिनी के विरुद्ध जमकर लड़े।

1944 में फ़ासीवादी सेनाएँ सोवियत प्रदेशों से निकाल बाहर की गईं और सोवियत संघ ने फ़िनलैंड को, जो जर्मनी का मित्र देश बन गया था, हरा दिया। पूर्वी यूरोप के देशों, जैसे पोलैंड, रोमानिया, बुल्गारिया, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया के अधिकतर हिस्सों को मुक्त करा लिया गया। इनमें से कुछ देशों में फ़ासीवादी सरकारें बन गई थीं, जो युद्ध में जर्मनी की ओर से उतरी थीं। पोलैंड जैसे कुछ देश सीधे जर्मन कब्ज़े में थे। फ़ासीवादी सेनाओं को यूनान, यूगोस्लाविया तथा अल्बानिया से भी खदेड़ दिया गया।

जून 1944 में मित्र राष्ट्रों ने पश्चिमी यूरोप में दूसरा मोर्चा खोला। 6 जून को, जिसे डी.डे. (कारवाई शुरू करने के लिए तै किया गया दिन) कहा जाता है, फ़्रांस के उत्तरी हिस्से में नॉरमेंडी के समुद्र तट पर मित्र-राष्ट्रों की सेना की पहली खेप उतरी। जुलाई के अंत में फ़्रांस में उतारे गए मित्र राष्ट्रों के सैनिकों की संख्या 16 लाख पर पहुँच गई। उनकी कमान जनरल *ड्वाइट डी. आइज़हॉवर* के हाथों में थी, जो बाद में संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति बना। सितंबर 1944 तक मित्र-राष्ट्रों की सेनाएँ फ़्रांस, लुक्ज़ंबर्ग और बेल्जियम को मुक्त करा चुकी थीं। जर्मनी ने आख़िरी बड़ा प्रत्याक्रमण बेल्जियम के आर्डेनिस क्षेत्र में दिसंबर 1944 में किया। यहाँ की लड़ाई को 'बल्ज की लड़ाई' कहते हैं। इस बीच मार्शल ज़ुकोव के नेतृत्व में रूसी सेना ने पूरे पूर्वी मोर्चे पर भारी हल्ला बोल दिया जिससे हिटलर को अपने अधिकांश सैनिकों को अर्डेनिस से हटाकर इस मोर्चे पर लगाना पड़ा। फलत: जनवरी के मध्य में यह लड़ाई समाप्त हो गई।

जर्मनी का आत्मसमर्पण

जब जर्मनी ने उत्तरी इटली पर कब्ज़ा करके मुसोलिनी को रिहा कराया और मुसोलिनी ने जर्मन अधिकृत इटली में अपनी

पूर्वी मोर्चे पर लड़ रहे जर्मन सिपाहियों के नाम

I बंधुओ, मैं अगर तुम्हारे साथ होता -
पूर्व के बरफ़ीले मैदानों में अगर मैं तुम्हारे साथ होता
फ़ौलादी रथों के बीच खड़ा तुम हज़ारों में से एक होता
तो तुम्हारी तरह मैं भी कहता : अवश्य
घर की ओर जाने की कोई राह तो होगी।

पर बंधुओ, मेरे प्यारे बंधुओ
फ़ौलादी टोपी के नीचे, मेरी खोपड़ी में
मुझे यह इल्म है, जैसे तुम्हें है : ऐसी
कोई राह अब नहीं है जो घर की ओर जाती हो।

स्कूल के बच्चों की एटलस के नक्शे में
स्मोलेंस्क जाने वाली सड़क बड़ी नहीं है
फ़्यूरर की छोटी अँगुली से, लेकिन बर्फ़ीले मैदानों में
यह बहुत लंबी है, बहुत ही लंबी है।

हाँ यह बर्फ़ तो हमेशा नहीं रहेगी, केवल वसंत आने तक है ये
लेकिन मनुष्य भी तो हमेशा नहीं रहेंगे और वसंत आने में तो अभी
बहुत वक्त लगेगा।
सो मैं जानता हूँ, मुझे मरना ही है।
डाकू के लिबास में मुझे मरना है
मुझे मरना है ख़ूनी आगज़नी करने वाले के कुर्ते में।
मुझे मरना है उन अनेक उन हज़ारों की तरह
डाकुओं की तरह ढूँढ कर, शिकार हो के,
आगज़नी करने वालों की तरह क़त्ल होके।

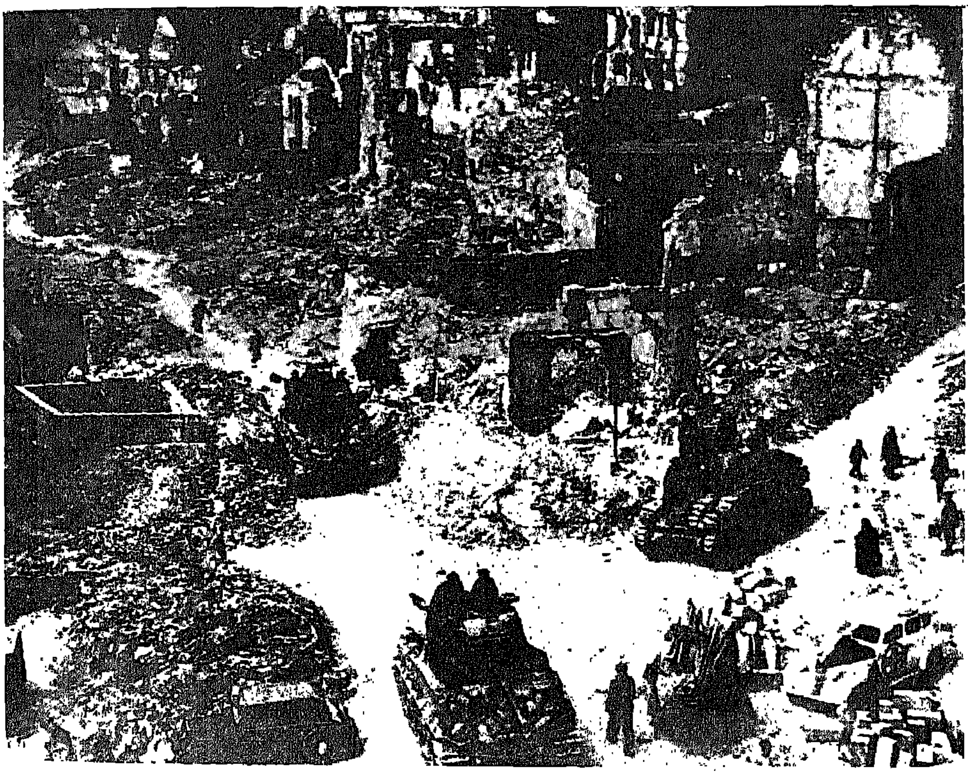
II बंधुओ, मैं अगर तुम्हारे साथ होता
बर्फ़ीले बियाबानों में तुम्हारे साथ लुढ़कता, घिसटा चल रहा होता
मैं भी पूछता, जैसे तुम पूछ रहे हो : क्यों
मैं यहाँ आया ही क्यों ? यहा जहां से
घर की ओर जाने वाली कोई भी राह नहीं बची है ?

मैंने डाकुओं का लिबास क्यों ओढ़ा ?
क्यों पहना मैंने आगज़नी करने वालों का कुर्ता ?
नहीं, भूख मिटाने के लिए नहीं
नहीं, किसी की हत्या करने की इच्छा से नहीं।
सिर्फ़ इसलिए कि मैं था एक नौकर जिसे हुक्म दिया गया
कि मैं क़त्ल, ग़ारत और आगज़नी की मुहिम पर निकलूं
और अब मुझे अवश्य ही शिकार होना है
और अब मुझे अवश्य की क़त्ल होना है।

[जर्मन कवि और नाटककार
बर्टोल्ट ब्रेख़्ट की एक कविता का अंश]
फ़्यूरर-नेता के लिए जर्मन शब्द-नाज़ी जर्मनी में
हिटलर के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता था।

सरकार बनाई, उसके बाद इटली में कई महीनों तक लड़ाई चलती रही। लेकिन जून 1944 तक मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ रोम सहित कई इतालवी नगरों को मुक्त करा चुकी थीं। इस बीच फ़ासीवाद-विरोधी इतालवी सेना ने अपनी मुहिम तेज़ कर दी थी। 23 अप्रैल 1945 को इटली के उन इलाकों में एक विद्रोह हुआ जो अब भी फ़ासीवादियों के नियंत्रण में थे। 28 अप्रैल 1945 को मुसोलिनी को, जिसे गिरफ़्तार कर लिया गया था, मृत्यु दंड दे दिया गया, और इटली में मौजूद जर्मनों ने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके साथ ही इटली में फ़ासीवाद समाप्त हो गया।

1945 के जनवरी महीने के आरंभ से ही लगने लगा था कि जर्मनी का पतन निकट है। जनवरी 1945 में आरंभ होने वाले सोवियत हमलों ने पूर्व में जर्मनी की प्रतिरोध शक्ति के तार-तार कर दिए। 17 जनवरी को वारसा को मुक्त करा लिया गया, 13 फरवरी को बुडापेस्ट को और 13 अप्रैल को विएना को। अब सोवियत सेना ने जर्मनी में प्रवेश किया और 25 अप्रैल तक बर्लिन पर घेरा डाला जा चुका था। इस बीच मित्र सेनाओं ने पश्चिम मोर्चे में हमले शुरू कर दिए थे और अप्रैल के मध्य तक वे पश्चिमी जर्मनी के काफ़ी बड़े हिस्सों पर काबिज़ हो चुकी थीं। 30 अप्रैल 1945 को हिटलर ने आत्महत्या कर ली। उसी दिन सोवियत सेना ने राइक्सटाग भवन पर लाल झंडा फहरा दिया। बर्लिन में अगल दो दिनों तक कुछ छिट-पुछ झड़पें होती रहीं। 7 मई 1945 ई. को जर्मनी ने संयुक्त राज्य, ब्रिटेन, फ़्रांस और सोवियत संघ के प्रतिनिधियों के सामने जनरल आइज़नहॉवर के राइम्स स्थित



न्यूरंबर्ग, जर्मनी, में अमरीकी फ़ौजें, 20 अप्रैल 1945

मुख्यालय में बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। 8 मई 1945 को जर्मनी ने बर्लिन स्थित सोवियत मुख्यालय में दूसरा आत्मसमर्पण किया। 11 मई को चेकोस्लोवाकिया को आज़ाद करा लिया गया और इसी के साथ यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया।

जापान का आत्मसमर्पण

लेकिन एशिया और प्रशांत क्षेत्र में जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद भी युद्ध चलता रहा। मित्र राष्ट्रों ने 1944 में इस क्षेत्र में जीतें तो हासिल की थीं, लेकिन चीन के मंचूरिया, कोरिया तथा कुछ अन्य क्षेत्रों में जापान के पैर अब भी मज़बूती से जमे हुए थे। वहाँ उसकी विशाल सेना मोर्चे पर डटी हुई थी। संयुक्त राज्य के एक विमान ने 6 अगस्त 1945 को हिरोशिमा पर और 9 अगस्त को नागासाकी पर परमाणु बम गिराया। इन बमों से दोनों नगरों में 3,20,000 से अधिक लोग मारे गए। जापान ने 15 अगस्त को हथियार डाल दिए। 8 अगस्त को सोवियत संघ ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। अगस्त के अंत तक जापानी सेना मंचूरिया में सोवियत संघ की सेना के समक्ष, दक्षिण पूर्व एशिया में ब्रिटिश सेना के आगे और चीन में च्यांग काई-शेक तथा चीनी साम्यवादियों की सेनाओं के सामने आत्मसमर्पण कर चुकी थी। 2 सितंबर 1945 को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया और इसके साथ ही द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हो गया।



संयुक्त राज्य अमरीकी जहाज़ *मिसूरी* पर आत्मसमर्पण के लिए जापानी प्रतिनिधि मंडल

फ़ासीवादी बर्बरता

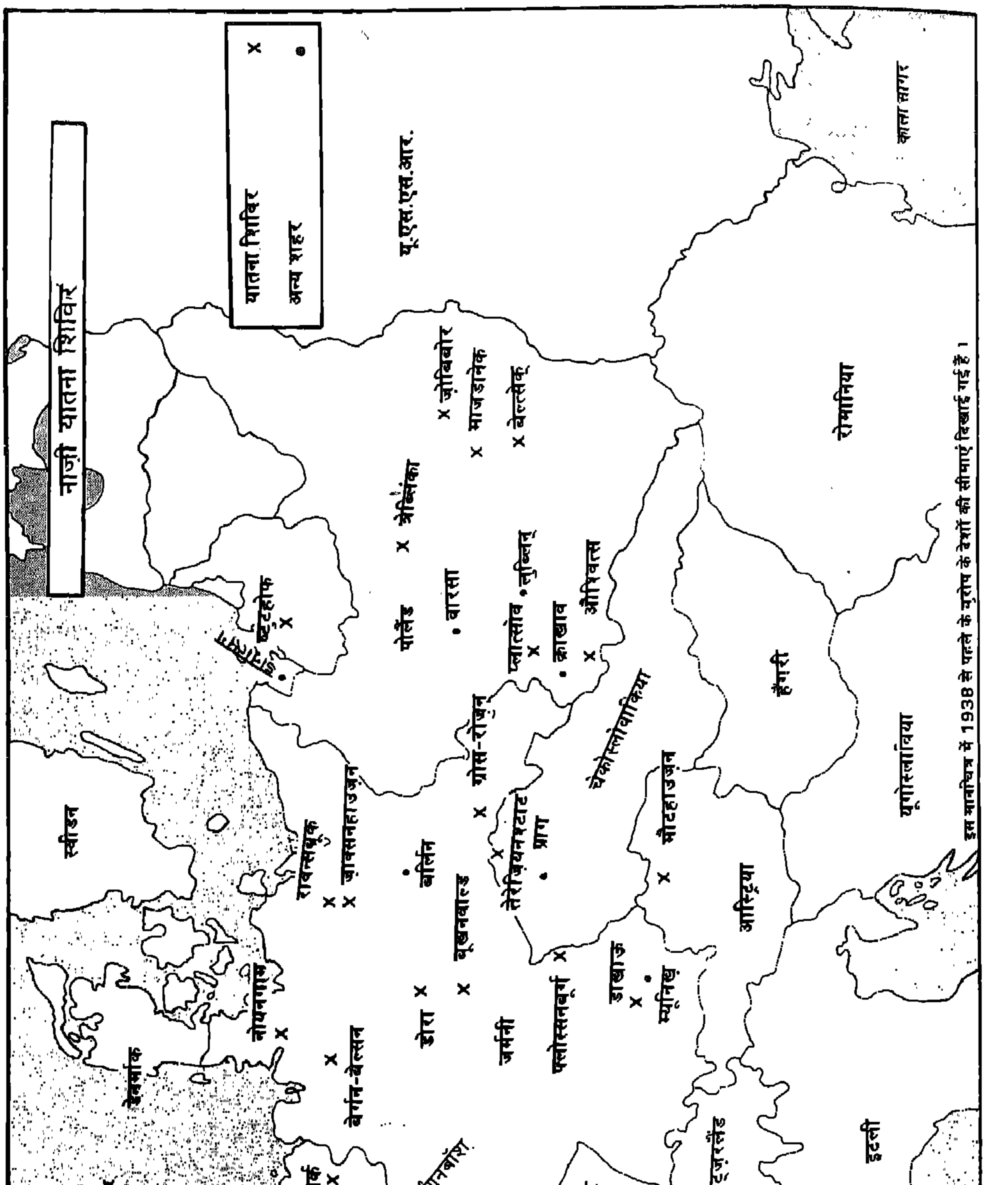
फ़ासीवादी हमलों और कब्ज़ों के साथ-साथ जघन्यतम कोटि की बर्बरता भी चलती रही। इटली, जर्मनी तथा जापान-इन तीनों धुरी शक्तियों द्वारा स्थापित प्रणाली को "फ़ासीवाद" कहा गया है। इनमें हर एक के अपने अपने अलग रूप थे। इन तीनों में से फ़ासीवाद का जर्मन रूप, अर्थात् नाज़ीवाद सबसे अधिक नृशंसतापूर्ण था। नस्ली शुद्धता तथा "आर्य" नस्ल की सर्वोच्चता के सिद्धांतों में विश्वास करने वाले नाज़ी शेष मानवता के अधिकतर हिस्से को हीनतर मानते थे। उनकी दृष्टि में इन लोगों को जीने का कोई हक नहीं था। और जीना ही था तो ग़ुलामों की तरह। उन्होंने यूरोप को दास-शिविर या मृत्यु-शिविर में बदल डालने की कोशिश की। इन्हीं देशों की आक्रामक कार्रवाइयों के कारण द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ा, जो इतिहास का सबसे अधिक विनाशकारी युद्ध था। युद्ध का अंत फ़ासीवाद विरोधी गठबंधन की विजय के रूप में हुआ। इस गठबंधन के प्रमुख सदस्य ब्रिटेन, संयुक्त राज्य तथा सोवियत संघ थे। इसके अलावा इनके मित्र देश भी इसमें शामिल थे। यह गठबंधन फ़ासीवादी शक्तियों की पराजय का मूलाधार और आवश्यक शर्त थी। इसके अतिरिक्त फ़ासीवादी शक्तियों द्वारा आक्रांत और अधिकृत प्रत्येक देशों में और स्वयं फ़ासीवादी देशों में भी जन-प्रतिरोध के आंदोलन खड़े हुए जिन्होंने फ़ासीवादी शक्तियों के पराभव में एक महत्वपूर्ण बल्कि कुछ मामलों में तो निर्णायक भूमिका निभाई।

नाज़ी बर्बरता की शुरूआत खुद जर्मनी में हुई थी। देश में यातना शिविर स्थापित किए गए और फ़ासीवाद-विरोधियों तथा यहूदियों को उनके हवाले कर दिया गया। इनमें से बहुतों को मौत के घाट उतार दिया गया। 1939 में एक आदेश जारी किया गया कि "दीर्घकाल से विक्षिप्त तथा लाइलाज लोगों को" ख़त्म कर दिया जाए। इसके एक साल के अंदर 70,000 लोगों को मार डाला गया। लेकिन असली विनाश लीला सोवियत संघ पर आक्रमण के साथ आरंभ हुई।

यूरोप के जिन हिस्सों पर फ़ासीवादी शक्तियाँ काबिज़ हो गई थीं उनकी नागरिक आबादी के एक बड़े हिस्से को या तो ख़त्म कर दिया गया या उनका उपयोग दास-श्रमिकों के रूप में किया गया। यहूदियों को ख़ास तौर से लक्ष्य बनाया गया। केवल 1941 में ही सोवियत संघ में दस लाख लोग मार दिए गए। इनमें से आधे यहूदी थे। नाज़ियों ने पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, हॉलैंड, फ्रांस और जर्मनी में यातना शिविर स्थापित किए। इनमें पोलैंड के औशवित्स (आसविसियम), बेलत्सेक् और त्रेब्लिंका तथा जर्मनी के डाख़ाऊ, बेर्गन-बेल्सन और बूख़नवाल्ड के यातना शिविर भी शामिल थे। यूरोप भर के लाखों लोग इन शिविरों में लाए गए। इनमें से कुछ तो विशुद्ध रूप से मृत्यु शिविर थे। जुलाई 1941 में यहूदियों की समस्या के "अंतिम निबटारे" पर एक आदेश जारी किया गया। इसका मतलब था "पूर्वी प्रदेशों में यहूदी जाति का समूल नाश"।

इन शिविरों के संबंध में पूरे तथ्य तब सामने आए जब मित्र सेनाओं ने उन क्षेत्रों को मुक्त कराया जिनमें ये शिविर स्थित थे तथा युद्ध अपराध के लिए न्यूरंबर्ग का मुकदमा आरंभ हुआ। आरंभ में लोगों को गोलियों से उड़ा दिया जाता था। लेकिन नाज़ियों को लगा कि यह तरीका ख़र्चीला और झंझट भरा है। तब मनुष्यों के संहार के लिए उन्होंने जघन्य और नायाब उपाय निकाला। एक कीटाणु नियंत्रक फ़र्म, जो जर्मन कंपनी आई.जी. फारबेन की सहायिका थी, एक गैस का उत्पादन करती थी। 1942 से नर-संहार के लिए इसी गैस का इस्तेमाल किया जाने लगा। इसका उपयोग 17 मार्च 1942 को पोलैंड स्थित बेलत्सेक् मृत्यु शिविर में आरंभ हुआ जहाँ 15,000 लोगों को एक दिन में मारा जा सकता था। लोगों को तहख़ानों में ले जाया जाता था और उन्हें बताया यह जाता था कि ये स्नान-घर है। दरअसल ये तहख़ाने गैस के कक्ष थे जिनमें से प्रत्येक पर धातु का बना गैस-निरोधी दरवाज़ा लगा रहता था। लोगों को तहख़ानों में भेजकर गैस के कण अंदर डाल दिए जाते थे। पचीस मिनट बाद एक्झास्ट पंपों के ज़रिए गैस-भरी हवा निकाल कर धातु का दरवाज़ा खोल दिया जाता था। मृतकों के सोने के दाँत निकालकर और बाल उखाड़कर लाशों के ढेर को भट्टियों में झोंक दिया जाता था। सारी लाशें जलकर राख हो जाती थीं। राख को पास की नदी नालों में बहा दिया जाता था।

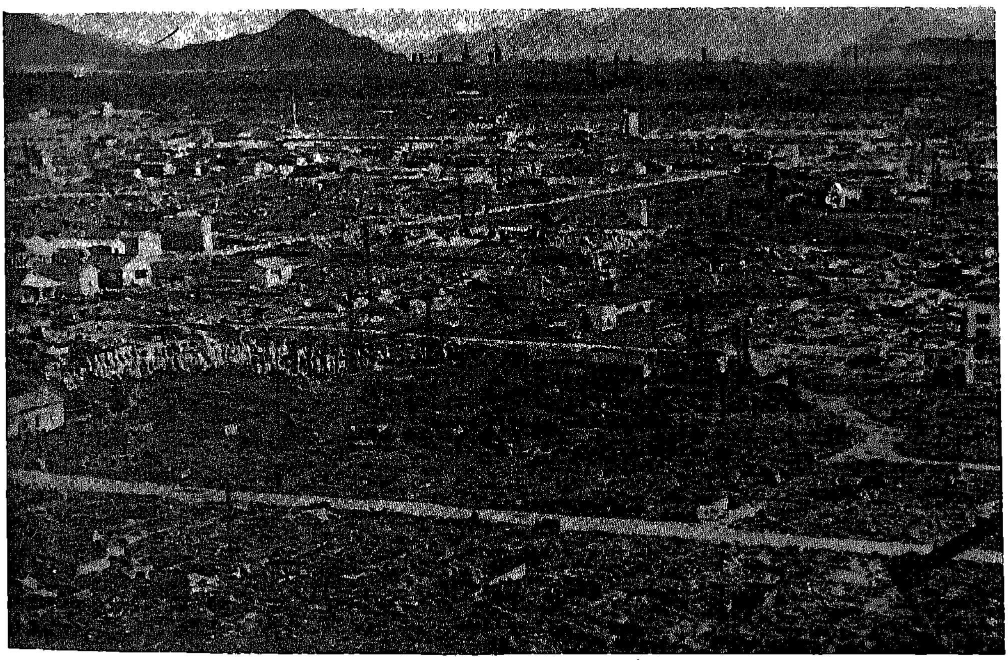
लोगों को सीधे मार डालने की बजाय नाज़ी लोग आम तौर पर जर्मन उद्योगपतियों को उनसे भरपूर काम लेने देते


नाज़ी यातना शिविर
यातना शिविर X
अन्य शहर •
यू.एस.एस.आर.
काला सागर
रोमानिया
हंगरी
यूगोस्लाविया
इटली
आस्ट्रिया
स्विट्ज़रलैंड
फ्रांस
नात्सवायलर
बेल्जियम
नीदरलैंड्स
हर्ज़ोगनबॉश
वेस्टरबोर्क
डेनमार्क
स्वीडन
बेर्गन-बेल्सन
नोयनगामे
डोरा
बूख़नवाल्ड
जर्मनी
फ्लोस्सनबुर्ग
डाखाउ
म्यूनिख़
माउटहाउज़न
चेकोस्लोवाकिया
प्राग
तेरेज़िएनश्टाट
ग्रोस-रोज़न
बर्लिन
रावन्सब्रूक
ज़ाक्सनहाउज़न
श्टुटहोफ
पोलैंड
वारसा
ट्रेब्लिंका
सोबिबोर
माजडानेक
बेल्ज़ेक
ल्युब्लिन
प्लाशोव
क्राकाव
औश्वित्स
इस मानचित्र में 1938 से पहले के यूरोप के देशों की सीमाएं दिखाई गई हैं।

थे। इन शिविरों में रहनेवाले लोगों को क्रूप्स, आई. जी. फ़ारबेन, सीमेंस आदि औद्योगिक संस्थानों को पट्टे पर दे दिया जाता था। इनमें से कुछ संस्थानों ने तो इन शिविरों के पास ही अपनी औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित कर ली थीं। जब रेल-गाड़ियाँ इन लोगों को लेकर पहुँचतीं तो स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों तथा बीमारों को सीधे मृत्यु शिविरों में पहुँचा दिया जाता था और स्वस्थ पुरुषों को काम की जगहों पर ले जाया जाता था। कुछ लोग तो खटते-खटते ही मर जाते थे। जो बीमार पड़ जाते थे उन्हें हर सुबह मृत्यु शिविरों में भेज दिया जाता था। कुछ औद्योगिक संस्थान मनुष्य के चमड़े से सामान भी बनाते थे।

गैस चैंबरों में ख़त्म किए जाने के अलावा इन शिविरों के कुछेक निवासियों का उपयोग नाज़ी डाक्टर जीव वैज्ञानिक, प्रयोगों के लिए भी करते थे। इन लोगों में तरह-तरह की बीमारियाँ पैदा करके उनके टीके निकालने की कोशिश की जाती थी। कुछ लोगों को धीरे-धीरे बर्फ़ में ठंडा करके मारा जाता था और इस क्रम में उनमें जो जीव वैज्ञानिक परिवर्तन आते थे, उनका अध्ययन किया जाता था। इन प्रयोगों का वर्णन करते हुए आदमी काँप उठता है। हाल में जापानियों द्वारा भी ऐसे ही प्रयोग किए जाने के बारे में जानकारी सामने आई है।

नाज़ियों द्वारा मारे गए नागरिक आबादी के लोगों की कुल संख्या एक करोड़ से ऊपर होने का अनुमान है। कुछ अवसरों पर तो कत्ले आम का तरीका भी अपनाया जाता था। उदाहरण के लिए चेकोस्लोवाकिया ने नाज़ी गवर्नर हेड्रिख़ की हत्या के प्रतिरोध में वहाँ के लिडिस नामक गाँव की पूरी की पूरी आबादी को मौत के घाट उतार दिया गया। इसके अलावा अन्य नृशंसताएँ भी बरती जाती थीं, लेकिन सबसे ज़्यादा भयावह मृत्यु शिविरों में मचाया गया योजनाबद्ध नरसंहार ही था। अनुमान है कि औशवित्स शिविर में चालीस लाख लोग मारे गए। मारे गए लोगों में आधे से ज़्यादा लोग यहूदी थे। लगभग साठ लाख यहूदी, यानी यूरोप में कुल यहूदी आबादी का पचहत्तर प्रतिशत ख़त्म कर दिया गया। यहूदियों की इस सामूहिक हत्या को विनाशलीला (हॉलोकॉस्ट) कहते



अणुबम गिराए जाने के बाद हिरोशिमा

हैं। दासों की तरह श्रम करने और ख़त्म कर दिए जाने के लिए शिविरों में लाए जानेवाले लाखों यूरोपीयों के अलावा यूरोप के विभिन्न भागों से 75 लाख लोग जर्मन कारख़ानों में गुलाम मज़दूरों के रूप में काम करने के लिए लाए गए थे। इनमें लगभग 20 लाख युद्ध-बंदी भी शामिल थे।

मित्र राष्ट्रों के हवाई हमले और परमाणु बमों का उपयोग

द्वितीय विश्व युद्ध के हवाई हमलों में कोई 15 लाख नागरिक मारे गए। यद्यपि नागरिक आबादी पर हवाई हमलों की शुरूआत जर्मनी ने की तथापि मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ भी इसमें पीछे नहीं रहीं। अंग्रेज़ों ने 13–14 फ़रवरी 1945 को जर्मन शहर ड्रेसडेन पर साढ़े छह लाख से अधिक बम गिराए। इस बमबारी में लगभग 1 लाख 35 हज़ार लोग मारे गए। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, संयुक्त राज्य द्वारा गिराए गए दो परमाणु बमों से 3 लाख 20 हज़ार जापानी स्त्री, पुरुष और बच्चे मारे गए।

संयुक्त राज्य द्वारा परमाणु बमों के उपयोग को बहुत लोग घृणित कृत्य मानते हैं – यह केवल मारे गए लोगों की संख्या की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि स्वयं सामूहिक विनाश के इस नए अस्त्र के प्रयोग के नज़रिए से भी। इसके पक्ष में यह दलील दी जाती है कि यदि इन बमों का उपयोग न किया जाता तो जापान के साथ लड़ाई बहुत लंबी खिंचती, जिसमें दोनों ओर के और ज़्यादा लोग मारे जाते। लेकिन बहुत-से विद्वान इस दलीन को स्वीकार नहीं करते। उनके मुताबिक, जर्मनी की हार के बाद जापान का लड़ाई को बहुत देर तक चलाना मुमकिन नहीं था। उस समय सोवियत संघ भी जापान के ख़िलाफ़ लड़ाई में दाख़िल होने वाला था। युद्ध के दौरान परमाणु बम का आविष्कार संयुक्त राज्य में कई देशों के वैज्ञानिकों के संयुक्त प्रयत्न से किया गया। संयुक्त राज्य तथा अन्य देशों के वैज्ञानिकों ने इस परियोजना पर इस भय से काम किया था कि इस अस्त्र का आविष्कार औरों से पहले करके जर्मनी इसका उपयोग दुनिया को आतंकित करके उसे नाज़ी सत्ता का दास बनाने के लिए कर सकता है। लेकिन यूरोप की लड़ाई के ख़त्म होने के बाद यह स्पष्ट हो गया था कि अन्य किसी भी देश में यह अस्त्र विकसित करने में कोई ख़ास प्रगति नहीं की गई थी। कुछ विद्वानों की राय है कि उन दिनों इन अस्त्रों से लैस एकमात्र शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य ने इनका प्रयोग युद्धोत्तर दुनिया में अपनी सैनिक सर्वोच्चता की धाक जमाने के लिए किया।

सोवियत संघ को, जिसके नागरिक और सैनिक सबसे बड़ी संख्या में हताहत हुए 1940 में 10,000 पोल सैनिकों को मारकर उन्हें काटीन के क्षेत्र में सामूहिक रूप से दफ़ना देने का दोषी माना जाता है।

प्रतिरोध आंदोलन

ऊपर बताया जा चुका है कि फ़ासीवादी देशों ने जिन अन्य देशों पर आक्रमण करके उन पर अधिकार कर लिया था उन सबमें तथा स्वयं फ़ासीवादी देशों के अंदर भी जन-प्रतिरोध के आंदोलनों ने जड़ें जमाईं। ख़ास तौर से सोवियत संघ और बाद में संयुक्त राज्य के युद्ध में शामिल होने के उपरांत इन आंदोलनों ने ज़ोर पकड़ा और अपनी गतिविधियाँ तेज़ कर दीं। फ़ासीवाद-विरोधी गठबंधन कायम होने से फ़ासीवाद-विरोधी शक्तियों के एकजुट होने का मार्ग प्रशस्त हुआ। ऐसा उन देशों में तो हुआ ही जिन पर फ़ासीवादियों ने कब्ज़ा कर लिया था, साथ ही स्वयं फ़ासीवादी देशों में भी प्रतिरोध में प्रबलता आई।

चेकोस्लोवाकिया

जब नाज़ी सेना ने चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश करके स्लोवाकिया में एक कठपुतली सरकार स्थापित की उस समय उस देश के कई नेता वहाँ से बच निकले थे। 1940 में एडुअर्ड बेनेस के नेतृत्व में चेकोस्लोवाकिया की एक प्रवासी सरकार स्थापित की गई। चेकोस्लोवाक प्रतिरोध आंदोलन में साम्यवादी, समाजवादी लोकतंत्रवादी तथा अन्य कई दल और गुट शामिल थे। ये सब पूरे युद्ध के दौरान जर्मनों के ख़िलाफ़ छापामार लड़ाई चलाते रहे। नाज़ी गवर्नर की हत्या का उल्लेख हम कर चुके हैं। अगस्त 1944 में स्लोवाकिया में एक विद्रोह संगठित किया गया जिसमें कठपुतली सरकार के सैनिक भी शामिल हो गए। 5 मई 1945 को प्राहा (प्राग) में हुए विद्रोह

के फलस्वरूप चेकोस्लोवाकिया पर जर्मन कब्ज़ा पूरी तरह से ख़त्म हो गया।

पोलैंड

द्वितीय विश्व युद्ध की शुरूआत पोलैंड पर आक्रमण से हुई थी। इस युद्ध में उसे सबसे अधिक नुकसान उठाना पड़ा था। लगभग 65 लाख पोल अर्थात् पोलैंड की कुल आबादी के लगभग 20 प्रतिशत लोग युद्ध में मारे गए। इनमें से लगभग आधे यहूदी थे। जर्मन आक्रमण के आरंभ से ही वहाँ एक शक्तिशाली प्रतिरोध आंदोलन उभरने लगा था। पोल लोगों की एक प्रवासी सरकार का गठन किया गया जिसका नेता जनरल सिकोर्स्की था। पहले इसका मुख्यालय फ़्रांस में था और बाद में लंदन ले जाया गया। इस प्रवासी सरकार से पोलों के प्रतिरोध को बराबर मार्गदर्शन मिलता रहा। 1942 में पोलैंड के साम्यवादियों ने अपना अलग प्रतिरोध संगठन खड़ा कर लिया और वे जर्मनों के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने लगे। दोनों संगठनों की दृष्टियाँ हर मामले में एक जैसी नहीं होती थीं। पोलैंड की प्रवासी सरकार का आग्रह था कि पोलैंड की युद्ध-पूर्व की सीमाओं को स्वीकार किया जाए। इन सीमाओं में कुछ ऐसे प्रदेश भी आ जाते थे जिन पर सोवियत संघ का दावा था। इस बात को लेकर सोवियत संघ और पोलैंड की प्रवासी सरकार के संबंध में बिगाड़ आ गया। इसके कुछ दुखद परिणाम हुए। 1 अगस्त 1944 को वार्सा में एक भारी विद्रोह हुआ। अब तक सोवियत सेना पोलैंड के कई हिस्सों को मुक्त करा चुकी थी। लेकिन विद्रोह के संयोजकों ने, जो प्रवासी सरकार के समर्थक थे और स्पष्ट ही चाहते थे कि मुक्त कराया गया वार्सा उसी सरकार को सौंपा जाए, अपनी विद्राह योजना का तालमेल सोवियत सेना के साथ बैठाने की कोई कोशिश नहीं की। वार्सा की जनता जर्मन सेना के ख़िलाफ़ बहुत बहादुरी से लड़ी लेकिन उसे बाहर से कोई मदद नहीं मिली। फलत: इस विद्रोह को निष्ठुरतापूर्वक दबा दिया गया। लगभग ढाई लाख पोल इस विद्रोह में मौत के घाट उतार दिए गए।

यूगोस्लाविया

यूगोस्लाविया में फ़ासीवादी कब्ज़े और उसके स्थानीय समर्थकों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध का नेतृत्व साम्यवादी दल ने किया जिसका नेता जोसिप ब्रोज़ टीटो था। प्रतिरोध में शामिल विभिन्न समूहों को मिलाकर जनमुक्ति सेना (पीपुल्स लिबरेशन आर्मी) खड़ी की गई। इस सेना में शामिल लोगों ने कई विद्रोह संगठित किए जिनके फलस्वरूप 1944 तक यूगोस्लाविया के कई हिस्से मुक्त हो गए। एक प्रवासी सरकार यूगोस्लाविया की भी थी लेकिन स्वदेश से उसे कोई समर्थन नहीं मिल रहा था। अत: देश में टीटो के नेतृत्व में एक सरकार स्थापित की गई।

फ़्रांस

हम देख चुके हैं कि जर्मनी ने फ़्रांस पर हमला किया तो फ़्रांसीसी सरकार ने हथियार डाल दिए। जनरल डिगॉल ने स्वतंत्र फ़्रांस आंदोलन का गठन किया जिसका मुख्यालय लंदन में था। जुलाई 1942 में फ़्रांसीसी साम्यवादियों की पहल पर एक राष्ट्रीय मोर्चा गठित किया गया जिससे फ़्रांस की सभी फ़ासीवाद-विरोधी ताकतें एक मंच पर आ गई। फ़्रांसीसी प्रतिरोध एक शक्तिशाली आंदोलन बन गया और 1944 के आरंभ में उसने फ़्रांस के आंतरिक सैन्य बल (फ़्रैंच फोर्सेज़ आफ़ द इंटिरियर) का गठन किया जिसके 5 लाख सदस्य थे। प्रतिरोध मोर्चे के सदस्यों ने जर्मनों तथा उनके फ़्रांसीसी सहयोगियों के ख़िलाफ़ तोड़-फोड़ की हज़ारों कार्रवाइयाँ कीं। मित्र राष्ट्रों की सेनाओं के फ़्रांस में उतरने में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और खुद अपनी सेना के बल पर फ़्रांस के कई हिस्सों को जर्मन कब्ज़े से मुक्त कराया। जनरल डिगॉल के नेतृत्व में एक कामचलाऊ सरकार की स्थापित कर ली गई थी जिसमें साम्यवादियों सहित फ़्रांस की कई फ़ासीवाद - विरोधी ताकतों का प्रतिनिधित्व था। 19 और 20 अगस्त 1944 को फ़्रांसीसी प्रतिरोध मोर्चे ने पेरिस में एक विद्रोह का संगठन किया और जर्मन कमांडर ने हिटलर के पेरिस नगर को बर्बाद कर देने के हुक्म की अनसुनी करके प्रतिरोध मोर्चे के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। इसके शीघ्र बाद डिगॉल के नेतृत्व में कामचलाऊ सरकार ने पेरिस में प्रवेश किया।

सोवियत संघ

यदि युद्ध में मारे गए लोगों की दृष्टि से देखा जाए तो सबसे अधिक नुकसान सोवियत संघ को उठाना पड़ा। अनुमान है, जर्मन सेना द्वारा बंदी बनाए गए और मारे गए लाल सेना के लोगों की संख्या चालीस लाख थी। इसके अलावा नागरिक आबादी के 60 लाख लोगों को जर्मनों ने मौत के घाट उतार दिया। इनमें से साढ़े सात लाख यहूदी थे। सोवियत अनुमान के अनुसार युद्ध में मारे गए लोगों की संख्या लगभग दो करोड़ थी, यानी कुल आबादी का 10 प्रतिशत। कुछ पाश्चात्य इतिहासकारों का विचार है कि स्टालिन के शासन के ख़िलाफ़ सोवियत संघ में व्यापक असंतोष था और कम-से-कम देश के कुछ हिस्सों में उसके शासन से मुक्ति पाने की आशा से जर्मन हमले का स्वागत किया गया होता। लेकिन युद्ध के आरंभिक दौर में ही सोवियत जनता पर जर्मन सेना ने जो कहर बरपा किया उससे उन्हें इस बात का भान हो गया होगा कि हिटलर उनकी क्या दुर्दशा करने वाला था। इस तरह जर्मन नृशंसता ने सोवियत जनों को एकजुट कर दिया और उन्होंने आक्रमणकारियों के ख़िलाफ़ सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रभावकारी प्रतिरोध मोर्चा खड़ा किया। जर्मन सेना के कब्ज़े में जाने वाले सोवियत संघ के हर हिस्से में बड़े पैमाने पर छापामार लड़ाइयों का सिलसिला चल पड़ा। सोवियत सेना के साथ पूरा तालमेल बैठाकर चलाई जाने वाली छापामार लड़ाइयों ने सोवियत संघ में जर्मनों की घोर पराजय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। दस लाख से ज़्यादा लोगों ने सोवियत प्रदेशों में जर्मनों के ख़िलाफ़ छापामार लड़ाइयों में हिस्सा लिया।

यूनान

यूनान पर 1940 ई. में इतालवियों ने आक्रमण किया था जिससे उन्हें गहरी शिकस्त मिली थी। उसके बाद उस देश पर जर्मन सेना ने कब्ज़ा कर लिया था। यूनानी राजा और यूनानी सरकार ने कैरो में शरण ली। जर्मनी के ख़िलाफ़ प्रतिरोध का नेतृत्व यूनानी साम्यवादियों ने किया। उन्होंने एक राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (नेशनल लिबरेशन फ्रंट) और एक राष्ट्रीय जनमुक्ति सेना (नेशनल पॉप्युलर लिबरेशन आर्मी) खड़ी कर ली। विभिन्न फ़ासीवादी समूहों को एकजुट किया गया और यूनान के कई हिस्सों को मुक्त करा लिया गया। लेकिन शीघ्र ही प्रवासी यूनानी सरकार और प्रतिरोध मोर्चे के बीच अनबन हो गई। 1944 के उत्तरार्द्ध में इस मोर्चे द्वारा फ़ासीवादियों से यूनान के मुक्त करा लेने के बाद प्रवासी सरकार ने ब्रिटिश सेना की सहायता से वहाँ सत्ता प्राप्त करने की कोशिश की। फलतः वहाँ गृह-युद्ध आरंभ हो गया जो द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद भी कुछ समय तक चलता रहा।

इटली

फ़ासीवाद ने पहली विजय इटली में प्राप्त की थी लेकिन उसने फ़ासीवादी चंगुल से आज़ाद कराने में प्रमुख भूमिका वहाँ के प्रतिरोध आंदोलन ने ही निभाई। इतालवी फ़ासीवादियों को क्या यूरोप और क्या अफ्रीका-सर्वत्र अपने सैनिक अभियानों में पराजय का मुँह देखना पड़ा था। 1942 में इटली के साम्यवादी तथा समाजवादी फ़ासीवाद को उखाड़ फेंकने के लिए एकजुट हो गए थे। मुसोलिनी के सत्ताच्युत किए जाने और उत्तरी इटली पर जर्मनी के काबिज़ हो जाने के बाद देश के इस हिस्से में एक ज़बरदस्त प्रतिरोध आंदोलन उभरा। इतालवी प्रतिरोध में पामीरो तोलियाती के नेतृत्व में वहाँ के साम्यवादियों की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय रही। जर्मन कब्ज़े और इतालवी फ़ासीवाद पर अंतिम प्रहार अप्रैल 1945 में इतालवी प्रतिरोध मोर्चे ने ही किया। उसने जेनोआ, मिलान और त्यूरिन को मुक्त करा लिया और मुसोलिनी को गिरफ़्तार करके गोली मार दी गई।

जर्मनी

युद्ध आरंभ होने के बहुत पहल ही जर्मनी में समस्त विरोधों और असहमतियों का मुँह बेरहमी के साथ बंद कर दिया गया था। जो नाज़ी विरोधी जर्मन बच निकले थे उन्होंने अपना प्रचार आरंभ रखा और नाज़ी शासन तथा उसके आक्रामक मंसूबों के ख़िलाफ़ विश्व लोकमत को लामबंद करने में सहायता

दी। जर्मनी के मूर्धन्य साहित्यकारों, जिनकी रचनाओं की नाज़ियों ने होलियाँ जलाईं तथा जर्मन साम्यवादियों ने इसमें प्रमुख भूमिका निभाई। नाज़ीवाद विरोधी जर्मन लोग स्पेन के गृह युद्ध में गणतंत्र की ओर से लड़े थे। युद्ध के दौरान नाज़ीवाद विरोधी जर्मनों की छोटी-मोटी मंडलियों ने जर्मनी के अंदर कुछ तोड़-फोड़ की कार्रवाइयाँ करने में कामयाबी हासिल की। स्वदेश छोड़कर भागे जर्मनों तथा कुछ जर्मन युद्धबंदियों द्वारा स्थापित स्वतंत्र जर्मन राष्ट्रीय समिति (फ़्री जर्मन नेशनल कमेटी) ने जर्मनी के अंदर और बाहर नाज़ी विरोधी प्रचार अभियान चलाया। 1944 में कुछ जर्मन सेनाधिकारियों ने, जिन्हें कि विश्वास हो गया था कि हिटलर देश को विनाश के मार्ग पर ले जा रहा है, उसकी हत्या करने का षड्यंत्र रचा। 20 जुलाई 1944 ई. को कर्नल क्लास शेंक फ़ॉन स्टॉफ़नबर्ग ने हिटलर के रास्टेनबर्ग स्थित उस मुख्यालय में एक बम लगा दिया जहाँ से वह पूर्वी मोर्चे के युद्ध का संचालन कर रहा था। बम तो फटा, लेकिन हिटलर जहाँ बैठता था बम उसके काफी पास नहीं लगाया गया था। इस प्रकार हिटलर को मामूली चोट आई और वह बच गया। स्टॉफ़नबर्ग तथा अन्य षड्यंत्रकारियों को गिरफ्तार करके गोली से उड़ा दिया गया। इस षड्यंत्र में जर्मन सेना का परम यशस्वी सेनापति रोमेल भी शामिल था जिसने उत्तर अफ्रीका में जर्मन सेना का नेतृत्व किया था। उसे गोली मारने की बजाय आत्महत्या करके अपना अंत कर लेने की इजाज़त दी गई।

एशियाई देश

जापानी शासन के अधीन आनेवाले सभी एशियाई देशों में प्रतिरोध आंदोलन खड़े हुए। इनमें से सबसे प्रबल था चीन का प्रतिरोध युद्ध जो द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ होने से पहले से ही चल रहा था। ऊपर हमने सिय़ान की जिस घटना का उल्लेख किया है उसके बाद साम्यवादियों तथा गोमिंदांग ने आपसी कलह के मुकाबले जापानियों के प्रतिरोध को तरजीह देना शुरू कर दिया था, यद्यपि दोनों पक्ष इस प्रयत्न में मन से कभी साथ नहीं हुए। अन्य देशों में, जहाँ ब्रिटिश, डच या फ़्रांसीसी शासन का स्थान जापानी हुकूमत ने ले लिया था, पहले से ही सक्रिय उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलनों ने जापानी कब्ज़े के ख़िलाफ़ सशस्त्र प्रतिरोध का संगठन किया। जापानी कब्ज़े के ख़िलाफ़ सशस्त्र प्रतिरोध में तीव्रता आने का कारण इन देशों में जापानियों द्वारा किया गया अत्याचार भी था। फिलिपाइंस, हिंद-चीन (इंडोचाइना), इंडोनेशिया, बर्मा, मलाया आदि लगभग सभी एशियाई देशों में जापानियों के ख़िलाफ़ चलनेवाले प्रतिरोध में साम्यवादियों ने सामान्यत: प्रमुख भूमिका निभाई। इसका एकमात्र अपवाद थाईलैंड था। 1941 में वियतनामी साम्यवादियों ने हो ची मिन्ह के नेतृत्व में वियतनाम लीग की स्थापना की, जिसने विशी फ़्रांस के समर्थकों तथा जापानियों के ख़िलाफ़ संघर्ष किया। 2 सितंबर 1945 को लीग ने वियतनाम के लोकतांत्रिक गणतंत्र बन जाने की घोषणा की। बर्मा में आँग सान के नेतृत्व में फ़ासीवाद विरोधी जनमुक्ति संघ (एंटी फ़ासिस्ट पीपुल्स फ्रीडम लीग) का गठन किया गया। फिलिपाइंस में जापान-विरोधी जन-सेना (एंटी जैपनीज़ पीपुल्स आर्मी) ने जापानियों के ख़िलाफ़ सशस्त्र कार्रवाइयों का संगठन किया। इन तमाम आंदोलनों ने एशिया में जापानी साम्राज्यवाद की अंतिम पराजय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन देशों में जापान ने यूरोपीय सम्राज्यवादी शासन को ख़त्म करके अपना शासन स्थापित किया था। (फ़्रांसीसी उपनिवेशों में उन्होंने विशी फ़्रांस का औपचारिक नियंत्रण रहने दिया था।) जिन देशों पर जापान ने कब्ज़ा कर लिया था, वहां की जनता ने जापान को मुक्ति दिलाने वाला देश कभी नहीं समझा। भारत जापानी कब्ज़े से बच गया था। यहाँ स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने यूरोप पर नाज़ी कब्ज़े और एशिया में जापानी अधिकार के ख़िलाफ़ चलनेवाले जनसंघर्ष को अपना पूरा समर्थन दिया।

मित्र-राष्ट्रों के युद्ध लक्ष्य

युद्ध के दौरान सामान्य रणनीतियों पर विचार करने और जिन लक्ष्यों के लिए मित्र राष्ट्र लड़ रहे थे उनके संबंध में सहमति बनाने के लिए अनेक बैठकें और सम्मेलन आयोजित

किए गए। इन बैठकों और सम्मेलनों में से कुछ में कई देशों के प्रतिनिधि शामिल हुए। लेकिन सर्वाधिक महत्व के फैसले मुख्य मित्र शक्तियों के नेताओं-ब्रिटेन के चर्चिल, रूस के स्टालिन और संयुक्त राज्य के रूज़वेल्ट (तथा 12 अप्रैल को रूज़वेल्ट की मृत्यु के बाद अगले राष्ट्रपति ट्रूमेन) द्वारा किए गए।

चर्चिल और रूज़वेल्ट द्वारा जारी किए गए अटलांटिक घोषणापत्र (अटलांटिक चार्टर) का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस घोषणापत्र के जारी किए जाने के शीघ्र बाद सोवियत संघ भी इसका पक्षकार हो गया।

1 जनवरी 1942 को 26 देशों के प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र जारी किया। इस घोषणा के साथ ही फ़ासीवाद विरोधी मित्र गठबंधन (एलाइड कोएलिशन) विधिवत कायम हो गया, यद्यपि उसकी वास्तविक रचना पहले ही हो चुकी थी। इस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने प्रतिज्ञा की कि वे सबके सामान्य शत्रुओं को पराजित करने के लिए हर संभव प्रयत्न करेंगे और इस उद्देश्य से एक दूसरे के साथ सहयोग करेंगे। वे इस बात पर भी सहमत हो गए कि वे शत्रु देशों के साथ अलग से कोई वार्ता नहीं करेंगे और न उनसे अलग से युद्ध-विराम या शांति संधि करेंगे।

एक महत्वपूर्ण घटना जनवरी 1943 में हुई। यह थी अटलांटिक के मोरक्को तट पर कासाब्लांका नामक बंदरगाह में रूज़वेल्ट और चर्चिल की मुलाकात। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य के बीच फ़ासीवादी शक्तियों के समक्ष रखे जाने वाले शांति प्रस्ताव की शर्तों के बारे में कुछ मतभेद थे। रूज़वेल्ट ने फ़ासीवदी ताकतों से बिना शर्त समर्पण की माँग करके इन विवादों का अंत कर दिया। उसके बाद सभी मित्र राष्ट्रों ने या अब जिन्हें संयुक्त राष्ट्र कहा जाता था उन सभी ने, यही स्थिति अपना ली।

19 से 30 अक्तूबर 1943 तक मास्को में हुई ब्रिटेन, सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका के विदेश मंत्रियों की बैठक से फ़ासीवाद विरोधी गठबंधन और भी पुख़्ता हुआ। इस बैठक में दूसरा मोर्चा खोलने के प्रश्न पर विचार किया गया और इटली तथा आस्ट्रिया के संबंध में कुछ घोषणाएँ स्वीकार की गईं। यूरोपीय राज्यों से संबंधित विभिन्न प्रश्नों पर विचार करने के लिए सलाहकार समितियाँ स्थापित करने का निर्णय किया गया। जिन प्रश्नों का निबटारा करना था उनमें से एक का संबंध फ़ासीवादी शक्तियों तथा उनके मित्र देशों के समर्पण को स्वीकार करने की शर्तों से भी था। इस बैठक में एक चतुर्राष्ट्रीय घोषणा (चौथा राष्ट्र चीन था) भी जारी की गई जिसमें यथासंभव शीघ्र से शीघ्र "अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा स्थापित करने के लिए एक ऐसा सामान्य अंतर्राष्ट्रीय संगठन" स्थापित करने की आवश्यकता बताई गई "जिसका आधार सभी राष्ट्रों की संप्रभुतायुक्त समानता हो तथा जिसकी सदस्यता का द्वार छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों के लिए खुला हुआ हो।"

इस घोषणा को संयुक्त राष्ट्र घोषणा (यूनाइटेड नेशंस चार्टर) का आरंभ कहा जा सकता है। इस बैठक का मुख्य उद्देश्य अगले शिखर सम्मेलन की तैयारी करना था।

1 दिसंबर 1943 को ब्रिटेन, संयुक्त राज्य तथा चीन के हस्ताक्षरों से कैरो घोषणापत्र जारी किया गया। इस घोषणापत्र का संबंध मुख्य रूप से जापान तथा उसके अधिकृत देशों से था। उसमें जापान से कहा गया था कि वह बिना शर्त आत्मसमर्पण करे और 1894 के बाद से उसने जो भी प्रदेश जीते हैं, उन सबको वापस कर दे। आश्चर्य की बात यह है कि इस घोषणापत्र में उन यूरोपीय उपनिवेशों के लोगों के आत्म-निर्णय के अधिकार के सिद्धांत का कोई उल्लेख नहीं किया गया जिन पर जापान ने कब्ज़ा कर रखा था।

तेहरान सम्मेलन

तीनों प्रमुख मित्र राष्ट्रों का पहला शिखर सम्मेलन ईरान की राजधानी तेहरान में 28 नवंबर से 2 दिसंबर 1943 में हुआ। सम्मेलन में चर्चिल, स्टालिन और रूज़वेल्ट शामिल हुए। इस समय तक सोवियत संघ यूरोप की लड़ाई में निर्णायक शक्ति के रूप में उभर चुका था। इस सम्मेलन में चर्चिल और रूज़वेल्ट मई 1944 में फ़्रांस में दस लाख सैनिक उतारने अर्थात् चिर-प्रतीक्षित दूसरा मोर्चा खोलने पर राज़ी हो गए। सोवियत संघ इस बात पर सहमत हो गया कि जर्मनी के

पराजित हो जाने पर वह जापान के ख़िलाफ़ युद्ध में शामिल हो जाएगा। इस सम्मेलन में पोलैंड की युद्धोत्तर सीमाओं के बारे में भी विचार किया गया और उससे संबंधित शर्तों के बारे में मोटे तौर पर सहमति कायम हो गई। पोलैंड की लंदन स्थित प्रवासी सरकार ने उन शर्तों को मानने से इनकार कर दिया। इस पर सोवियत समर्थन से पोलैंड में एक पोलिश राष्ट्रीय परिषद्‌ (पोलिश नेशनल काउँसिल) संस्थापित कर दी गई जिसमें साम्यवादियों का बोलबाला था। इस तरह पोलैंड वालों का प्रतिरोध मोर्चा दो-फाड़ हो गया और सोवियत सरकार तथा पोलैंड की प्रवासी सरकार के बीच भी दरार पड़ गई।

डंबर्टन ओक्स सम्मेलन

ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन 21 अगस्त से 28 सितंबर 1944 तक अमरीका की राजधानी वाशिंगटन के निकट डंबर्टन ओक्स नामक स्थान में हुआ। इसका उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र संघ (यूनाइटेड नेशंस आर्गेनाइज़ेशन – यू.एन.ओ.) के गठन पर विचार करना था। बाद में इस सम्मेलन में चीन के प्रतिनिधि भी शामिल हुए। यह संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के लिए उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम था। संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र का मसविदा तैयार करने के लिए संयुक्त राष्ट्रों की एक पूर्ण बैठक मई-जून 1945 में सान फ़्रांसिस्को में आयोजित की जाने वाली थी।

याल्टा सम्मेलन

1945 के आरंभ में जब जर्मनी की पराजय के आसार दिखाई देने लगे थे, चर्चिल, स्टालिन और रूज़वेल्ट का एक और सम्मेलन सोवियत संघ के याल्टा नामक स्थान में हुआ। यह सम्मेलन 4 से 11 फरवरी 1945 तक चला। सम्मेलन में कई महत्वपूर्ण फ़ैसले किए गए। जर्मनी से बिना शर्त आत्मसमर्पण कराना तीनों देशों का सामान्य लक्ष्य घोषित किया गया। जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद उसके भविष्य के संबंध में भी तीनों में समझौता हुआ। बैठक में घोषणा की गई कि तीनों देशों का "अटल उद्देश्य ... जर्मनी के सैन्यवाद तथा नाज़ीवाद को मिटाना और ऐसी व्यवस्था करना" है जिससे जर्मनी भविष्य में फिर कभी विश्व-शांति में बाधा न डाल सके। तय किया गया कि जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद उसे चार क्षेत्रों में बांट दिया जाएगा। जिनमें से एक-एक क्षेत्र ब्रिटेन, फ़्रांस, संयुक्त राज्य तथा सोवियत संघ के अधीन रहेगा। पोलैंड की सीमाओं के संबंध में यह फ़ैसला हुआ कि लंदन स्थित ग़ैर साम्यवादी पोल लोग भी पोलैंड की कामचलाऊ सरकार में शामिल किए जाएँगे और वहाँ यथासंभव शीघ्र ही स्वतंत्र चुनाव कराए जाएँगे। "मुक्त कराए गए यूरोप" संबंधित एक घोषणा में तीनों देशों ने वचन दिया कि वे यूरोप के देशों को लोकतांत्रिक संस्थाएं स्थापित करने में सहायता देंगे। सोवियत संघ जर्मनी की पराजय के तीन महीने के अंदर जापान के विरुद्ध युद्ध में उतरने पर राज़ी हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के संबंध में भी महत्वपूर्ण फ़ैसले किए गए। जो भी राज्य जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्धरत थे उन सबके लिए 1 मार्च 1945 को संघ की सहायता के द्वार खोल देने का निश्चय किया गया ताकि वे संघ के घोषणापत्र का मसविदा तैयार करने के लिए बुलाए गए सान फ़्रांसिस्को के सम्मेलन में भाग ले सकें। इस सम्मेलन की तारीख़ 25 अप्रैल 1945 तय की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के गठन के बारे में और साथ ही इस विषय में भी सहमति हो गई कि कौन-से राज्य इस परिषद् के सदस्य होंगे। इस सिद्धांत पर भी रज़ामंदी हो गई कि शांति और सुरक्षा को प्रभावित करनेवाले मामलों में फ़ैसले का आधार सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्यों का मतैक्य होना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र

याल्टा की बैठक के निर्णय के अनुसार 25 अप्रैल से 26 जून 1945 तक सान फ़्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ। सम्मेलन ने जर्मनी के आत्मसमर्पण के पहले से ही संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र पर विचार करना आरंभ कर दिया। जापान के आत्मसमर्पण के पूर्व 26 जून को पचास राष्ट्रों ने घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए। यह घोषणापत्र 24 अक्तूबर



याल्टा सम्मेलन में चर्चिल, रूज़वेल्ट और स्टालिन

1945 से प्रभावी हो गया। इस घोषणापत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य तथा गठन की परिभाषा की गई है। यह निम्नलिखित शब्दों से आरंभ होता है।

हम संयुक्त राष्ट्र के राष्ट्रिकों ने संकल्प किया है कि

हम भावी पीढ़ियों को युद्ध के अभिशाप से, उस अभिशाप से बचाएँगे जिसने स्वयं हमारे जीवनकाल में मानव जाति को असीम दुख दिया है और मूलभूत मानवाधिकारों में, मनुष्य की गरिमा तथा सामर्थ्य में, स्त्रियों तथा पुरुषों एवं छोटे तथा बड़े राष्ट्रों के समान अधिकारों में अपनी आस्था का पुन: इज़हार करते हैं और हम ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करेंगे जिनमें न्याय तथा संधियों एवं अंतर्राष्ट्रीय कानून के अन्य स्रोतों से प्रतिफलित दायित्वों का पालन हो सके, और हम अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता के वातावरण में सामाजिक प्रगति तथा बेहतर जीवन-स्तर के लिए कार्य करेंगे,

और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए

सहिष्णुता का आचरण करेंगे और एक-दूसरे के साथ नेक पड़ोसियों की तरह रहेंगे और अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा बरकरार रखने के लिए अपनी-अपनी शक्ति को एकजुट करेंगे, और सिद्धांतों की स्वीकृति तथा उचित उपायों की स्थापना के द्वारा ऐसी व्यवस्था करेंगे जिससे सैन्य बल का प्रयोग किया जाएगा तो सिर्फ़ सबके हित के लिए और हम सभी राष्ट्रों की आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति के लिए अंतर्राष्ट्रीय तंत्रों का उपयोग करेंगे,

और हमने निश्चय किया है कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हम संयुक्त रूप से प्रयत्न करेंगे।

और तदनुसार हमारी सरकारें ... संयुक्त राष्ट्रों के इस घोषणापत्र पर सहमत हुई हैं और वे एतद्वारा एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण करती हैं, जिसका नाम संयुक्त राष्ट्र संघ होगा।



संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जारी किया गया टिकट
(संयुक्त राष्ट्र संघ के सौजन्य से)

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयोजनों को घोषणापत्र के प्रथम अनुच्छेद में निम्न प्रकार परिभाषित किया गया :

1. अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को कायम रखना और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शांति पर कोई ख़तरा न आने देने और ख़तरा आने पर उसे दूर करने के लिए एवं अतिक्रमण की कार्रवाइयों या शांति भंग करनेवाली दूसरी कार्रवाइयों को दबाने के लिए कारगर सामूहिक कदम उठाना और शांतिपूर्ण उपायों से तथा न्यायपूर्ण रीति से एवं अंतर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय विवादों तथा शांति भंग करने की आशंका से आपूरित परिस्थितियों का निदान और निबटारा करना।

2. राष्ट्रों के समान अधिकारों तथा आत्म निर्णय के सिद्धांत के आधार पर राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों का विकास करना तथा विश्व शांति को सुदृढ़ बनाने के लिए अन्य आवश्यक उपाय करना।

3. आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवीय प्रकृति की अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए तथा नस्ल, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर कोई भेदभाव किए बिना मानवाधिकारों एवं मौलिक स्वतंत्रताओं को बढ़ावा देने में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना, और

4. इन सर्वसामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए राष्ट्रों द्वारा की जाने वाली कार्रवाइयों में तालमेल बैठाना।

घोषणापत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ के गठन तथा उसके मुख्य अंगों को भी परिभाषित किया गया। इसके मुख्य अंग इस प्रकार थे :



संयुक्त राष्ट्र संघ की ट्रस्टीशिप परिषद् के सम्मान में जारी किया गया संयुक्त राष्ट्र संघ का टिकट
(संयुक्त राष्ट्र संघ के सौजन्य से)

(1) सभी सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों से बनी एक आम सभा (जनरल एसेंबली) (2) संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत संघ, चीन और फ़्रांस, इन पाँच स्थायी प्रतिनिधियों तथा दो साल के लिए आम सभा द्वारा चुने गए छह (बाद में दस, सोवियत संघ के समाप्त होने के बाद रूस को स्थायी सदस्य माना गया) राज्यों से बनी एक सुरक्षा परिषद् (3) आम सभा द्वारा चुने गए 18 (बाद में 27) सदस्यों से बनी एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् (4) एक न्यास परिषद् (ट्रस्टीशिप काउंसिल) जिसमें न्यास-क्षेत्रों का प्रशासन चलाने वाले राज्यों तथा अन्य राज्यों के प्रतिनिधि समान संख्या में शामिल किए जाने वाले थे (5) एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय और (6) एक सचिवालय। घोषणापत्र में ग़ैर-स्वशासी क्षेत्रों के संबंध में भी एक घोषणा शामिल की गई थी जिसमें इस सिद्धांत को स्वीकार किया गया था कि "इन क्षेत्रों के निवासियों के हित सर्वोपरि हैं" और उन पर शासन करने वालों का यह कर्तव्य है कि वे उनमें "स्वशासन का विकास करें, वहाँ की जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं का पूरा ध्यान रखें और उनकी राजनीतिक संस्थाओं के क्रमिक विकास में सहायता दें।" घोषणा पत्र में आयोगों और विशेषज्ञतायुक्त एजेंसियों तथा संस्थानों की स्थापना की भी व्यवस्था थी। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के अधीन स्थापित दो महत्वपूर्ण विशेषज्ञतायुक्त एजेंसियाँ हैं–संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन (यूनाइटेड नेशंस एजुकेशनल, साइंटिफ़िक एंड कल्चरल आर्गेनाइज़ेशन – यूनेस्को) तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन (वर्ल्ड हेल्थ ऑर्गेनाइज़ेशन – डब्ल्यू. एच.ओ.)।

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना फ़ासीवादी देशों के ख़िलाफ़ युद्ध में भाग लेने वाले देशों की एक महत्वपूर्ण और स्थायी उपलब्धि है।

पोट्सडम सम्मेलन

जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद तीन अगुआ मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी के पोट्सडम नामक स्थान में एक सम्मेलन किया। यह सम्मेलन 17 जुलाई से 8 अगस्त 1945 तक चला और इसमें चर्चिल, स्टालिन तथा हैरी एस. ट्रूमेन (रूज़वेल्ट की मृत्यु के बाद संयुक्त राज्य का नया राष्ट्रपति) ने भाग लिया। 28 जुलाई से इसमें चर्चिल के स्थान पर क्लेमेंट एटली शामिल हुआ, जो लेबर पार्टी के सत्तारूढ़ होने पर ब्रिटेन का प्रधानमंत्री बना था। पोट्सडम सम्मेलन का मुख्य विचारणीय विषय जर्मनी था। इस सम्मेलन द्वारा जारी की गई घोषणा में कहा गया कि "जर्मन सैन्यवाद तथा नाज़ीवाद का समूल नाश कर दिया जाएगा तथा मित्र राष्ट्र अभी और भविष्य में आपसी सहमति से ऐसे अन्य आवश्यक उपाय करेंगे जिनसे जर्मनी आगे फिर कभी अपने पड़ोसियों या विश्व-शांति के लिए ख़तरा न बन पाए।"

इस सम्मेलन में पोलैंड की पश्चिमी सीमा के बारे में रज़ामंदी हुई और तय किया गया कि पूर्व प्रशा का उत्तरी हिस्सा सोवियत संघ को तथा दक्षिणी हिस्सा पोलैंड को सौंप दिया जाए। फ़ासीवादी संगठनों पर निषेध लगाने, जर्मनी की सैनिक शक्ति को ख़त्म करने, शस्त्रास्त्रों के उत्पादन के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले उत्पादक संघों (कार्टेल) तथा नियंत्रक उद्योगों को समाप्त करके जर्मन अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना करने, जर्मनी द्वारा की जाने वाली क्षतिपूर्ति तथा जर्मनी के चार अधिकृत क्षेत्रों में विभाजन पर भी सभी पक्ष सहमत हो गए। यह भी तय किया गया कि नाज़ी युद्ध अपराधियों पर मुकदमा चलाया जाए। (बाद में यह मुकदमा जर्मनी के न्यूरंबर्ग नामक स्थान में चलाया गया। कार्रवाई लगभग एक साल तक जारी रही। बारह आरोपियों को मृत्युदंड दिया गया। कुछ अन्य लोगों को, जिनमें कई जर्मन उद्योगपति भी शामिल थे, आजीवन कारावास का दंड दिया गया)

द्वितीय विश्व युद्ध मानव-इतिहास का सबसे विनाशकारी युद्ध था। इसमें 5 करोड़ से अधिक मानव-जीवन की क्षति हुई थी। अनुमान लगाया गया है कि इस युद्ध में कुल 140 खरब डॉलर का व्यय हुआ। तथापि विनाश के आँकड़ों से इस महाविपत्ति की विकरालता का सही बोध नहीं हो सकता।

अभ्यास

1. किस प्रश्न को लेकर अंत में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ा था ? इस युद्ध के आरंभ के कुछ महीनों के दौर को "वाक्युद्ध" क्यों कहा जाता है ?
2. "विशी फ्रांस" से क्या तात्पर्य है ? जिन घटनाओं के फलस्वरूप इसका जन्म हुआ उनका वर्णन कीजिए।
3. युद्ध के आरंभिक चरणों से सोवियत संघ की भूमिका का वर्णन कीजिए।
4. सोवियत संघ पर जर्मन आक्रमण के लक्ष्य क्या थे ? आक्रमण के आरंभिक चरणों में जर्मन सफलता के कारणों पर विचार कीजिए।
5. यूरोप के युद्ध के प्रति संयुक्त राज्य की नीति क्या थी ? उन घटनाओं का वर्णन कीजिए जिनके कारण संयुक्त राज्य ने युद्ध में प्रवेश किया।
6. ब्रिटेन की लड़ाई और स्टालिनग्राड की लड़ाई के महत्व पर प्रकाश डालिए।
7. "दूसरे मोर्चे" से क्या तात्पर्य है ? अंत में वह मोर्चा कब खोला गया और उसके परिणाम क्या हुए ?
8. अफ्रीका में युद्ध के दौर की मुख्य घटनाओं का वर्णन कीजिए।
9. द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान एशिया में जापान की देश-विजयों का वर्णन कीजिए।
10. हिटलर के जर्मनी को इतिहास का सबसे बर्बरतापूर्ण राज्य क्यों कहा जाता है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
11. द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान फासीवाद के खिलाफ चलने वाले आंदोलन की भूमिका का वर्णन कीजिए।
12. द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों द्वारा आयोजित मुख्य सम्मेलनों का उल्लेख कीजिए। इन सम्मेलनों के लक्ष्य क्या थे ? इनमें हुए समझौतों का वर्णन कीजिए।
13. यूरोप में द्वितीय विश्व युद्ध कब और कैसे समाप्त हुआ ? युद्ध के अंत में जर्मनी के संबंध में मित्र राष्ट्रों द्वारा किए गए निर्णयों का वर्णन कीजिए।
14. कब और किस देश के खिलाफ परमाणु अस्त्रों का प्रयोग किया गया ? आपकी राय में क्या उनका इस्तेमाल करना ज़रूरी था ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिए।
15. संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
16. विश्व के रेखांकित मानचित्र पर मित्र शक्तियों और उनका समर्थन करने वाले देशों को दर्शाइए व धुरी शक्तियों और उनके समर्थक देशों को भी दिखाइए।
17. यूरोप और एशियाई प्रशांत क्षेत्र के रेखांकित मानचित्रों में दिखाइए कि जर्मनी और जापान की द्वितीय विश्व युद्ध में प्राप्त जीतों के द्वारा अपने-अपने साम्राज्य का अधिकतम विस्तार कहाँ तक किया गया था। जिन स्थानों में प्रमुख लड़ाइयाँ लड़ी गईं, उन्हें भी दर्शाइए।
18. इस अध्याय में एक जर्मन कवि और नाटककार की एक कविता के दो अंश उद्धृत किए गए हैं। उसकी एक और कविता तीसरे अध्याय में दी गई है। इन कविताओं में क्या विचार व्यक्त हुए हैं ? इस कवि और नाटककार के जीवन और रचनाओं के बारे में जानकारी हासिल करने की कोशिश कीजिए। जो अन्य जर्मन लेखक नाज़ियों के सत्तारूढ़ होने पर देश छोड़कर चले गए थे उनके जीवन तथा रचनाओं के बारे में विवरण तैयार कीजिए।
19. द्वितीय विश्व युद्ध पर और उसमें लड़ी गई लड़ाइयों, यातना शिविरों, विनाश-लीलाओं और प्रतिरोध आंदोलनों पर कई फ़िल्में बनाई गई हैं। आपने उनमें से जो फ़िल्में देखी हैं या अब देख पाते हैं उन पर रिपोर्टें तैयार कीजिए और कक्षा में उनकी चर्चा कीजिए।

अध्याय 5

1945 ई. से बाद की दुनिया

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की लगभग गत आधी सदी के दौरान की दुनिया में नाटकीय परिवर्तन हुए हैं। विश्व का राजनीतिक रंगरूप बिल्कुल बदल गया है। इस काल में विश्व पर से साम्राज्यवादी प्रभुत्व लगभग पूर्णरूप से तिरोहित हो गया है और इसी के साथ यूरोप का वर्चस्व भी समाप्त हो गया है। 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना करने में पचास राष्ट्रों ने भाग लिया था। मार्च 1990 में नामीबिया की आज़ादी से और बाद में सोवियत संघ के टूटने के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों की संख्या 178 हो गई है। ज़्यादातर नए सदस्य मुख्य रूप से एशिया और अफ्रीका के ऐसे देश हैं जिन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आज़ादी हासिल की।

जर्मनी, जापान और इटली की पराजय तथा उसके शीघ्र बाद ब्रिटेन और फ्रांस के साम्राज्यों के अंत के पश्चात लगभग चार दशकों तक संयुक्त राज्य एवं सोवियत संघ द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की दुनिया की सबसे बड़ी शक्तियाँ बने रहे। ये दोनों देश विश्व के मामलों में प्रमुख भूमिका निभाते रहे और युद्ध के शीघ्र बाद उभरने वाली दो शक्ति गुटों में से एक-एक के मुखिया बने रहे। संयुक्त राज्य पश्चिमी गुट का अगुआ था जिसमें पश्चिमी यूरोप, उत्तर अमरीका और प्रशांत क्षेत्र शामिल थे। ये देश अपने को स्वतंत्र विश्व (फ्री वर्ल्ड) कहते थे। सोवियत संघ समाजवादी गुट की प्रमुख शक्ति था। इस गुट का जन्म पूर्वी यूरोप के देशों में तथा बाद में चीन और कोरिया में साम्यवादी दलों के सत्तारूढ़ होने के फलस्वरूप हुआ। इन गुटों के अंदर और दोनों गुटों के बीच या देशों के समूहों के बीच बहुत-से परिवर्तन हुए, लेकिन संयुक्त राज्य तथा सोवियत संघ 1980 वाले दशक के अंत तक विश्व की प्रमुख शक्तियाँ बने रहे।

विश्व के प्रत्येक भाग में व्यापक राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। परिवर्तनों की दिशा और परिमाण अलग-अलग देशों में अलग-अलग रहे हैं, लेकिन कुल मिलाकर संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकारों की विश्वजनीन घोषणा को, जिसमें मनुष्य के नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों पर विशेष ज़ोर दिया गया है, परिवर्तन की मुख्य दिशा का प्रतीक माना जा सकता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विश्व का प्राय: हर-एक देश स्वतंत्र हो गया है और जनता सर्वत्र ही कम-से-कम सिद्धांतत: अपने-अपने भाग्य की स्वयं नियामक बन गई है। यद्यपि परिवर्तन की मुख्य दिशा राजनीतिक स्वतंत्रता के विकास तथा सार्वजनीन मताधिकार एवं प्रतिनिधिक संस्थाओं की ओर रही है, तथापि बहुत-से देशों पर आज भी सैनिक तानाशाहों, निरंकुशतावादियों तथा अल्पतंत्रों का शासन है।

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के उपरांत लगभग पैंतालीस वर्षों तक, अर्थात् 1990 के आसपास होने वाले नाटकीय परिवर्तनों का दौर आरंभ होने के पूर्व तक, विश्व की दो मुख्य राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं को पूँजीवादी और समाजवादी कहा जाता था। दोनों में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उन्नत पूँजीवादी व्यवस्था वाले देशों में सामान्यत: आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारों को मान और महत्व प्राप्त है। कम-से-कम अंशत: इसका श्रेय श्रमिक संघों तथा श्रमिक और समाजवादी आंदोलनों को है। उन्नत पूँजीवादी देशों में से अधिकांश जन-कल्याण की नीतियों पर चलते हैं जिससे द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तक इस व्यवस्था से जुड़े जन साधारण के दुख-दैन्य में कमी आई है। सोवियत संघ और द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत पूर्वी यूरोप में जिस प्रकार की समाजवादी व्यवस्था कायम हुई उसे कुछ वर्षों तक पूँजीवादी व्यवस्था का एक स्पृहणीय विकल्प माना जाता रहा। इस व्यवस्था में भी बहुत-से परिवर्तन हुए, लेकिन अंत में यह बिखर गई। नवस्वतंत्र देश अपनी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का निर्माण करने में जुटे हुए हैं।

लेकिन औपनिवेशिक शासन से उन्हें विरासत में जो पिछड़ापन मिला था वह आज भी उनमें से अधिकतर देशों में कायम है। विश्व अर्थव्यवस्था आज भी असमानता और अन्याय से ग्रस्त है जो इन देशों के पिछड़ेपन के दलदल से न निकल पाने का एक बहुत बड़ा कारण है। इन देशों को तीसरी दुनिया कहा जाता है।

गत पचास वर्षों के दौरान प्रौद्योगिकी (टैक्नोलॉजी) के क्षेत्र में नाटकीय परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों ने ख़ास तौर से उन्नत पूँजीवादी देशों का कायाकल्प कर दिया है। संयुक्त राज्य के अलावा जापान और जर्मनी प्रमुख आर्थिक शक्तियों के रूप में उभरे हैं लेकिन प्रौद्योगिकीय प्रगति के बल पर आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों तथा तीसरी दुनिया के देशों के बीच का अंतर और भी बढ़ गया है। तीसरी दुनिया के देशों को विकासशील देश भी कहा जाता है। विकसित तथा विकासशील–इन दो हिस्सों में दुनिया का विभाजन द्वितीय विश्व युद्धोत्तर संसार की एक प्रमुख विशेषता बन गया है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का काल तनावों और संघर्षों का काल रहा है। जो गठबंधन फ़ासीवाद को परास्त करने के लिए युद्ध के दौरान कायम हुआ था युद्ध के समाप्त होते ही टूट गया। उसके पश्चात पश्चिमी गुट और सोवियत गुट कहे जाने वाले दो समूहों के बीच तनातनी का दौर आरंभ हुआ। यह स्थिति विगत पचास वर्षों के दौर में अधिकतर चलती रही। यह तनातनी शीत युद्ध के नाम से विख्यात है। इस दौर में दोनों गुट अपने पास विनाशकारी शस्त्रास्त्रों का भंडार तैयार करने में एक दूसरे से होड़ करने लगे। विश्व के विभिन्न भागों में कई लड़ाइयाँ भड़कीं और यद्यपि इन लड़ाइयों में से कई में परस्पर विरोधी गुटों के देश प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शामिल थे, तथापि इन लड़ाइयों का रूप स्थानीय ही रहा। इस काल में कई बार ऐसे प्रसंग आए जब दुनिया विनाश के कगार तक पहुँच गई, लेकिन दुनिया ने अपने आप को इस व्यापक युद्ध से किसी तरह खुद बचा लिया।

एशिया और अफ्रीका में स्वतंत्र राष्ट्रों का उदय द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल की ख़ास विशेषता है। एशिया तथा अफ़्रीका के आज़ाद मुल्क दुनिया के मामलों में स्वतंत्र भूमिका निभाने का आग्रह लेकर चले। इस काल में किसी भी सैनिक गुट में शामिल होने से उनका इनकार शांति का वातावरण तैयार करने में सहायक सिद्ध हुआ। इन देशों के एक साथ हो जाने से गुट निरपेक्ष आंदोलन (नॉन एलाइंड मूवमेंट) का जन्म हुआ जिसने दुनिया में तनाव कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसने उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा नस्लवाद का सर्वत्र विरोध किया और विकास को एक अंतर्राष्ट्रीय सरोकार के रूप में दुनिया के सामने पेश किया।

1960 वाले दशक से शीत युद्ध का वातावरण कभी-कभी ढीला पड़ा और तनावों में कुछ कमी आई, लेकिन अब निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 1990 वाला दशक शीत युद्धोत्तर दशक है। इसके साथ ही दुनिया सचमुच शांतिपूर्ण बन गई है, यह कहना अभी कठिन है। शीत युद्धोत्तर दुनिया तनावों और संघर्षों से मुक्त नहीं है। याद रहे कि जैसे भयावह शस्त्रास्त्र कई देशों ने जमा कर रखे हैं उसको देखते हुए शांति को मात्र युद्ध से बचते रहने से प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसके लिए सच्चा निरस्त्रीकरण और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग आवश्यक है। बहरहाल, शीत युद्ध की समाप्ति के साथ इतिहास का एक दौर ख़त्म हो चुका है जो द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ आरंभ हुआ था।

1980 वाले दशक की समाप्ति के बाद से दुनिया में जो परिवर्तन हुए हैं उनमें से कुछ तो ऐसे दूरगामी महत्व के हैं कि कहा जा सकता है कि उनके साथ विश्व इतिहास में एक नए युग का आरंभ होता है। एक राज्य के रूप में-सोवियत समाजवादी गणतंत्रों के संघ के रूप में–सोवियत संघ बिखर चुका है। जिन पंद्रह गणतंत्रों के संघ से सोवियत संघ बना था, वे अब स्वतंत्र राज्य बन गए हैं। इन राज्यों और साथ ही पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी दलों का शासन समाप्त हो गया है। इन देशों में जिस प्रकार की समाजवादी, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की रचना की गई थी वह साम्यवादी शासन की समाप्ति के साथ ही धराशायी हो गई है। सोवियत संघ रूसी क्रांति के बाद से ही विश्व राजनीति में एक बड़ी ताकत के रूप में काम करता रहा था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वह एक दुर्घर्ष गुट का अगुआ था और पूर्वी यूरोप के देशों सहित वह संयुक्त राज्य अमरीका तथा पश्चिमी यूरोप की सैनिक शक्ति और राजनीतिक एवं आर्थिक

व्यवस्था के लिए एक ज़बरदस्त चुनौती माना जाता था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से विश्व इतिहास की ऐसी कोई बड़ी घटना नहीं है जिसे सोवियत संघ की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भूमिका के संदर्भ के बिना भली भाँति समझा जा सकता हो। बल्कि सच तो यह है कि उसका अस्तित्व मात्र ऐसी हर घटना को किसी-न-किसी रूप से प्रभावित करता था।

सोवियत संघ के टूटने का सबसे स्पष्ट परिणाम यह हुआ है कि शीतयुद्ध समाप्त हो गया है।

शीतयुद्ध

तेहरान, याल्टा तथा पोट्सडम सम्मेलनों में ब्रिटेन, संयुक्त राज्य और सोवियत संघ के नेताओं के बीच यूरोप के मुक्त कराए गए देशों के भविष्य से संबंधित अनेक प्रश्नों पर सहमति हुई थी। पोट्सडम सम्मेलन में स्थापित विदेश मंत्रियों की परिषद् ने धुरी शक्तियों तथा उनके सहयोगी देशों के साथ शांति संधियों की शर्तों के विषय में बातचीत की थी। 1947 तक इटली, रोमानिया, बुल्गारिया, हंगरी और फ़िनलैंड के साथ समझौते हो गए और संधि पत्रों पर हस्ताक्षर भी। मित्र राष्ट्रों ने आस्ट्रिया के साथ 1955 की संधि के बाद उस पर से अपना कब्ज़ा उठा लिया लेकिन जर्मनी और जापान के प्रश्न पर कोई सहमति नहीं हो पाई। सोवियत आपत्ति के बावजूद पश्चिमी देशों ने जापान के साथ एक संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिए लेकिन जर्मनी को लेकर जो मतभेद थे वे संयुक्त राज्य के नेतृत्व में पश्चिमी देशों तथा सोवियत संघ के बीच झगड़े का एक बड़ा कारण बन गए। युद्ध के शीघ्र बाद ही युद्धकालीन गठबंधन ढीला पड़ने लगा था और शीतयुद्ध या 'शस्त्र सज्जित शांति' का काल आरंभ हो गया था।

शीतयुद्ध का आरंभ

उद्भव

बहुत-से इतिहासकार शीत युद्ध का उद्भव 1917 से मानते हैं जब रूस में बोलशेविक क्रांति हुई। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कई पश्चिमी देशों ने क्रांति के बाद स्थापित नई सोवियत सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए अपनी-अपनी सेनाएँ रूस में भेजी थीं लेकिन वहाँ विदेशी हस्तक्षेप विफल हो गया था और 1920 में वह समाप्त भी हो गया। उसके बाद अनेक पश्चिमी देशों ने सोवियत संघ का बहिष्कार कर दिया था और सोवियत सरकार को मान्यता देने तथा इसके साथ कूटनीतिक संबंध स्थापित करने में उन्हें कई वर्ष लग गए। जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय के बाद पश्चिमी देश आशा कर रहे थे कि जर्मनी की आक्रामक कार्रवाइयों का रुख़ सोवियत संघ की ओर होगा इसलिए उन्होंने धुरी शक्तियों के तुष्टीकरण की नीति का पालन किया था और आक्रामक कार्रवाइयों को रोकने के लिए सोवियत संघ से कोई गठबंधन करने से इनकार कर दिया था।

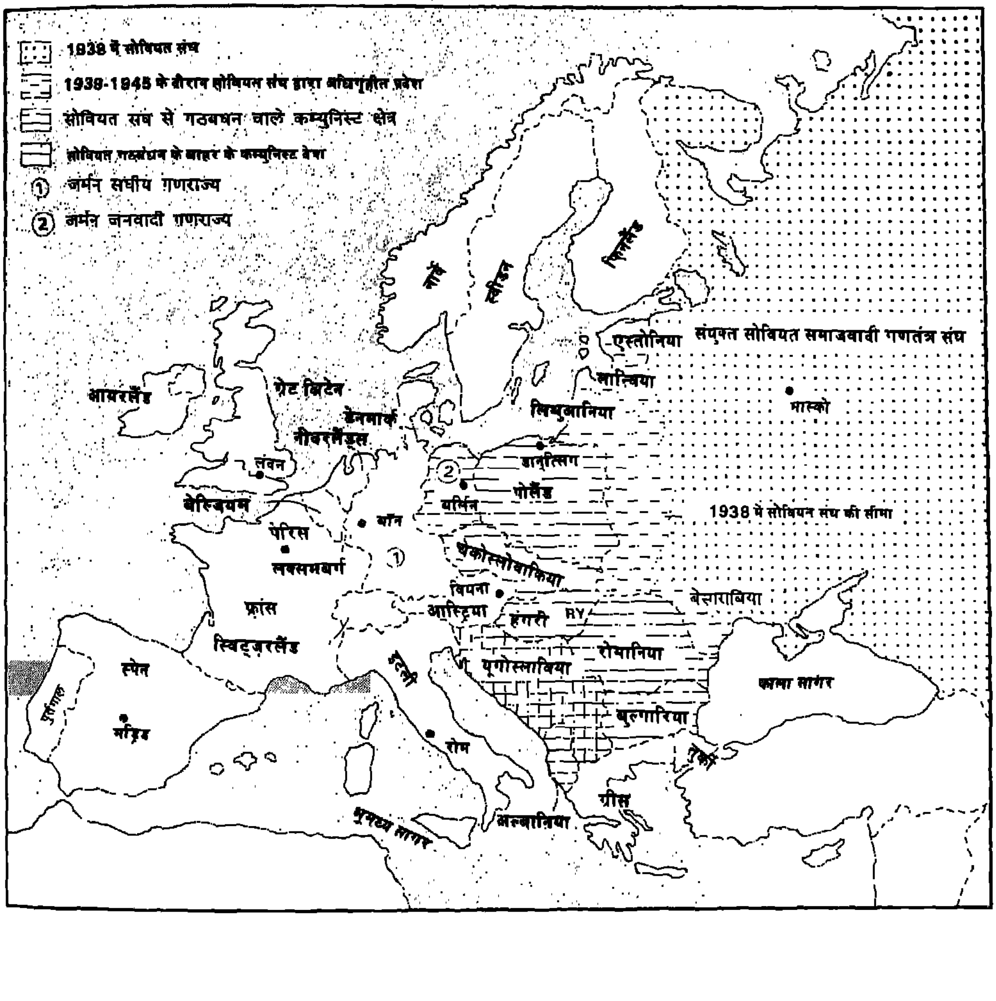
द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सोवियत संघ पर जर्मनी के आक्रमण के बाद सोवियत-ब्रिटिश-संयुक्त राज्य गठबंधन कायम हुआ जिसके फलस्वरूप जर्मनी और अन्य धुरी शक्तियाँ पराजित हुईं। लेकिन युद्ध के समय भी यह गठबंधन तनावमुक्त नहीं था। संयुक्त राज्य और ब्रिटेन अपनी सैनिक कार्रवाइयाँ एकीकृत कमान के अधीन संयुक्त रूप से कर रहे थे और वे जो भी निर्णय करते, आपस में ही लिया करते थे-किसी और मित्र देश से कुछ पूछे बिना। यह बात ख़ास तौर से दूसरा मोर्चा खोलने के प्रश्न पर उजागर हुई। सोवियत संघ को महसूस हो रहा था कि दूसरा मोर्चा खोलने में जानबूझ कर देरी की जा रही है। यूरोप के मसलों, उदाहरण के लिए पोलैंड के भविष्य के बारे में, मतभेद युद्ध के आरंभ से ही उभरने लगे थे। यद्यपि तेहरान, याल्टा तथा पोट्सडम में उनमें से अधिकांश मतभेद दूर हो गए थे, लेकिन सोवियत संघ के प्रति पश्चिमी देशों का संदेह कायम रहा था। पूर्वी यूरोप में जर्मनी के ख़िलाफ़ सोवियत संघ की विजयों से पश्चिमी देश परेशान से हो उठे थे। बर्लिन की ओर सोवियत सेना की बढ़त से ब्रिटेन ख़ास तौर से चिंतित हो उठा था, यद्यपि बर्लिन जर्मनी के उस हिस्से में पड़ता था जो समझौते अनुसार मुक्त कराने के लिए सोवियत संघ के हिस्से छोड़ा गया था। चर्चिल ने संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति पर इस बात के लिए बहुत ज़ोर डाला कि वह मित्र राष्ट्रों की सेनाओं के कमांडर जनरल आइज़नहॉवर को लाइब्ज़िग की बजाय बर्लिन की ओर आगे बढ़ने को कहें।

पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारें

पूर्वी यूरोप की घटनाओं से साम्यवाद से पश्चिमी देशों का वह भय फिर से जग उठा जिससे वे युद्ध से पहले ग्रस्त थे। याल्टा में ब्रिटेन, संयुक्त राज्य तथा सोवियत संघ ने मुक्त कराए गए यूरोप के संबंध में एक घोषणा जारी की थी। इस घोषणा के अनुसार तीनों मित्र शक्तियाँ मुक्त कराए गए यूरोपीय देशों को स्वतंत्र चुनावों के माध्यम से लोकतांत्रिक संस्थाएँ स्थापित करने में सहायता देने वाली थीं। आरंभ में सोवियत संघ द्वारा मुक्त कराए गए देशों में संविद सरकारें स्थापित की गईं जिनमें साम्यवादी भी शामिल थे। लेकिन तीन वर्षों के अंदर इन सभी देशों की सरकारों से अन्य दलों को उखाड़ फेंका गया और इन पर साम्यवादियों का एकछत्र नियंत्रण स्थापित हो गया।

पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादी प्रभुत्व ब्रिटेन और संयुक्त राज्य को ख़ास नागवार गुज़रा। उनकी दृष्टि में यह सोवियत संघ द्वारा लोकतांत्रिक संस्थाओं तथा स्वतंत्र चुनावों के संबंध में दिए गए वचन का उलंघन था। 1946 में पोलैंड की कामचलाऊ सरकार में, जिसमें लंदन स्थित सोवियत विरोधी प्रवासी पोलिश सरकार के नेता भी शामिल थे, फूट पड़ गई। बाद में जो चुनाव हुए उनमें उन

1950 में कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा शासित यूरोपीय देश



दलों को लगभग 90 प्रतिशत स्थान प्राप्त हुए जिनके पारस्परिक विलय से साम्यवादी दल की स्थापना हुई। इस दल का नाम पोलिश संयुक्त श्रमिक दल (पोलिश यूनाइटेड वर्कर्स पार्टी) पड़ा। मुख्य विरोधी दल के नेताओं ने आरोप लगाया कि चुनाव स्वतंत्र रूप से नहीं हुए थे और उनके हज़ारों कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया था। चेकोस्लोवाकिया में मई 1946 में एक संविद सरकार बनाई गई थी। सरकार में साम्यवादी तथा अन्य दलों के नेता शामिल थे। फ़रवरी 1948 में साम्यवादियों ने माँग की कि सरकार का पुनर्गठन किया जाना चाहिए क्योंकि सरकार में शामिल कुछ दल फ़ासीवादियों को संरक्षण दे रहे हैं। पुनर्गठन किया गया तो आरोप लगाया गया कि चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति एडुअर्ड बेनेस ने रूस के दबाव में वैसा किया। पुनर्गठन के फलस्वरूप चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादियों की प्रधानता वाली सरकार सत्तारूढ़ हुई।

ऐसी ही घटनाएँ बुल्गारिया, रोमानिया और हंगरी में हुईं। यूगोस्लाविया और अलबानिया में भी साम्यवादी, जिन्होंने राष्ट्रीय प्रतिरोध का नेतृत्व किया था, सत्तारूढ़ हो चुके थे। इस प्रकार यूरोप के सात देशों में ऐसी सरकारें कायम हो गई थीं जिनमें साम्यवादियों का बोलबाला था और अब सोवियत संघ साम्यवादी दल द्वारा शासित दुनिया का एकमात्र देश नहीं रह गया था। इस घटनाक्रम से ब्रिटेन और संयुक्त राज्य ख़ास तौर से चिंतित हुए। उन्होंने इसे 'स्वतंत्र विश्व' के लिए ख़तरा माना।

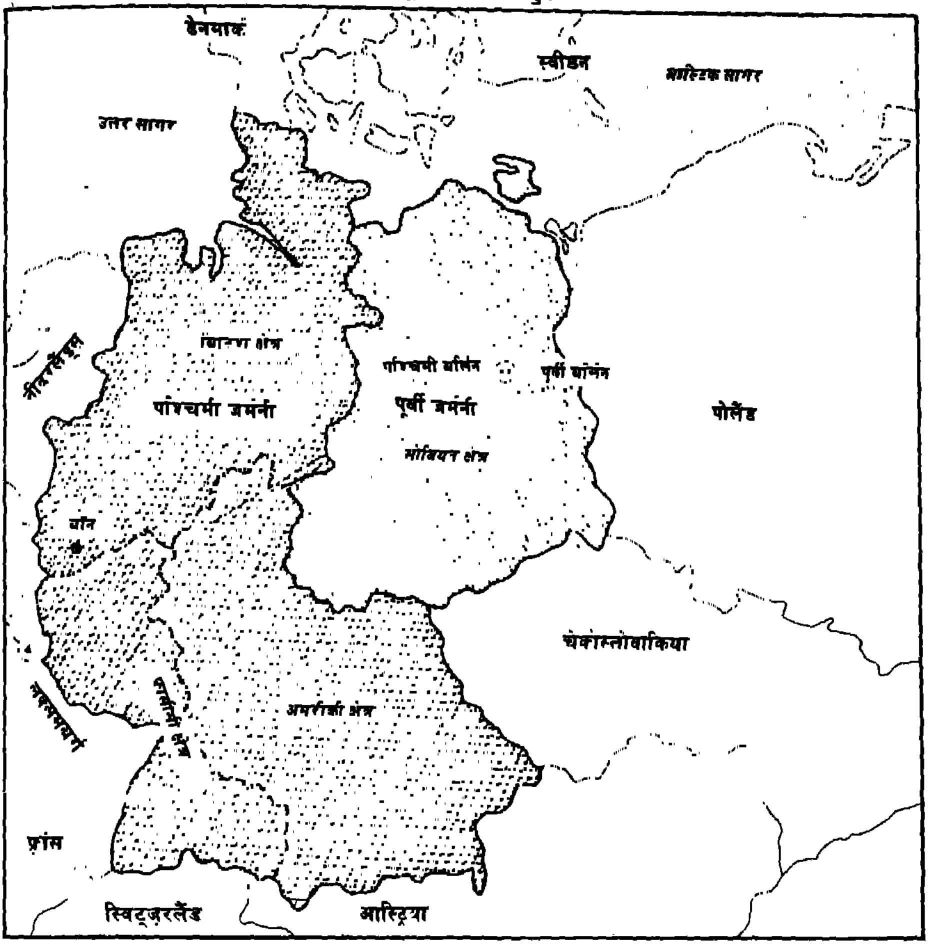
जर्मनी का घटनाक्रम

जर्मनी के घटनाक्रम से सोवियत संघ तथा पश्चिमी देशों के मतभेद और भी गहरे हो गए। जर्मनी को चार अधिकृत क्षेत्रों में बाँट दिया गया था जिनमें से एक-एक को सोवियत संघ, संयुक्त राज्य, ब्रिटेन और फ़्रांस के कब्ज़े में रखा गया था। पोट्सडम सम्मेलन में जर्मनी की कल्पना एक ही आर्थिक क्षेत्र के रूप में की गई थी जिसकी एक सामान्य मुद्रा प्रणाली होती लेकिन धीरे-धीरे जर्मनी दो हिस्सों में बँट गया जिनमें से एक संयुक्त राज्य, ब्रिटेन तथा फ़्रांस द्वारा अधिकृत हिस्सा था और दूसरा यानी पूर्वी हिस्सा सोवियत संघ के कब्ज़े में रहा। पश्चिमी हिस्से ने पूर्वी हिस्सों को औद्योगिक यंत्रों की आपूर्ति बंद कर दी और उधर पूर्वी भाग ने पश्चिमी भाग को कृषि उत्पादन देना बंद कर दिया। इस प्रकार जर्मनी की आर्थिक एकता टूट गई। अब प्रत्येक भाग में चलने वाली राजनीतिक तथा आर्थिक नीतियाँ भी एक-दूसरे से भिन्न हो गईं। पूर्वी हिस्से में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ छीनकर किसानों के बीच बाँट दी गईं और बहुत-से उद्योगों तथा खानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। यहाँ जर्मन साम्यवादियों को, जो फ़ासीवादियों के सत्तारूढ़ होने के समय से ही देश-निकाला भोग रहे थे, तथा उन अन्य दलों और मंडलियों को बढ़ावा दिया गया जो साम्यवादियों के साथ गठबंधन करने को तैयार थे। पश्चिमी हिस्से में एक पूँजीवादी किस्म की अर्थव्यवस्था विकसित होने लगी। इसमें संयुक्त राज्य भारी आर्थिक सहायता देने लगा और वहाँ साम्यवादियों तथा सोवियत संघ का विरोध करने वाले दलों एवं मंडलियों का बोलबाला हो गया। पश्चिमी हिस्से में जिन नीतियों का पालन किया जा रहा था उनका आधार अब साम्यवाद और सोवियत संघ का भय था। 1947 तक जर्मनी दो बिल्कुल अलग-अलग आर्थिक तथा राजनीतिक हिस्सों में बँट गया। बाद में एक-दूसरे से पृथक दो राज्यों की स्थापना करके इस विभाजन को औपचारिक रूप दे दिया गया।

यूनान में गृहयुद्ध

शीतयुद्ध को जन्म देने वाली एक अन्य घटना यूनान (ग्रीस) का गृहयुद्ध था। पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि यूनान में फ़ासीवादियों के प्रतिरोध में साम्यवादियों ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। लेकिन यूनान को भेजी गई ब्रिटिश सेना राजा के शासन को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहती थी। राजा को वापस बुला लिया गया था। इससे यूनान में गृहयुद्ध छिड़ गया। गृहयुद्ध में साम्यवादियों के ख़िलाफ़ 10,000 ब्रिटिश सैनिक लड़े। लेकिन 1947 के आरंभ में ब्रिटेन ने यूनान से अपनी सेना वापस बुला लेने का फ़ैसला किया। उसने संयुक्त राज्य को सूचित किया कि गृहयुद्ध में यूनान की सरकार को समर्थन देने का बोझ वह अब और नहीं उठा सकता। यदि ब्रिटेन ने यूनान की सरकार को सैनिक तथा वित्तीय सहायता देना बंद कर दिया होता तो लगभग निश्चित था कि गृहयुद्ध में साम्यवादियों की विजय होती। संयुक्त राज्य की सरकार ने गृहयुद्ध में यूनान की सरकार को समर्थन

जर्मनी : द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद



देने का 'बोझ' अपने ऊपर ले लिया। ऐसा माना जा रहा था कि तुर्की को भी सोवियत संघ से ख़तरा है, सो संयुक्त राज्य ने उसे भी समर्थन देना शुरू कर दिया।

ट्रूमेन सिद्धांत

सामान्यत: माना जाता है कि 1945 से 1947 तक के वर्षों के दौरान शीत युद्ध की शुरुआत हुई। इस युद्ध में पहली गोली विंस्टन चर्चिल ने दाग़ी। अब वह प्रधानमंत्री नहीं था, लेकिन संयुक्त राज्य के मिसूरी राज्य में स्थित फुल्टन विश्वविद्यालय में राष्ट्रपति ट्रूमेन की उपस्थिति में दिए गए एक व्याख्यान में उसने कहा–"बाल्टिक क्षेत्र में स्टेटिन से लेकर एड्रियाटिक क्षेत्र में ट्रीस्ट तक (यूरोपीय) महाद्वीप में एक फौलादी दीवार खड़ी कर दी गई है।" "फौलादी दीवार" से चर्चिल का मतलब यह था कि यूरोप को एक ओर सोवियत संघ तथा जिन देशों को वह सोवियत संघ के नियंत्रण में मानता था, उन देशों तथा दूसरी ओर बाकी के देशों के बीच बाँट

दिया गया है। इसका मतलब था कि फ़ौलादी दीवार के पीछे रहने वाले देश – सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देश–बाकी दुनिया से कट गए हैं और उनपर एक घोर सेंसर और नियंत्रण प्रणाली थोप दी गई। चर्चिल ने सोवियत संघ का सामना करने के लिए ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य के बीच राजनीतिक एवं आर्थिक गठबंधन के लिए भी अपील की।

यूनान के गृहयुद्ध में हस्तक्षेप करने के अमरीकी निर्णय को शीतयुद्ध का विधिवत आरंभ माना जा सकता है। कांग्रेस से यूनान की सहायता के निमित्त 40 करोड़ डालर की माँग करते हुए ट्रूमेन ने अपनी सरकार की नीति का भी खुलासा किया जिसे ट्रूमेन सिद्धांत कहा गया है। अपने भाषण में उसने कहा – "मैं समझता हूँ कि जिन स्वतंत्र जनसमाजों को सशस्त्र अल्पसंख्यक समूहों या बाहरी दबाव के द्वारा गुलाम बनाने की कोशिश की जा रही है उनके प्रतिरोध को समर्थन देना संयुक्त राज्य की नीति होनी चाहिए।"

ट्रूमेन सिद्धांत में साम्यवाद को 'स्वतंत्र दुनिया' के लिए ख़तरा बताया गया। 'स्वतंत्र दुनिया' का अगुआ होने के नाते संयुक्त राज्य को यह मंजूर नहीं था कि वह इस ख़तरे का मूर्त रूप लेने दे। हर क्रांति को सोवियत विस्तारवाद का परिणाम समझा गया जिसे संयुक्त राज्य की सैनिक शक्ति के बल पर कुचलना आवश्यक था। यह सिद्धांत आगे के लगभग तीन दशकों तक संयुक्त राज्य की विदेश नीति का आधार बना रहा और दुनिया में जो भी झगड़े और लड़ाइयाँ हुईं उनमें से हरेक को संयुक्त राज्य तथा सोवियत संघ के बीच के संघर्ष के अंग के रूप में देखा गया।

बर्लिन संकट और जर्मनी का विभाजन

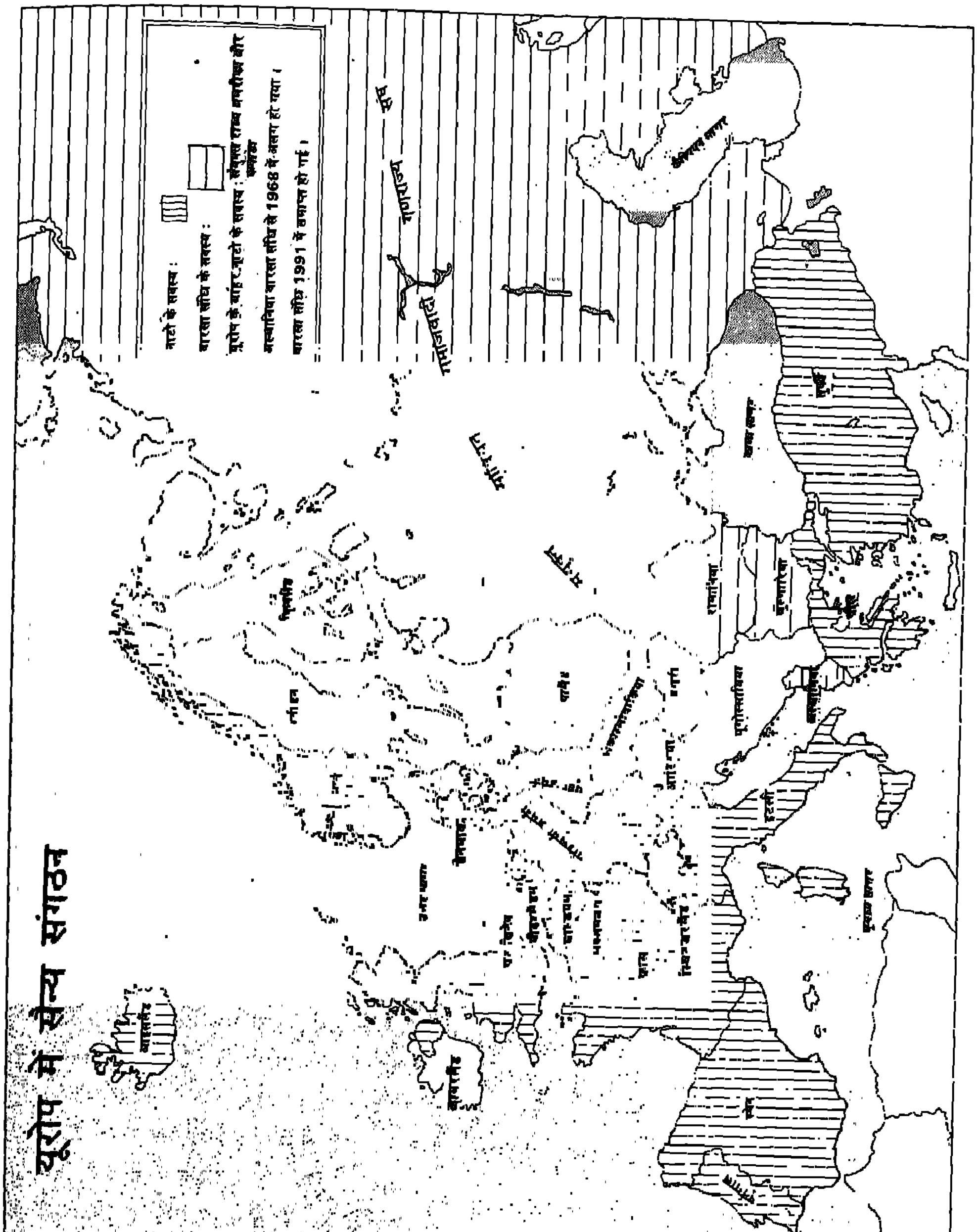
बर्लिन संकट

1948 का आरंभ होते-होते ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य ने जर्मनी के अपने अधीन के तीनों क्षेत्रों को मिलाकर पश्चिमी जर्मनी का पृथक राज्य स्थापित करने की प्रक्रिया आरंभ कर दी थी। वे क्षेत्र यूरोपीय पुनरुद्धार कार्यक्रम (यूरोपीयन रिकवरी प्रोग्राम) के अधीन भी लाए जा रहे थे। इस कार्यक्रम के तहत संयुक्त राज्य युद्ध से तबाह पश्चिमी यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए भारी वित्तीय सहायता सुलभ कराने जा रहा था। बर्लिन नगर, जो सोवियत क्षेत्र में पड़ता था, शेष जर्मनी की ही तरह चार क्षेत्रों में बाँट दिया गया था। तीनों पश्चिमी ताकतें पश्चिमी बर्लिन को पश्चिमी जर्मनी का, जो एक अलग राज्य के रूप में संगठित किया जा रहा था, हिस्सा मानते थे। सोवियत संघ इसके ख़िलाफ़ था। जून 1948 में उसने वह सड़क बंद कर दी जो सोवियत क्षेत्र से गुज़रती हुई पश्चिमी जर्मनी को पश्चिमी बर्लिन से जोड़ती थी।

पश्चिमी बर्लिन की नाकेबंदी का उद्देश्य पश्चिमी ताकतों को बर्लिन पर सोवियत दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर विवश करना था। इससे लड़ाई का ख़तरा उपस्थित हो गया क्योंकि पश्चिमी देश पश्चिमी बर्लिन से हटने को तैयार नहीं थे। लेकिन साथ ही वे वहाँ तभी तक टिके रह सकते थे जब तक उन्हें बाहर से रसद-पानी, साज़-सामान और शस्त्रास्त्र मिलते रहते। पश्चिमी देशों ने रूस की कार्रवाई का जवाब यह दिया कि वे सारा कुछ वायुमार्ग से पश्चिमी बर्लिन को पहुँचाने लगे। यह नाकेबंदी लगभग ग्यारह महीने जारी रही। इस दौरान पश्चिमी मित्र देशों ने पौने तीन लाख से अधिक विमान उड़ानों द्वारा खाद्य सामग्री तथा ईंधन पश्चिमी बर्लिन को वायुमार्ग से पहुँचाया। इस प्रकार युद्ध का ख़तरा टल गया। सोवियत संघ ने मई 1949 में नाकेबंदी उठा ली।

नाटो का गठन

इस बीच पश्चिमी देशों का एक नया सैनिक गठबंधन कायम हो गया था। अप्रैल 1949 में संयुक्त राज्य, पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देशों–ब्रिटेन, फ़्रांस, बेल्जियम, लुकज़ंबर्ग, हालैंड, नार्वे, डेनमार्क, पुर्तगाल और इटली–तथा आइसलैंड और कनाडा ने उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (नार्थ एटलांटिक ट्रीटी ऑर्गनाइज़ेशन-नाटो) नामक अपना एक गठबंधन कायम कर लिया था। इस गठबंधन के माध्यम से उन्होंने जिस चीज़ को वे यूरोप में रूसी विस्तारवाद कहते थे, उसे रोकने के लिए तथा साम्यवाद को परिसीमित रखने के लिए एक व्यापक शस्त्रीकरण कार्यक्रम आरंभ कर दिया। अगले छह


यूरोप में सैन्य संगठन
नाटो के सदस्य :
वारसा संधि के सदस्य :
यूरोप के बाहर नाटो के सदस्य : संयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा
अल्बानिया वारसा संधि से 1968 में अलग हो गया।
वारसा संधि 1991 में समाप्त हो गई।

वर्षों तक संयुक्त राज्य ने यूरोप के नाटो देशों को बड़े पैमाने पर सैनिक सहायता दी। 1952 में यूनान और तुर्की भी नाटो के सदस्य बना लिया गए।

जर्मनी में दो राज्य

मई 1949 में जर्मन संघीय गणराज्य (फेडरल रिपब्लिक ऑफ़ जर्मनी) की स्थापना की गई। पश्चिमी जर्मनी के इस नए राज्य की राजधानी बॉन को बनाया गया। पश्चिमी जर्मनी का शस्त्रीकरण भी फिर से आरंभ कर दिया गया, यद्यपि नाटो का सदस्य उसे 1955 में बनाया गया। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के चार साल के अंदर ही एक सैनिक गठबंधन कायम किया जाना एक बड़ी घटना थी जिससे पश्चिमी और सोवियत संघ की तनातनी और बढ़ी। पश्चिमी जर्मनी की रचना के कुछ ही महीने बाद जर्मनी का सोवियत क्षेत्र भी एक पृथक राज्य बन गया जो जर्मन जनवादी गणराज्य (जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक) कहलाया। इस प्रकार 1949 के अंत तक जर्मनी के विभाजन को औपचारिक रूप भी दिया जा चुका था और जर्मनी के दो अलग-अलग राज्य कायम हो चुके थे- दोनों एक दूसरे के शत्रु के रूप में। जर्मनी का यह विभाजन चालीस साल से ज़्यादा समय तक चला। आखिर 3 अक्टूबर 1990 को दोनों के एकीकरण के साथ यह विभाजन समाप्त हुआ।

1955 में जब पश्चिमी जर्मनी को नाटो का सदस्य बनाया गया तो सोवियत संघ तथा साम्यवादी दलों द्वारा शासित पूर्वी यूरोप के देशों ने एक सैनिक गठबंधन कायम किया जो वार्सा संधि संगठन (वार्सा पैक्ट) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'नाटो' देशों की ही तरह वार्सा संधि संगठन के देशों की अपनी एक संयुक्त-सैनिक कमान थी। इस बीच शीतयुद्ध जो आरंभ में यूरोप तक सीमित था, दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी फैल चुका था और नाटो के अलावा संयुक्त राज्य की अगुआई में विश्व के अन्य भागों में अन्य संधि संगठन कायम हो चुके थे।

सोवियत संघ का परमाणु शक्ति के रूप में उदय

द्वितीय विश्व युद्ध के अंत में संयुक्त राज्य सबसे प्रबल सैनिक शक्ति के रूप में उभरा था। चार वर्षों तक वह दुनिया का एकमात्र देश था जिसके पास परमाणु अस्त्र थे। परमाणु अस्त्रों पर एकाधिकार से उसमें निर्विवाद रूप से विश्व की सबसे बड़ी सैनिक शक्ति होने का भाव आ गया था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि जब हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराए गए, उसके पूर्व ही यह स्पष्ट हो चला था कि द्वितीय विश्व युद्ध अब समाप्त होने जा रहा है। इसलिए यह उस युद्ध की अंतिम कार्रवाई से कहीं ज़्यादा युद्धोत्तर दुनिया में संयुक्त राज्य की सैनिक सर्वोच्चता का प्रदर्शन था। उनकी राय है कि इन बमों से लैस होने के बल पर संयुक्त राज्य दुनिया को आतंकित करके उसे अपने आगे घुटने टेकने को मजबूर करना चाहता था। लेकिन 1949 में सोवियत संघ ने एक परमाणु परीक्षण किया और इसी के साथ इस अस्त्र पर संयुक्त राज्य का एकाधिकार ख़त्म हो गया। उसके बाद से अधिकाधिक विनाशकारी हथियारों का विकास शीतयुद्ध के एक भयावह परिणाम के रूप में सामने आया। इन हथियारों से अंतर्राष्ट्रीय तनावों और संघर्षों में और भी वृद्धि हुई। 1940 वाले दशक के समाप्त होते-होते शीतयुद्ध विश्व के अन्य भागों में भी फैलने लगा।

जासूसी का हौआ

सोवियत संघ द्वारा परमाणु बम के सफल परीक्षण की घोषणा उसने 'नाटो' के गठन के पाँच महिने बाद सितंबर 1949 में की। यह संयुक्त राज्य के सैनिक प्रभुत्व पर करारी चोट थी। यह समाचार सुनकर संयुक्त राज्य स्तंभित रह गया और इसका इस्तेमाल साम्यवाद के हौआ को और भी बढ़ा चढ़ा कर पेश करने के लिए किया गया। अगले कुछ वर्षों के दौरान संयुक्त राज्य में जो स्थिति उत्पन्न हुई उसे 'नास्तिक साम्यवाद के उद्भ्रांत भय का अतिरेक' कहा गया है। अमरीकी सरकार के कुछ नेताओं, अमरीकी कांग्रेस के कुछेक सदस्यों तथा जनसंचार माध्यमों के एक हिस्से ने सोवियत एजेंटों द्वारा संयुक्त राज्य के प्रशासन में पैठ बना कर उसकी सुरक्षा में सेंध लगाने की कहानियाँ प्रचारित करके और भी घबराहट पैदा कर दी। यह कहा गया कि परमाणु बम विकसित करने में सोवियत संघ को सफलता सिर्फ़ इसलिए मिली कि उसके जासूसों ने ब्रिटेन और संयुक्त राज्य के परमाणु रहस्यों की जानकारी हासिल कर ली। अनेक वैज्ञानिकों तथा परमाणु बम परियोजना से संबद्ध अन्य लोगों की वफ़ादारी में संदेह व्यक्त किया गया। उनमें से कुछ पर मुकदमें चला कर उन्हें

लंबे कारावास का ही नहीं, बल्कि मृत्युदंड तक दे दिया गया। उस समय के कुछ अग्रणी वैज्ञानिकों की राय थी कि यद्यपि जासूसी के आरोपों में सच्चाई है और कुछ परमाणु रहस्य सोवियत संघ के हाथ लग गए हैं, तथापि सोवियत संघ की परमाणु बम बनाने की वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकीय क्षमता में उससे कोई विशेष फ़र्क नहीं पड़ने वाला था क्योंकि सोवियत वैज्ञानिक इस बम का विकास करने में लगभग उसी समय से जुट गए थे जब संयुक्त राज्य के वैज्ञानिक इस काम में लगे थे। कई जाने माने व्यक्तियों ने यह भी कहा कि संयुक्त राज्य, ब्रिटेन और सोवियत संघ युद्ध के दौरान एक-दूसरे के मित्र थे और मित्र देशों के बीच रहस्यों के आदान-प्रदान को देशद्रोह नहीं कहा जा सकता, फिर भी जासूसी के हौए को खूब बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया गया ताकि सोवियत संघ के प्रति भय और शत्रुता की भावना को और भी भड़काया जा सके।

चीन में साम्यवाद की विजय

इसके शीघ्र बाद संयुक्त राज्य तथा उसके मित्र देशों को एक और बड़ा आघात लगा। 1 अक्तूबर 1949 को चीनी जनवादी गणतंत्र की स्थापना की गई। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य ने चीन को जापान के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए च्यांग काई-शेक की सरकार को विपुल मात्रा में शस्त्रास्त्र मुहैया कराए थे। जैसा कि तीसरे अध्याय में हम पढ़ चुके हैं, जब च्यांग काई-शेक को साम्यवादियों के ख़िलाफ़ लड़ने की बजाय जापान के विरुद्ध संघर्ष करने को प्राथमिकता देने को मजबूर कर दिया गया, तब वहाँ गृहयुद्ध कुछ काल के लिए स्थगित हो गया था। लेकिन च्यांग कोई-शेक की सरकार तथा चीनी साम्यवादी जापान के ख़िलाफ़ वास्तव में एक होकर नहीं लड़े, बल्कि युद्ध के दौरान सिर्फ़ इस बात का थोड़ा-बहुत दिखावा किया जाता रहा कि वे एक दूसरे के ख़िलाफ़ नहीं लड़ रहे हैं। जुलाई 1946 ई. में गृहयुद्ध फिर से शुरू हो गया। तीन साल से कुछ अधिक समय के दौर में च्यांग काई-शेक की सेना के पैर बिल्कुल उखड़ गए, हालाँकि संयुक्त राज्य से उसे बराबर अत्याधुनिक हथियार मिलते रहे थे। च्यांग काई-शेक अपनी बचीखुची सेना को लेकर ताइवान (फ़ार्मूसा) भाग गया जिसे द्वितीय विश्व युद्ध में जापान की पराजय के बाद उससे मुक्त करा लिया गया था।

दुनिया की सबसे बड़ी आबादी वाले देश में साम्यवादी विजय से साम्यवाद का भय और भी बढ़ गया। चीन से साम्यवादी शासन को उखाड़ फेंकना और च्यांग काई-शेक की सरकार को चीन की मुख्य भूमि में पुन: प्रतिष्ठित करना दुनिया के मामलों के संबंध में संयुक्त राज्य की नीति का एक प्रमुख लक्ष्य बन गया। लगभग दो दशकों तक संयुक्त राज्य चीन सरकार को मान्यता देने से इंकार करता रहा। अपने मित्र देशों के समर्थन से उसने चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ से भी बाहर रखा। संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के स्थान पर और संघ की सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य की जगह पर भी च्यांग काई-शेक की सरकार को प्रतिष्ठित रखा गया जबकि उसका कब्ज़ा चीन के मात्र एक द्वीप पर था और वह भी संयुक्त राज्य के समर्थन के बल पर। संयुक्त राज्य ने च्यांग काई-शेक की सरकार को शस्त्रास्त्रों से सज्जित करने का सिलसिला जारी रखा और उसे चीनी मुख्य भूमि पर आक्रमण करने के लिए वह तैयार करता रहा।

साम्यवाद के भय के कारण संयुक्त राज्य ने एशियाई देशों के मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया और इस तरह शीत युद्ध एशिया में भी फैल गया। संयुक्त राज्य, एशिया की कई सैनिक झड़पों और लड़ाइयों में भी उलझा। वह हर मसले को शीत युद्ध के दृष्टिकोण से देखने लगा। नतीजा यह हुआ कि वह उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ चलने वाले राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्षों के ख़िलाफ़ भी खड़ा हो गया। इसी तरह जो स्वतंत्र राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को सुदृढ़ करने में लगे हुए थे और दुनिया के मामलों में अपनी स्वतंत्र भूमिका का आग्रह लेकर चल रहे थे उनके विरोध में भी वह खड़ा हो गया।

कोरिया की लड़ाई

अमरीका विश्व युद्ध के बाद एशिया की जिस पहली लड़ाई में प्रत्यक्ष रूप से उतरा वह कोरिया की लड़ाई थी जो 1950 में आरंभ हुई थी। जापान की पराजय के फलस्वरूप जब कोरिया पर जापानी अधिकार का अंत हुआ तो वह दो अधिकृत क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया था। उत्तरी क्षेत्र सोवियत संघ के अधीन था और दक्षिणी संयुक्त राज्य के मातहत। 38 अक्षांश को दोनों की विभाजक रेखा माना गया। अगस्त 1948 में दक्षिणी कोरिया ने स्वयं को कोरियाई गणतंत्र घोषित कर दिया और सितंबर 1948 में उत्तर कोरिया ने अपने को कोरिया का जनवादी गणतंत्र घोषित कर दिया। सोवियत सेना

ने उत्तर कोरिया को सितंबर 1948 में और अमरीकी सेना ने दक्षिणी कोरिया को जून 1949 में छोड़ दिया। उत्तर कोरिया की सरकार का प्रधान कोरियाई साम्यवादी दल का नेता किम उल सुंग था और दक्षिणी कोरिया का दक्षिण पंथी राजनीतिज्ञ सिंगमन री था। दोनों में से किसी भी सरकार को कोरिया का विभाजन स्वीकार नहीं था और दोनों ने अपने देश को फिर से एक करना अपना लक्ष्य बताया। कठिनाई यह थी कि प्रत्येक का कहना था कि असली कोरिया हम हैं और इसलिए एकीकरण हमारी सरकार के अधीन है। जून 1950 में दोनों के बीच लड़ाई छिड़ गई। दोनों ने एक दूसरे को लड़ाई के लिए ज़िम्मेदार बताया। लेकिन सामान्यत: यह स्वीकार किया जाता है कि लड़ाई उत्तर कोरिया ने शुरू की। यही संयुक्त सुरक्षा परिषद् की भी राय थी जिसने उत्तर कोरिया के ख़िलाफ़ दक्षिण कोरिया को मदद देने का फ़ैसला किया। लेकिन स्मरणीय है कि सुरक्षा परिषद् का नियम था कि किसी भी कार्रवाई के लिए सभी स्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है और यह सहमति तथा दक्षिण कोरिया को मदद देने का फ़ैसला इसलिए संभव हुआ कि उन दिनों सोवियत संघ साम्यवादी चीन के संयुक्त राष्ट्रसंघ में शामिल न किए जाने के कारण संघ का बहिष्कार कर रहा था। दो महीने के अंदर उत्तर कोरिया की सेना लगभग पूरे दक्षिण कोरिया पर काबिज़ हो गई। दक्षिण कोरिया की राजधानी सोल पर उत्तर कोरिया का अधिकार लड़ाई छिड़ने के तीन दिन के अंदर ही हो गया था, लेकिन सुरक्षा परिषद् के हस्तक्षेप पर अधिकार प्राप्त करके संयुक्त राज्य ने बड़े पैमाने पर अपनी थलसेना, नौसेना तथा वायुसेना कोरिया में उतार दी। अमरीकी सेना ने उत्तर कोरियाई सेना को पीछे धकेल दिया। अब संयुक्त राज्य की सेना उत्तर कोरिया की भूमि पर लड़ रही थी। इसी समय चीनी सेना भी लड़ाई में उतर आई और अमरीकी सेना को पीछे हटना पड़ा। 1951 के मध्य से लड़ाई में गतिरोध पैदा हो गया। युद्ध विराम के लिए वार्ता चली जिसमें भारत ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जुलाई 1953 में युद्ध विराम संधि हो गई। फलत: लड़ाई से पहले की स्थिति फिर से कायम हो गई। इस लड़ाई में 1,42,000 अमरीकी सैनिक और संयुक्त राष्ट्र की ओर से इसमें भाग लेने वाले अन्य देशों के 17,000 सैनिक मारे गए। अनुमान है कि इस लड़ाई में लगभग 30-40 लाख कोरियाई मारे गए।

कोरिया की लड़ाई 1945 से बाद की सबसे बड़ी लड़ाई थी और यह पहली लड़ाई थी जिसमें संयुक्त राज्य ने बड़े पैमाने पर भाग लिया और उसके काफ़ी सैनिक हताहत हुए थे। द्वितीय विश्व युद्ध के पूरे दौर से संयुक्त राज्य के हताहतों की संख्या 3,00,000 लाख थी। लेकिन हताहतों की भारी संख्या के बावजूद स्मरणीय है कि यह एक स्थानीय लड़ाई थी। इस बात का पूरा ख़तरा था कि कहीं यह आम लड़ाई में न बदल जाए। कोरिया की लड़ाई में संयुक्त राज्य की सेना का कमांडर, जनरल मेकार्थर चीन पर आक्रमण करना चाहता था। संयुक्त राज्य द्वारा इस लड़ाई में परमाणु अस्त्रों के प्रयोग का ख़तरा भी उपस्थित हो गया था।

शीत युद्ध में तेज़ी

'कगारवाद' और 'भयोत्पादन' के सिद्धांत

कोरिया की युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर होने के पहले से ही शीतयुद्ध में तेज़ी आने लगी थी जिससे दूसरे क्षेत्रों में भी संघर्ष और लड़ाइयाँ छिड़ गई थीं। इन दिनों संयुक्त राज्य की विदेश नीति पर उसका विदेशी मंत्री (सैक्रेटरी ऑफ़ स्टेट) जान फ़ास्टर डल्लेस छाया हुआ था। इस पर वह 1953 से 1959 ई. तक रहा। वह संयुक्त राज्य की साम्यवाद के परिसीमन की नीति को अपर्याप्त मानता था और साम्यवाद को पीछे धकेलने की आक्रामक नीति की हिमायत करता था। इसके लिए वह जनता को साम्यवादी ज़ुल्म से छुटकारा दिलाना ज़रूरी समझता था। उसने कुछ ख़तरनाक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। इनमें से एक था 'व्यापक प्रतिशोध' का सिद्धांत जिसका मतलब परमाणु हथियारों का प्रयोग था। उसका दूसरा सिद्धांत था 'कगारवाद' (ब्रिकंमेनशिप)। इसका अर्थ यह था कि सोवियत संघ को धकेलकर युद्ध के कगार तक ले जाना ताकि उससे रियायतें हासिल की जा सकें। उसने घोषणा की कि "लड़ाई में उलझे बिना हालात को लड़ाई के कगार तक ले जाने की क्षमता" राजनेता का आवश्यक गुण है और 'अगर आप कगार तक जाने से डरते हैं तो फिर आप कहीं के नहीं रहेंगे'।

इस काल में शस्त्रीकरण की होड़ एक नई ऊँचाई पर पहुँच गई थी। नवंबर 1952 में संयुक्त राज्य ने प्रथम ताप परमाणु (थर्मोन्यूक्लियर) बम का परीक्षण किया। यह बम हाइड्रोजन बम के नाम से जाना जाता है। इसके शीघ्र बाद



'डरो मत, मैं कभी भी तुम्हें पीछे खींच सकता हूँ'। डल्लेस की ब्रिंकमैनशिप नीति पर बनाया गया एक अमरीकी व्यंग्यकार का चित्र जो *वाशिंगटन पोस्ट* में जनवरी 1956 में छपा था।

अगस्त 1953 में सोवियत संघ ने भी इसका परीक्षण किया। इन बमों की संहार शक्ति हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराए गए परमाणु बमों से लाखों गुना विकराल थी। दोनों शत्रु शक्तियों के ऐसे विनाशकारी हथियारों से लैस होने के कारण कगारवाद का सिद्धांत मानव जाति के अस्तित्व के लिए भीषण ख़तरा बन गया। लेकिन 'सुनिश्चित पारस्परिक विनाश' (म्युचुअली एश्योर्ड डिस्ट्रक्शन) तथा 'परमाणु भयोत्पादन' के सिद्धांतों के आधार पर इन हथियारों के विकास को उचित ठहराया गया। 'सुनिश्चित पारस्परिक विनाश' के सिद्धांत का मतलब यह था कि इन विनाशकारी हथियारों से लैस देश लड़ाई में इसलिए नहीं उतरेंगे कि उन्हें मालूम है कि यदि वे इन हथियारों के बल पर शत्रु देश को बरबाद करने में सफल हो गए तो दूसरा पक्ष स्वयं उन्हें भी नष्ट कर देगा। (अंग्रेज़ी में इस सिद्धांत का परिवर्णी शब्द 'मैड' (पागलपन) इसके सही मतलब की झलक देता है।)

'परमाणु भयोत्पादन' के सिद्धांत का अर्थ यह था कि परमाणु हथियारों से लैस होने से दूसरा देश भय के कारण उस पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं करेगा। इसी सिद्धांत में विश्वास के कारण ब्रिटेन ने 1957 में अपनी 'स्वतंत्र भयोत्पादन' क्षमता का विकास किया। बाद में फ्रांस और चीन ने भी यही किया।

एशिया में सैनिक संधियाँ

संयुक्त राज्य ने दुनिया के हर हिस्से में सैनिक संधि संगठन कायम करना आरंभ कर दिया। साथ ही वह सोवियत संघ तथा चीन के चारों ओर अपने सैनिक अड्डे भी बनाने लगा। 1954 में दक्षिण पूर्व एशिया संधि संगठन (साउथ ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गेनाईज़ेशन-सिएटो) स्थापित किया गया जिसमें ऑस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, फ्रांस, न्यूज़ीलैंड, पाकिस्तान, थाईलैंड, फिलिपाइंस, तथा संयुक्त राज्य शामिल थे। इसके शीघ्र बाद बग़दाद समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके फलस्वरूप संयुक्त राज्य के साथ ईरान, इराक, तुर्की और पाकिस्तान एक सैनिक गठबंधन में शामिल हो गए। जब इराक में क्रांति हुई और इराक इस गठबंधन से अलग हो गया तो इस गठबंधन का नाम केंद्रीय संधि संगठन (सेंट्रल ट्रीटी आर्गेनाइज़ेशन-सेंटो) रखा गया। इन संधि संगठनों का इस्तेमाल एशिया में कई अलोकतांत्रिक सरकारों को सत्तारूढ़ रखने के लिए किया गया। इन देशों को जो शस्त्रास्त्रों की भारी मदद दी गई उससे इनके तथा उन पड़ोसी देशों के बीच तनाव पैदा हुआ जो इन संधि संगठनों में शामिल होने को राज़ी नहीं हुए। संधि संगठनों से दूर रहनेवाले देश इन संगठनों को अपने-अपने क्षेत्र और पूरी दुनिया में तनाव की जड़ तथा अपनी आज़ादी के लिए ख़तरा मानते थे। इसी संदर्भ में गुट-निरपेक्ष आंदोलन का जन्म हुआ। जो देश दुनिया के मामलों में अपनी स्वतंत्र भूमिका जारी रखना चाहते थे और तनावों को कम करने के लिए सक्रिय रूप से कुछ करना चाहते थे वे गुटनिरपेक्ष हो गए अर्थात् उन्होंने इन सैनिक गठबंधनों में शामिल होने से इनकार कर दिया। डल्लेस ने गुटनिरपेक्षता को 'अनैतिक' कहकर उसकी निंदा की।

सी.आई.ए. की भूमिका

एशियाई देशों की राष्ट्रवादी शक्तियों से भी संयुक्त राज्य उलझ गया, ख़ासकर उन देशों में जहाँ ये शक्तियाँ आमूल

परिवर्तनवादी सामाजिक बदलावों की हिमायत करती थीं। ऐसी सभी शक्तियों को संयुक्त राज्य साम्यवादी या साम्यवादियों के मित्र मानता था। भारी सहायता, ख़ासतौर से सैनिक सहायता, देकर अलोकप्रिय दक्षिणपंथी शासनों को, यहाँ तक कि सैनिक तानाशाहियों को भी, समर्थन देने की कोशिशें की गईं। ईरान से उत्तर अफ्रीका तक का क्षेत्र अपने तेल भंडारों के कारण ख़ास महत्व का क्षेत्र बन गया। इस क्षेत्र में तेल निकालने का काम और तेल शोधक कारख़ाने पश्चिमी देशों, ख़ास तौर से ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य, के नियंत्रण में थे। पश्चिमी देशों की अर्थव्यवस्थाओं के लिए इस नियंत्रण को अत्यंत महत्वपूर्ण समझा जाता था और इस नियंत्रण को कायम रखना उनकी विदेश नीति का उचित लक्ष्य माना जाता था। जिन सरकारों ने अपने विकास के लिए अपने प्राकृतिक संसाधनों पर अपना अधिकार स्थापित करने की कोशिश की, उनमें अंदर से अव्यवस्था फैलाने का प्रयत्न किया गया। इस तरह की अव्यवस्था फैलाने और तोड़-फोड़ करने का काम करने वाला एक बड़ा अभिकरण संयुक्त राज्य का केंद्रीय गुप्तचर संगठन (सेंट्रल इंटैलिजेंस एजेंसी-सी.आई.ए.) था जिसकी स्थापना 1947 में की गई थी। सी.आई.ए. के अधिकार में विशाल कोष था जिसके व्यय की कोई सार्वजनिक छान-बीन नहीं की जा सकती थी। अपने गुप्तचरों के दूर-दूर तक फैले जालों के ज़रिए वह न केवल गोपनीय ज़ानकारियाँ हासिल करता था बल्कि अन्य देशों की सरकारों के ख़िलाफ़ गुप्त रूप से अर्धसैनिक कार्रवाइयाँ भी करता था।

1951 में ईरान की मजलिस (संसद) ने ब्रिटिश नियंत्रित कंपनी एंग्लो-ईरानियन ऑयल कंपनी के राष्ट्रीयकरण का आदेश जारी कर दिया। मुहम्मद मुस्सदिक को ईरान का प्रधानमंत्री बनाया गया था। संयुक्त राज्य को यकीन था कि मुस्सदिक सोवियत संघ का मित्र है। सो एक साज़िश के ज़रिए मुस्सदिक सरकार का तख़्ता पलट दिया गया जिसमें सी.आई.ए. ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ईरान के शाह मुहम्मद रज़ा पहलवी ने अमरीकी सहायता से अपनी निरंकुश सत्ता स्थापित कर ली। एक सैनिक संधि के माध्यम से शाह अमरीका से घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा हुआ था। उसने संयुक्त राज्य की तेल कंपनियों को ईरान के तेल भंडारों का विकास करने के लिए अनेक रियायतें दीं। शाह का निरंकुश शासन आगे पच्चीस वर्षों से अधिक समय तक चला। आख़िर इस्लामी क्रांति के बाद उसे ईरान की अपनी गद्दी से हाथ धोना पड़ा।

वियतनाम युद्ध

फ्रांसीसियों की घोर पराजय

साम्यवाद के परिसीमन की नीति के कारण संयुक्त राज्य को वियतनाम में एक लंबी लड़ाई में उलझना पड़ा। तीसरे और चौथे अध्यायों में हिंद-चीन (इंडो-चाइना) में राष्ट्रवादी आंदोलन के उदय और विकास का उल्लेख किया जा चुका है। 2 सितंबर 1954 को हो ची मिन्ह ने वियतनाम की स्वतंत्रता और वियतनामी जनवादी गणतंत्र की स्थापना की घोषणा की थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद फ्रांसीसियों ने वहाँ फिर से अपना शासन स्थापित करने की कोशिश की। इस काम में ब्रिटेन ने-और बाद में संयुक्त राज्य ने भी उन्हें सहायता दी। इस प्रकार 1946 से फ्रांस इस लड़ाई में उलझ गया। वियतनाम में राष्ट्रवादी शक्तियों का नेतृत्व चूँकि साम्यवादी दल प्रदान कर रहा था, इसलिए डल्लेस ने वियतनाम की लड़ाई में

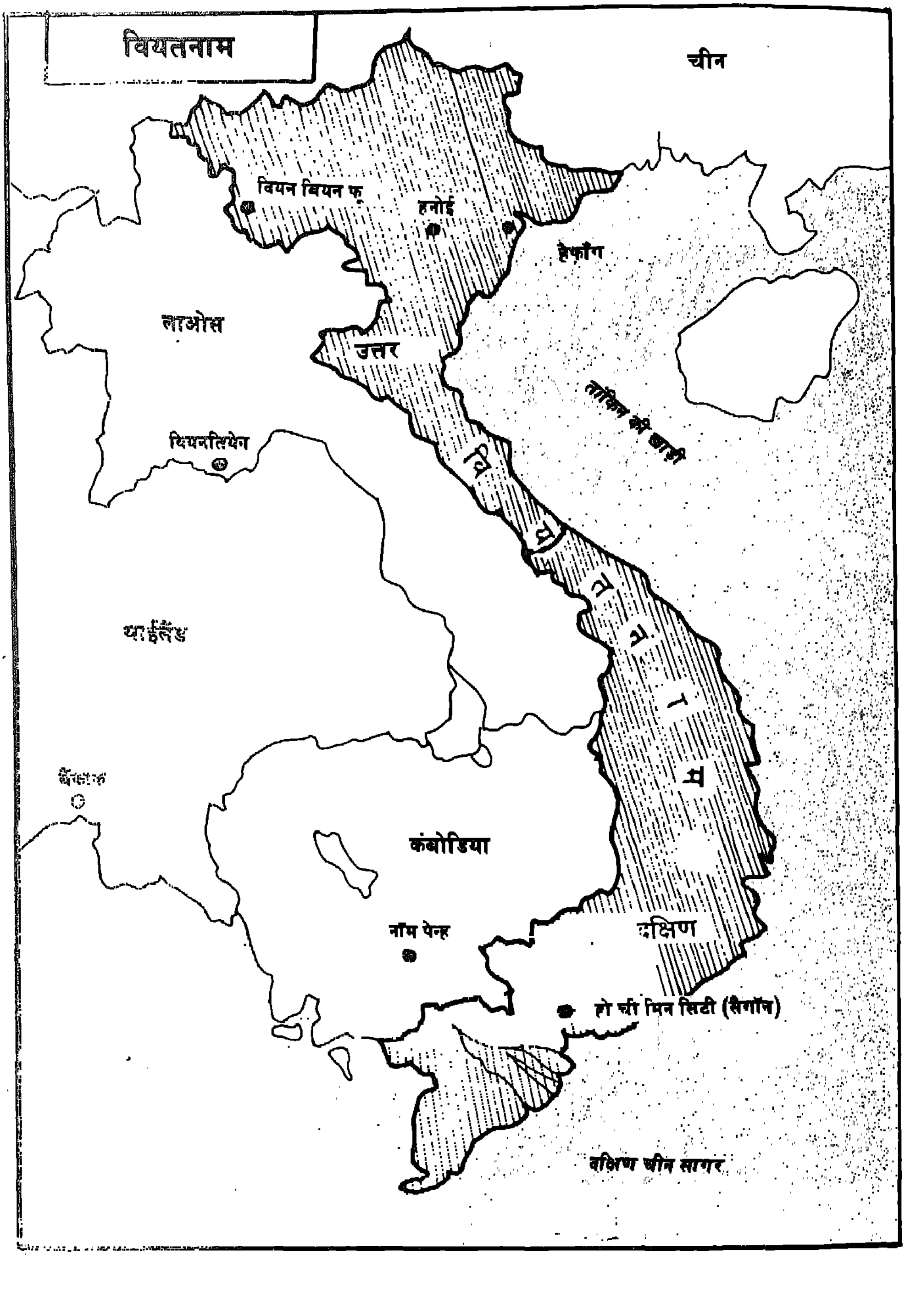


वियतनाम में दीएन बिएन फू पर फ्रांस के घायल सैनिक

अमरीका ने प्रत्यक्ष रूप से शरीक होने की हिमायत की और वह फ़्रांस पर लड़ाई जारी रखने का दबाव डालता रहा। इस लड़ाई में फ़्रांस को संयुक्त राज्य की सहायता मिलने लगी। हो ची मिन्ह के नेतृत्व में वियतनामी सेना को सोवियत संघ तथा चीन से सहायता प्राप्त हुई। लेकिन वहाँ की सेना मुख्य रूप से अपनी शक्ति पर और अपने देश के अंदर प्राप्त



अमरीका द्वारा बमबारी के बाद अमरीकी सैनिक वियतनाम के एक ध्वस्त गाँव में


वियतनाम
चीन
वियन वियन फू
हनोई
हेफांग
लाओस
उत्तर
तोंकिन की खाड़ी
वियनतियेन
थाईलैंड
बैंकाक
कंबोडिया
नॉम पेन्ह
दक्षिण
हो ची मिन सिटी (सैगॉन)
दक्षिण चीन सागर

जन-समर्थन पर भरोसा करके चली। 1954 में फ्रांसीसी सेना को घोर पराजय का मुँह देखना पड़ा। वियतनामियों ने दीएन बिएन फू नामक स्थान में 12,000 फ्रांसीसी सैनिकों को घेर लिया। इस अवसर पर राष्ट्रपति आइज़नहॉवर ने ड्‌लेस की यह सलाह मानने से इनकार कर दिया कि संयुक्त राज्य को अपनी सेना वहाँ भेजनी चाहिए। 1954 में जेनेवा में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार वियतनाम पर फ्रांसीसी शासन समाप्त हो गया। वियतनाम को अस्थायी तौर पर उत्तर वियतनाम और दक्षिण वियतनाम–दो हिस्सों में बाँट दिया गया लेकिन चुनावों के बाद देश को एक कर दिया जाना था। तय किया गया कि 1956 में चुनाव होंगे।

वियतनाम युद्ध में संयुक्त राज्य

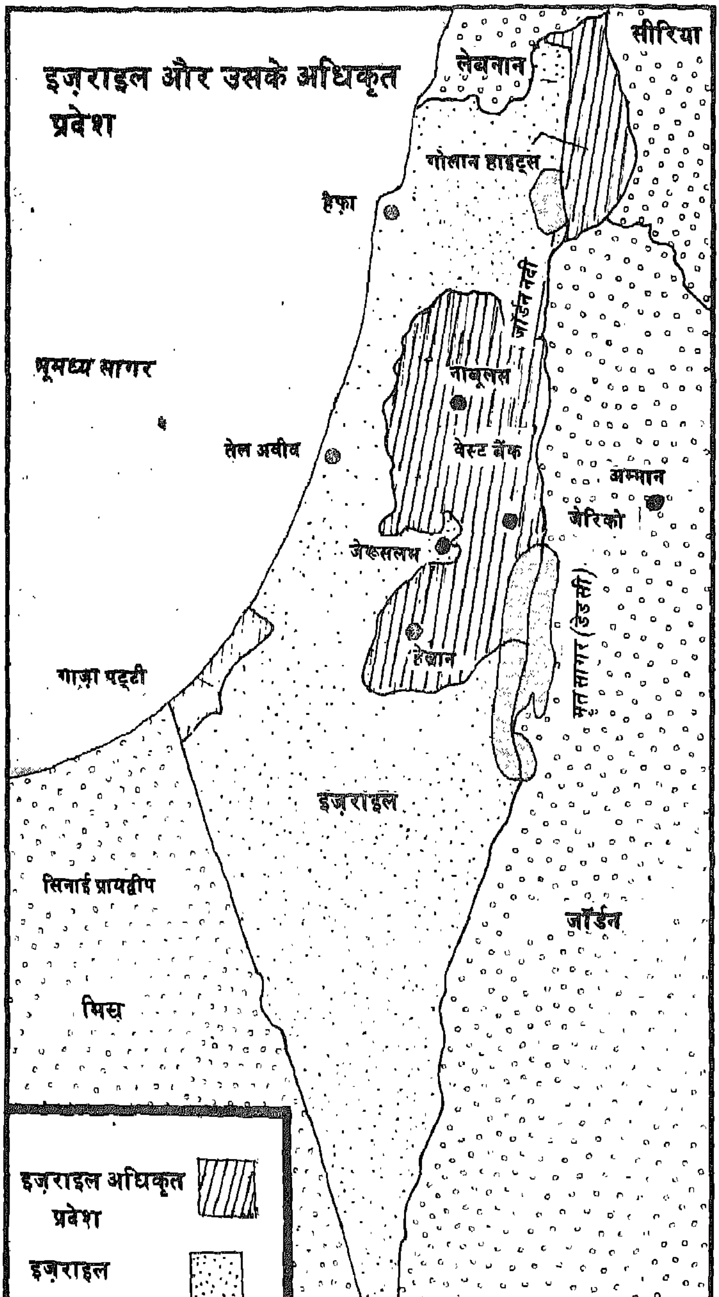
तथापि संयुक्त राज्य ने न्गो दिन दीम के तानाशाही और भ्रष्ट शासन के अधीन दक्षिण वियतनाम को एक स्वतंत्र राज्य के रूप में खड़ा करना आरंभ कर दिया। सबको विश्वास था कि हो-ची-मिन्ह का दल चुनावों में विजयी होगा। संयुक्त राज्य की सलाह पर और उसके समर्थन के बल पर दीम ने चुनाव कराने के निर्णय का पालन करने से इनकार कर दिया। संयुक्त राज्य ने दक्षिण वियतनामी सेना को उत्तर वियतनामी सेना के प्रतिरोध के लिए और दक्षिण वियतनामी छापामारों को कुचलने के लिए तैयार करना शुरू कर दिया। संयुक्त राज्य के समर्थन के बावजूद अपनी बढ़ती अलोकप्रियता के कारण दीम की सरकार 1963 में पतन के कगार पर पहुँच गई। आख़िर संयुक्त राज्य समर्थित एक सैनिक तख़्तापलट के द्वारा उसका शासन समाप्त कर दिया गया।

संयुक्त राज्य की सरकार दक्षिण वियतनाम में साम्यवाद विरोधी शासन कायम रखने की नीति से अधिकाधिक प्रतिबद्ध होती चली गई। संयुक्त राज्य के नीति निर्माताओं ने इस संदर्भ में एक ख़ास सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसे 'डोमिनो' के सिद्धांत की संज्ञा दी गई। इस सिद्धांत के अनुसार अगर दक्षिण वियतनाम साम्यवादियों के अधिकार में चला गया तो अन्य सारे देश भी पस्त हो कर साम्यवादी शासन के अधीन चले जाएँगे और अंत में साम्यवाद पूरे एशिया में फैल जाएगा। संयुक्त राज्य ने अब अपने सैनिकों को वियतनाम भेजना शुरू कर दिया। आरंभ में तो संयुक्त राज्य ने अपने सैनिकों को सैनिक सलाहकारों के रूप में ही भेजा, लेकिन धीरे-धीरे नियमित लड़ाकू सैनिकों को भी भेजने लगा। 1967 के अंत तक वियतनाम में लड़ने वाले अमरीकी सैनिकों की संख्या पाँच लाख पर पहुँच गई। हिसाब लगाकर देखा गया है कि 1967 तक संयुक्त राज्य ने वियतनामी क्षेत्रों पर जितने बम गिराए उनकी शक्ति पूरे द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान समूचे यूरोप पर गिराए गए बमों की शक्ति से अधिक थी।



वियतनाम में अमरीकी युद्ध के विरुद्ध न्यूयार्क में एक प्रदर्शन

वियतनाम में संयुक्त राज्य द्वारा चलाई जानेवाली लड़ाई संयुक्त राज्य के इतिहास की सबसे अलोकप्रिय लड़ाई थी। सारी दुनिया के लोगों ने उसकी निंदा की। यहाँ तक कि संयुक्त राज्य के लोगों ने भी अपनी सरकार की भर्त्सना


इज़राइल और उसके अधिकृत प्रदेश
लेबनान
सीरिया
गोलान हाइट्स
हैफ़ा
जॉर्डन नदी
भूमध्य सागर
नाब्लस
वेस्ट बैंक
तेल अवीव
अम्मान
जेरिको
जेरूसलम
हेब्रान
मृत सागर (डेड सी)
गाज़ा पट्टी
इज़राइल
सिनाई प्रायद्वीप
जॉर्डन
मिस्र
इज़राइल अधिकृत प्रदेश
इज़राइल

की। 1945 के बाद से दुनिया के लोगों में और किसी भी एक घटना को लेकर उतना अधिक मतैक्य नहीं हुआ था जितना कि अमरीका के वियतनाम युद्ध के विरोध में हुआ। आख़िर 1973 में संयुक्त राज्य की सेना वियतनाम से हट गई। अप्रैल 1975 ई. तक दक्षिण वियतनाम सेना के पैर पूरी तरह से उखड़ गए और उसी के साथ बचे-खुचे अमरीकी सैनिक सलाहकार भी वहाँ से कूच कर गए। इस लड़ाई में 58,000 अमरीकी सैनिक मारे गए और 300,000 घायल हुए। सैनिक-असैनिक वियतनामी हताहतों की संख्या इससे बहुत अधिक थी। पूरा देश तबाह हो गया था। इसके शीघ्र बाद वियतनाम एकीकृत राष्ट्र के रूप में उदित हुआ। एशिया के एक छोटे से देश के हाथों दुनिया की सबसे बड़ी सैनिक शक्ति की पराजय समकालीन विश्व के इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना थी।

अरब संसार

इज़राइल एक प्रमुख तत्व के रूप में

युद्धोत्तर काल में अरब संसार में संघर्षों का मुख्य कारण संयुक्त राज्य तथा उसके मित्र देशों की अरब राष्ट्रवाद के प्रसार को रोकने की नीति थी। यह काम इस क्षेत्र में साम्यवाद के विस्तर और सोवियत प्रभाव के प्रसार को रोकने के नाम पर किया गया। इस क्षेत्र के तेल संसाधनों पर अपना नियंत्रण कायम रखने के पश्चिमी देशों के संकल्प का उल्लेख ऊपर किया जा चुका हे। इस क्षेत्र में तनाव का दूसरा मुख्य कारण नया राज्य इज़राइल था जो अमरीका का मित्र देश भी था। फ़िलस्तीन में यहूदियों के आव्रजन और वहाँ एक यहूदी गृहराष्ट्र की स्थापना के प्रश्न पर ब्रिटेन तथा अरब राष्ट्रवाद के बीच के संघर्षों का हवाला ऊपर दिया जा चुका है। नवंबर 1947 में संयुक्त राष्ट्र संघ फ़िलस्तीन को एक अरब राज्य और एक यहूदी राज्य के रूप में बाँटने पर राज़ी हो गया था। लेकिन फ़िलस्तीन का विभाजन हो पाता, इसके पूर्व ही 14 मई 1948 को ब्रिटेन फ़िलस्तीन से जो मेंडेट के रूप में उसके शासन के अधीन था, हट गया। अब यहूदियों ने इज़राइल के यहूदी राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। संयुक्त राज्य नें अगले ही दिन इस राज्य को मान्यता दे दी। इस राज्य की स्थापना के बाद अरब-इज़राइल युद्ध छिड़ गया, जिसमें अरब लोग पराजित हुए। फ़िलस्तीनी अरबों से उनकी ज़र-ज़मीनें छीन ली गईं और उनमें से 10 लाख से अधिक लोगों को अन्य अरब देशों में शरणार्थियों के रूप में शरण लेनी पड़ी। जॉर्डन (भूतपूर्व ट्रांसजॉर्डन) 1946 में एक स्वतंत्रशाही राज्य बन गया था। 1949 में उसने फ़िलस्तीन के जॉर्डन नदी से पश्चिम में पड़ने वाले प्रदेशों (जो वैस्ट बैंक या पश्चिमी तट के नाम से प्रसिद्ध हैं) पर कब्ज़ा कर लिया। संयुक्त राज्य की सहायता से इज़राइल को इस क्षेत्र के एक शक्तिशाली राज्य के रूप में विकसित किया जाने लगा। अरब राज्यों ने इज़राइल को मान्यता देने से इनकार कर दिया। अरब राष्ट्रवादी इज़राइल को अरब राष्ट्रवाद की उभरती हुई शक्ति पर अंकुश लगाने के साधन के रूप में देखते थे।

स्वेज़ की लड़ाई

गमाल अब्दुल नासिर के नेतृत्व में मिस्र 1950 और 1960 वाले दशकों में राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करता था। 1954 में ब्रिटेन से कहा गया कि वह मिस्र से अपनी सेना हटा ले। इन्हीं दिनों मिस्र ने सोवियत संघ से प्राप्त शस्त्रास्त्रों के बल पर अपनी स्वतंत्र सैनिक शक्ति का विकास करना आरंभ कर दिया। संयुक्त राज्य ने नील नदी पर अस्वान बाँध बनाने में मिस्र को सहायता देने की तत्परता दिखाई थी, लेकिन जब मिस्र सोवियत शस्त्रास्त्र प्राप्त करने लगा तो अस्वान बाँध के लिए अमरीकी सहायता रोक दी गई। 26 जुलाई 1956 को स्वेज़ नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। 29 अक्तूबर, 1956 को इज़्राइल ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया और अगले दिन वहाँ ब्रिटिश और फ़्रांसीसी फ़ौजें स्वेज़ नहर पर कब्ज़ा करने के लिए उतार दी गईं। ब्रिटेन, फ़्रांस और इज़्राइल—इन तीन देशों का इस तरह मिस्र पर हमला करना पूरी दुनिया को, जिनमें ब्रिटिश और फ़्रांसीसी भी शामिल थे, बहुत बुरा लगा। संयुक्त राज्य के समर्थन से संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी आक्रमण की निंदा की। 5 नवंबर को सोवियत संघ ने आक्रमणकारियों को अंतिम चेतावनी दी कि वे मिस्र से चले जाएँ अन्यथा उसकी रक्षा के लिए वह अपने प्रक्षेपास्त्रों का प्रयोग करेगा। 7 नवंबर 1956 को वहाँ ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सैनिक कार्रवाई समाप्त हो गई और उनकी सेनाएँ



1956 में पोर्ट सईद (मिस्र) छोड़ती हुई ब्रिटिश फ़ौजें

अपने-अपने देशों को लौट गईं। मिस्र और इज़्राइल युद्ध विराम पर सहमत हो गए।

आइज़नहावर सिद्धांत

मिस्र में 1956 की लड़ाई की समाप्ति का स्वागत अरब राष्ट्रवाद की जीत के रूप में किया गया। इससे इस क्षेत्र में सोवियत प्रभाव की भी अभिवृद्धि हुई। अब मिस्र अस्वान बाँध बनाने के निमित्त सहायता के लिए सोवियत संघ की ओर मुड़ा। नासिर ने विभिन्न अरब राज्यों को एकमत करके अरब एकता स्थापित करने की भी कोशिश की। इन घटनाओं से चिंतित होकर संयुक्त राज्य ने एक सिद्धांत की घोषणा की जो संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति आइज़नहॉवर के नाम पर 'आइज़नहॉवर सिद्धांत' के रूप मे विख्यात हुआ। इस सिद्धांत के अनुसार संयुक्त राज्य ने इस क्षेत्र को अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद से बचाने के लिए इसे आर्थिक तथा सैनिक सहायता देने का निश्चय किया। लेकिन जुलाई 1958 में इराक में पश्चिमी समर्थक सरकार का तख़्ता पलट दिया गया। संयुक्त राज्य तथा ब्रिटेन की सेनाएँ लेबनान और जॉर्डन को भेजी गईं ताकि उन देशों की पश्चिम समर्थक सरकारों को गिरने से बचाया जा सके। संयुक्त राज्य ने इज़राइल को शस्त्र सज्जित करना भी जारी रखा।

अरब-इज़राइल युद्ध

1967 में इज़राइल के साथ मिस्र, जॉर्डन तथा सीरिया के बीच एक और लड़ाई छिड़ गई। इसे छह दिवसीय युद्ध के नाम से जाना जाता है। अरब राज्यों की हार हुई और इज़राइल ने सिनाई प्रायद्वीप में मिस्र के इलाकों पर, जौर्डन नदी के पश्चिमी तट पर, जौर्डन के प्रदेश तथा गाज़ा पट्टी पर और गोलन हाइट्स नामक सीरिया की भूमि के एक हिस्से पर कब्ज़ा कर लिया। इज़राइल ने पूरे यरोशलम (जेरूसलम) नगर पर भी अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। 1973 में एक तीसरा अरब-इज़राइल युद्ध हुआ। इस लड़ाई के दौरान तेल उत्पादक अरब राज्यों ने घोषणा की कि जो भी देश इज़राइल को समर्थन दे रहे हैं, उन्हें वे तेल भेजना बंद कर देंगे। ऐसे देशों में मुख्यत: संयुक्त राज्य तथा उसके नाटो के मित्र देश शामिल थे। नाटो के यूरोपीय सदस्यों ने इज़राइल को समर्थन देने में संयुक्त राज्य का साथ देने से इनकार कर दिया। अंत में स्वयं संयुक्त राज्य को भी युद्ध विराम के लिए इज़राइल को राज़ी करना पड़ा।

इज़राइल ने 1956, 1967 और 1973 की लड़ाइयों में जिन अनेक अरब इलाकों को अधिकार में कर लिया था, उन्हें ख़ाली करने से उसने इनकार कर दिया। लेकिन हाल

के महीनों में इज़राइल, अरब राज्यों तथा फ़िलस्तीनियों के बीच जो वार्ताएँ चलती रही हैं उनसे इस क्षेत्र में शांति की संभावनाओं के द्वार खुल गए प्रतीत होते हैं।

क्यूबा में प्रक्षेपास्त्र संकट

द्वितीय विश्व युद्धोत्तर दुनिया के लिए एक सबसे गंभीर संकट क्यूबा में परमाणु प्रक्षेपास्त्रों को स्थापित करने को लेकर उत्पन्न हुआ। परमाणु अस्त्रों के विकास के साथ-साथ उन्हें प्रक्षेपित करने की नई प्रणालियों का भी विकास किया जा रहा था। इस प्रयोजन के लिए विशेष प्रक्षेपास्त्रों का विकास किया गया। परमाणु अस्त्रों से लैस इन प्रक्षेपास्त्रों या राकेटों से दुनिया के किसी भी हिस्से में हज़ारों किलोमीटर दूर तक बिल्कुल सही निशाना लगाया जा सकता था। संयुक्त राज्य ने दुनिया के विभिन्न हिस्सों में अपने जो सैनिक अड्डे बनाए थे उनमें सोवियत संघ को निशाना बनाकर अपने प्रक्षेपास्त्र भी स्थापित कर दिए थे। सोवियत संघ के पास सामान्यतः ऐसे बाहरी सैनिक अड्डे नहीं थे और उसके प्रक्षेपास्त्रों के ठिकाने उसके अपने ही क्षेत्र के अंदर थे। दोनों पक्षों के पास परमाणु प्रक्षेपास्त्रों से सज्जित पनडुब्बियाँ भी थीं। आरंभ में इन प्रक्षेपास्त्रों की मार कम दूरी तक पहुँचती थी यानी कुछ सौ किलोमीटर तक। इसलिए शत्रु देश के प्रदेशों के निकट अड्डे बनाना ज़रूरी था। दूसरे देशों के रहस्यों की जानकारी हासिल करने के लिए नई प्रौद्योगिकी का भी विकास किया गया था। उदाहरण के लिए ऐसे विमान बनाए गए थे जो बहुत ऊँचाई पर बड़ी तेज़ी से उड़ते हुए भी शत्रु देश के इलाकों की बिल्कुल हू-ब-हू तस्वीरें उतार सकते थे जिनसे न केवल सेना, टैंकों, हवाई अड्डों, उद्योगों आदि के ठीक ठिकानों का पता चल जाता बल्कि इस बात की भी बिल्कुल सही जानकारी मिल सकती थी कि प्रक्षेपास्त्र कहाँ-कहाँ तैनात हैं।

जनवरी 1959 में फ़िदेल कास्त्रो के नेतृत्व में क्यूबा में एक क्रांति हुई। जब नई सरकार ने आमूल परिवर्तनवादी सामाजिक तथा आर्थिक कदम उठाने शुरू किए, भूमि विषयक सुधार लागू किए और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना आरंभ किया तो संयुक्त राज्य ने उसके प्रति शत्रुता का रुख अपना लिया। इसका एक और कारण यह भी था कि नई सरकार रूस के साथ मैत्री संबंध बनाने लगी थी। जनवरी 1961 में संयुक्त राज्य ने क्यूबा के साथ अपना कूटनीतिक संबंध तोड़ दिया और उसके साथ अपने सारे आर्थिक रिश्ते भी समाप्त कर दिए। अप्रैल 1961 में उसने क्यूबा सरकार को अपदस्थ करने के इरादे से पिग्स की खाड़ी के तट पर 2000 क्यूबाई देश-निष्कासितों को उतार दिया। लेकिन यह आक्रमण विफल रहा और उसे दो दिनों में ही बिल्कुल कुचल दिया गया। यद्यपि सारी दुनिया ने क्यूबा पर संयुक्त राज्य के आक्रमण की निंदा की तथापि वह क्यूबा सरकार को अपदस्थ करने का इरादा छोड़ने को तैयार नहीं था। उस समय के अमरीकी राष्ट्रपति जॉन एफ़ केनेडी ने पिग्स की खाड़ी के आक्रमण की विफलता के बाद घोषणा की थी कि हम क्यूबा को साम्यवादियों के हाथों में छोड़ने को तैयार नहीं हैं। अक्तूबर 1962 के संकट की यही पृष्ठभूमि थी।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सोवियत संघ अमरीकी सैनिक अड्डों से घिरा हुआ था जिनमें से कुछ में परमाणु प्रक्षेपास्त्र भी तैनात थे लेकिन सोवियत संघ का कोई अड्डा संयुक्त राज्य के प्रदेशों के आसपास नहीं था। अक्तूबर 1962 में संयुक्त राज्य को अपने जासूसी विमानों से मालूम हुआ कि सोवियत संघ क्यूबा में, जो संयुक्त राज्य के दक्षिणी छोर से सिर्फ़ 150 किलोमीटर की दूरी पर है, प्रक्षेपास्त्र ठिकानों का निर्माण कर रहा है। संयुक्त राज्य ने अब तक जितनी भी लड़ाइयाँ लड़ी थीं, सब उससे काफ़ी दूर लड़ी गई थीं और उसकी अपनी भूमि उनसे सर्वथा अछूती रही थी। क्यूबा में प्रक्षेपास्त्रों की तैनातगी से संयुक्त राज्य की अपनी भूमि भी हमले की गिरफ़्त में आ जाती। इसे संयुक्त राज्य की सुरक्षा के लिए गंभीर ख़तरा माना गया।

जो कुछ संयुक्त राज्य बहुत दिनों से करता आ रहा था, वही अब सोवियत संघ ने पहली बार किया था, यानी अब पहली बार वह किसी अन्य देश में अपना सैनिक अड्डा स्थापित करने जा रहा था। लेकिन इससे संयुक्त राज्य तथा सोवियत संघ के बीच लड़ाई का ख़तरा पैदा हो गया। दोनों के बीच विभिन्न तनावों और संघर्षों के बावजूद सीधी लड़ाई की नौबत कभी नहीं आई थी। इस लड़ाई से पूरी मानवता ख़तरे में पड़ जाती। 22 अक्तूबर 1962 को राष्ट्रपति केनेडी ने क्यूबा की नौसैनिक तथा हवाई नाकेबंदी की घोषणा कर

दी जिसका मतलब यह था कि क्यूबा की ओर जाने वाले हर विमान या जहाज़ को संयुक्त राज्य रोकेगा। उसने क्यूबा के प्रक्षेपास्त्र ठिकानों पर हमले की भी तैयारी कर ली। लेकिन दुनिया को विनाश के कगार तक ले आने वाला यह संकट 26 अक्तूबर को समाप्त हो गया। उस दिन सोवियत प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव ने राष्ट्रपति केनेडी को संदेश भेजा कि अगर संयुक्त राज्य क्यूबा पर आक्रमण न करने का वचन दे तो सोवियत संघ वहाँ से अपने प्रक्षेपास्त्र हटा लेगा। संयुक्त राज्य सोवियत संघ के निकट तुर्की में प्रस्थापित अपने प्रक्षेपास्त्र हटाने को भी राज़ी हो गया।

शीत युद्ध का अंत

ऊपर हमने कहा है कि दुनिया अब शीत युद्धोत्तर युग में प्रवेश कर चुकी है। 1950 वाले दशक से तनावों को कम करने की अनेक कोशिशें की गईं और अतीत में कई अवसरों पर ऐसा लगा कि दोनों गुट तनावों में कमी के युग में प्रवेश कर गए हैं। हम इस बात का भी उल्लेख कर चुके हैं कि गुट निरपेक्ष आंदोलन ने शांति का वातावरण तैयार करने में निर्णायक भूमिका निभाई। हालाँकि ऐसी बहुत-सी घटनाएँ हुईं जिनसे लगता था कि तनाव में कमी का दौर शुरू हो गया है, लेकिन उनके तुरंत बाद कुछ ऐसी बातें हो जाती थीं जिनसे नए संघर्ष खड़े हो जाते थे।

तनातनी की नीति को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभानेवाली बातों में एक इस बात की अनुभूति निहित थी कि मानव इतिहास के पहले के किसी भी दौर के विपरीत आज संपूर्ण युद्ध के लिए तत्परता अंतर्राष्ट्रीय मामलों को सुलझाने का आधार नहीं हो सकती। परमाणु युद्ध के प्रभावों पर प्रचार की गई वैज्ञानिकों की रिपोर्टों और शस्त्रीकरण की होड़ तथा सुनिश्चित पारस्परिक विनाश एवं परमाणु भयोत्पादन के सिद्धांतों के ख़िलाफ़ उनके द्वारा उठाई गई आवाज़ तथा विश्व के प्रत्येक भाग में युद्ध विरोधी आंदोलनों ने तनाव में कमी का वातावरण तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गुट निरपेक्ष आंदोलन आरंभ से ही निःशस्त्रीकरण पर ज़ोर देता रहा था ताकि सुलभ विशाल संसाधनों का उपयोग विकास तथा दुनिया के दुख-दैन्य को मिटाने के लिए किया जा सके।

1960 के दशक के आरंभ से ही कठोर सैनिक गठबंधनों के टूटने के लक्षण प्रकट हो रहे थे। 1956 से सोवियत नेता शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व पर ज़ोर देने लगे थे। 1950 वाले दशक के अंतिम वर्षों में साम्यवादी आंदोलन में जो विभेद पैदा होना शुरू हुआ, उसके कारण साम्यवाद के विस्तार के ख़तरे के सिद्धांत का आकर्षण काफ़ी कुछ समाप्त हो गया। सोवियत संघ और चीन की शत्रुता के कारण साम्यवाद से भय में कमी आई क्योंकि अब पहले की तरह उसे कोई पूर्णतः ऐक्यबद्ध शक्ति नहीं माना जाता था। 1961 में अलबानिया वार्सा समझौते से अलग हो गया और रोमानिया सोवियत संघ से स्वतंत्र विदेश नीति का अनुसरण करने लगा। 1970 वाले दशक के आरंभिक दौर में चीन के साथ संयुक्त राज्य के संबंधों में सुधार आया और 1971 में चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश मिल गया। संयुक्त राज्य की अगुआई में बनाए गए सैनिक गठबंधनों में भी बदलाव आए। 1966 में फ़्रांस ने नाटो से अपनी सैनिक टुकड़ियाँ हटा लीं और फ़्रांसीसी भूमि से नाटो की सेनाएँ तथा उसके अड्डे भी हटा लिए गए। 1970 वाले दशक के आरंभिक वर्षों में दक्षिण पूर्व एशिया संधि संगठन भी बिखरने लगा। 1973 में पाकिस्तान उससे अलग हो गया और 1974 में फ़्रांस भी।

शीत युद्ध की समाप्ति की प्रक्रिया बहुत आसान नहीं रही। ऐसे कई उदाहरण दिए जा चुके हैं जब विश्व में गरम युद्ध का ख़तरा उपस्थित हो गया। 1956 में हंगरी में एक विद्रोह हुआ और 1968 में चेकोस्लोवाकिया की सरकार में परिवर्तन हुआ। इन दोनों मामलों का मतलब यही था कि ये देश सोवियत संघ के नियंत्रण से बाहर जा रहे हैं और ऐसी राजनीतिक तथा आर्थिक नीतियाँ अपना रहे हैं जो सोवियत सरकार की कल्पना के समाजवाद से अलग थीं। सोवियत संघ ने इन दोनों देशों पर आक्रमण किया। चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण में वार्सा समझौते में शरीक कुछ और देशों की सेनाएँ भी सोवियत सैनिकों के साथ हो गईं। वहाँ एक सोवियत समर्थक सरकार स्थापित कर दी गई। 1961 में पूर्व जर्मनी ने पूर्वी और पश्चिमी बर्लिन के बीच एक दीवार खड़ी कर दी। इसका उद्देश्य था पूर्वी जर्मनी के लोगों का पश्चिमी बर्लिन भाग जाने को असंभव बनाना। इससे पश्चिमी देशों में बहुत नाराज़गी पैदा हुई। 1979 में सोवियत संघ ने अफ़ग़ान

विद्रोहियों के ख़िलाफ़ वहां की सरकार की सहायता के लिए अपने सैनिक अफ़ग़ानिस्तान भेजे। इन विद्रोहियों को संयुक्त राज्य ने शस्त्र-सज्जित किया था और ये लोग पाकिस्तान की सहायता से वहीं से अफ़ग़ानिस्तान में कार्रवाई कर रहे थे। बहुत-से अन्य देशों में और ख़ासकर लैटिन अमरीकी देशों में भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप के कई मामले हुए। अफ्रीका में भी संयुक्त राज्य ने उन सरकारों के ख़िलाफ़ विद्रोहियों को सहायता दी जिन्हें वह सोवियत संघ और साम्यवाद का समर्थक मानता था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विनाश के साधनों के विनाश से ही सुनिश्चित शांति स्थापित हो सकती है। जिन हथियारों की विनाशकारी शक्ति की साधारण व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता है, ऐसे हथियारों की मौजूदगी अपने आप में तनाव का एक कारण होती है। इसलिए तनातनी की समाप्ति का मतलब निःशस्त्रीकरण होना चाहिए जिसकी शुरुआत परमाणु निःशस्त्रीकरण से हो। यद्यपि निःशस्त्रीकरण आज भी बहुत दूर की चीज़ बना हुआ है तथापि इस दिशा में कुछ ठोस कदम उठाए गए। 1963 में संयुक्त राज्य, सोवियत संघ तथा ब्रिटेन ने एक 'परीक्षण निषेध संधिपत्र' (टेस्ट बैन ट्रीटी) पर हस्ताक्षर किए जिससे वायुमंडल, अंतरिक्ष तथा जल-थल में परमाणु परीक्षण पर रोक लग गई। लेकिन फ़्रांस और चीन ने इस संधि पत्र पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया और वे वायुमंडल में परमाणु परीक्षण करते रहे। 1969 में संयुक्त राज्य तथा सोवियत संघ के बीच शस्त्रों में कमी करने के लिए वार्ताएँ आरंभ हुईं और 1972 में कुछ ख़ास वर्गों के प्रक्षेपास्त्रों की हदबंदी पर समझौता हो गया। ये वार्ताएँ 'युद्धनीतिक शस्त्रास्त्र परिसीमा वार्ता' (स्ट्रैटेजिक आर्म्स लिमिटेशन टॉक्स-साल्ट) के नाम से प्रसिद्ध हुईं। 1980 वाले दशक में जब संयुक्त राज्य ने युद्ध नीतिक तथा पहल (स्ट्रैटेजिक डिफ़ेंस इनिशिएटिव) नाम की एक नई अस्त्र-प्रणाली पर, जो नभमंडल युद्ध (स्टार वार्स) कार्यक्रम के नाम से प्रसिद्ध हुई, काम करना शुरू किया तो निःशस्त्रीकरण वार्ताओं में बाधा पड़ गई। इस कार्यक्रम का मतलब शस्त्रास्त्र स्पर्धा को अंतरिक्ष में ले जाना था लेकिन कुछ वर्गों के परमाणु प्रक्षेपास्त्रों को ख़त्म करने तथा कुछ अन्य प्रक्षेपास्त्रों की संख्या सीमित करने में थोड़ी बहुत प्रगति हुई। कई देशों ने 'परमाणु अप्रसार संधि' (न्यूक्लियर नॉन प्रोलिफ़रेशन ट्रीटी-एन.पी.टी.) पर भी हस्ताक्षर किए। इसका उद्देश्य यह है कि जिन देशों के पास परमाणु अस्त्र नहीं हैं, वे उसे प्राप्त न करें। लेकिन जिन देशों के पास परमाणु हथियार पहले से ही मौजूद हैं, उन पर उन्हें समाप्त करने की कोई बाध्यता यह संधि लागू नहीं करती। इससे चूँकि चंद परमाणु शक्ति संपन्न देशों को परमाणु अस्त्रों पर स्वामित्व मिल जाता है, इसलिए भारत सहित कई देश इस संधि को भेदभावपूर्ण मानते हैं।

कहा जा सकता है कि उपर्युक्त घटनाओं में से कुछ के कारण अंत में शीत युद्ध समाप्त हो गया। 1989 में पूर्वी यूरोप के देशों में सत्ता पर साम्यवादी दलों का एकाधिकार समाप्त हो गया। इसे मिखाइल गोर्बाचेव की अगुआई में 1985 में सत्तारूढ़ होने वाले नए सोवियत नेतृत्व द्वारा अपनाई गई नीतियों का एक बड़ा परिणाम माना जा सकता है। पूर्वी यूरोप के देशों की सरकारों पर सोवियत नियंत्रण में शिथिलता आई और इन देशों में स्वतंत्र चुनावों के बाद नई सरकारों का गठन किया गया। अक्तूबर 1990 में जर्मनी को फिर से एक कर दिया गया। 1991 में वार्सा समझौते को अंतिम रूप से भंग कर दिया गया। 1991 में सोवियत संघ में साम्यवादी दल का एकछत्र शासन, जो 1917 की अक्तूबर क्रांति के बाद से ही चला आ रहा था, समाप्त हो गया। उस साल के अंत तक सोवियत संघ 15 स्वतंत्र गणतंत्रों में बँट गया।

सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी दलों के शासन के अंत और सोवियत संघ के विघटन से शीत युद्ध का अंत हो गया। शीत युद्ध शब्द का प्रयोग दो सैनिक गुटों के बीच की तनातनी और स्पर्धा का वर्णन करने के लिए किया जाता है। इनमें से एक गुट में पश्चिम यूरोप और उत्तरी अमरीका के देश शामिल थे जिनका अगुआ संयुक्त राज्य था और दूसरे में सोवियत संघ तथा साम्यवादी दलों द्वारा शासित यूरोपीय देश शामिल थे। इसका प्रभाव विश्व के प्रत्येक भाग में प्रत्येक संघर्ष पर पड़ा, क्योंकि दुनिया के हर हिस्से में लगभग हर बड़े झगड़े को इसी तनातनी और स्पर्धा या शीत युद्ध के संदर्भ में देखा जाता था। शीत युद्ध को बहुधा दो परस्पर विरोधी राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक प्रणालियों अर्थात् पूँजीवादी और समाजवादी प्रणालियों के बीच

विश्व पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की स्पर्धा के रूप में भी देखा जाता है। यह 'युद्ध' 'शीत' की अवस्था में इसलिए रहा कि यद्यपि ऐसे तनावदेह संघर्ष हुए जिनसे दोनों गुट प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए थे, तथापि दोनों के बीच कोई व्यापक आम युद्ध नहीं हुआ। शीत युद्ध के अंत का मतलब दो सैनिक गुटों के बीच तनातनी और स्पर्धा की समाप्ति है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि तनाव, संघर्ष और युद्ध सदा के लिए समाप्त हो गए हैं। यह ज़रूर कहा जा सकता है कि आम विनाशकारी युद्ध का ख़तरा मिट गया है।

संयुक्त राज्य, सोवियत संघ और यूरोप

संयुक्त राज्य, सोवियत संघ तथा यूरोप के कुछ देशों से संबंधित कुछ घटनाओं का ज़िक्र ख़ास तौर से 1945 से बाद के काल के अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों के संदर्भ में किया जा चुका है। इन देशों के इतिहास के कुछ अन्य पहलुओं, विशेषत: उनके आंतरिक विकास से संबंधित पहलुओं का अध्ययन उपयोगी होगा।

संयुक्त राज्य

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के काल में संयुक्त राज्य विश्व की सर्वप्रमुख सैनिक एवं आर्थिक शक्ति के रूप में उभरा। दुनिया का हर हिस्सा संयुक्त राज्य के हितों के दायरे में आ गया। संयुक्त राज्य स्वयं को विश्व की एक महान् नैतिक शक्ति भी मानता था। बहुत-से अमरीकियों का विचार था कि जिस काल में वे जी रहे हैं उसे 'अमरीकी सदी' कहना बिल्कुल उचित होगा। सोवियत संघ के बिखरने के बाद संयुक्त राज्य विश्व की एकमात्र महाशक्ति रह गया है।

आर्थिक प्रभुत्व

द्वितीय विश्व युद्ध में अमरीकी अर्थव्यवस्था को कोई क्षति नहीं हुई थी। सच तो यह है कि महामंदी से उत्पन्न समस्याओं को इस युद्ध के दौरान हल कर लिया गया। युद्धोत्तर काल अभूतपूर्व समृद्धि का काल था। 1940 से 1987 के बीच अमरीका का सकल घरेलू उत्पादन 100 अरब डालर से बढ़कर 5200 अरब डालर पर पहुँच गया, जबकि इस दौरान आबादी 13.2 करोड़ से बढ़कर लगभग 24 करोड़ पहुँची। अमरीकी लोगों की समृद्धि तथाकथित उपभोग संस्कृति का उपभोगवाद की वृद्धि में प्रतिबिंबित हुई। तरह-तरह की उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन और उपभोग में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। मोटरकार इस उपभोग संस्कृति का एक प्रतीक बन गई। हर छोटी-बड़ी नई प्रौद्योगिकीय उद्भावना के साथ मौजूदा उत्पादन मिट जाते थे या उनका कोई ख़रीदार नहीं रह जाता था। संयुक्त राज्य इस उपभोगवाद को इसलिए कायम रख पाया कि उसके पास अपने विपुल प्राकृतिक संसाधन थे और साथ ही दुनिया के अन्य कई हिस्सों के प्राकृतिक संसाधनों पर भी उसका नियंत्रण था।

पहले के ही कालों की तरह अर्थव्यवस्था के विकास के साथ उसका बढ़ता हुआ संकेंद्रण भी चलता रहा। अधिकांश अर्थव्यवस्था पर अपेक्षाकृत थोड़ी-सी कंपनियों और निगमों का नियंत्रण था। शस्त्रास्त्रों से संबंधित उद्योगों की ज़बरदस्त अभिवृद्धि हुई और रक्षा उपकरणों की ख़रीद पर सरकार जो भी रकमें खर्च करती थी उसका लाभ चंद बड़े-बड़े निगमों को मिलता था। शांतिकाल में सैन्य तंत्र तथा उद्योग के बढ़ते हुए अंतर्संबंध से बहुत-से अमरीकी चिंतित हुए और जनवरी 1961 में संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति आइज़नहॉवर ने अपने पद के दायित्व का त्याग करते समय 'सेना व उद्योग के गठजोड़' द्वारा अनुचित प्रभाव हासिल कर लेने के ख़िलाफ़ अमरीकी जनता को आगाह किया। संयुक्त राज्य में राजनीतिक नेताओं तथा ऊपरी स्तर की नौकरशाही एवं सैनिक स्थापना तथा निगमों और बड़ी-बड़ी वित्तीय संस्थाओं के आपसी संबंध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था वाले अन्य अधिकांश देशों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रगाढ़ रहे हैं। बहुधा ऐसा हुआ कि जब सरकार को घाटे का सामना करना पड़ा तब वह निगमों पर करों की वृद्धि करने की बजाय चिकित्सा सुविधाओं और समाज-कल्याण के अन्य कार्यक्रमों में कटौती कर देती।

हाल के वर्षों में संयुक्त राज्य के आर्थिक प्रभुत्व में कमी आई है। 1948 से लेकर 1952 ई. तक संयुक्त राज्य ने 'यूरोपीय उद्धार योजना' के अधीन पश्चिम यूरोप को 12 अरब डालर की सहायता दी थी। यह योजना अमरीकी विदेश मंत्री के नाम पर मार्शल योजना के रूप में प्रसिद्ध हुई। इस

योजना के फलस्वरूप बहुत कम समय में यूरोपीय देशों की आर्थिक स्थिति युद्धपूर्व स्तर पर आ गई। आगे के वर्षों में पश्चिम यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्था में बहुत तेज़ी से विकास हुआ। जापान भी दुनिया की एक बड़ी आर्थिक ताकत के रूप में उभरा। न केवल विश्व बाज़ार में बल्कि अमरीकी बाज़ार में भी जापानी माल अमरीकी माल से होड़ लेने लगा। औद्योगिक उत्पादन के आँकड़ों से संयुक्त राज्य के आर्थिक प्रभुत्व का ह्रास स्पष्ट हो जाता है। 1950 में विश्व के औद्योगिक उत्पादन में संयुक्त राज्य का हिस्सा साठ प्रतिशत था। 1980 में घटकर वह 45 प्रतिशत रह गया। पश्चिमी यूरोप और जापान संयुक्त राज्य के प्रमुख आर्थिक स्पर्धी बन गए।

अपने विश्व प्रभुत्व में संयुक्त राज्य को पहला आघात 1957 में लगा जब सोवियत संघ ने अपना पहला उपग्रह स्पूतनिक अंतरिक्ष में भेजा। इसके तीन साल बाद उसने प्रथम मानव को अंतरिक्ष में भेज दिया। इन आघातों के फलस्वरूप संयुक्त राज्य उन क्षेत्रों में काम करने में पूरे ओज और उत्साह से जुट गया जिनमें वह स्वयं को सोवियत संघ से मात हुआ मान रहा था। अंतरिक्ष अनुसंधान कार्यक्रम को विपुल संसाधन सुलभ कराए गए और संयुक्त राज्य ने 1969 में सचमुच बड़ी सफलता हासिल की जब उसके दो अंतरिक्ष यात्रियों ने चंद्रमा पर उतर कर उसकी सतह पर चहलकदमी की।

साम्यवाद विरोधी जुनून

शीतयुद्ध के कुप्रभाव से अमरीकी जीवन कई वर्षों तक ग्रस्त रहा। 'नास्तिक साम्यवाद' के भय के अतिरेक से संयुक्त राज्य किस प्रकार त्रस्त था, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। साम्यवाद विरोधी और आमूल परिवर्तनवाद विरोधी जुनून का नतीज़ा यह हुआ कि वहाँ जो कोई भी ऐसी राय व्यक्त करता था जो शीत युद्ध के संबंध में अमरीकी दृष्टि से मेल नहीं खाती थी उस को फ़ौरन अमरीका विरोधी और तोड़-फोड़ करने वाला करार दे दिया जाता था।

ट्रूमेन के राष्ट्रपतित्व काल (1945 ई.-1952 ई.) में सरकारी अफ़सरों की वफ़ादारी की छान-बीन कराई गई और उनमें से हज़ारों को नौकरी से निकाल दिया गया। स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के हज़ारों अध्यापकों को इसलिए निकाल दिया गया क्योंकि उन्होंने जिन विचारों की शिक्षा दी, उन्हें अमरीका विरोधी माना गया। बहुत-से सिने लेखकों और चलचित्र निर्माताओं को जेलों में डाल दिया गया और अपने विगत साम्यवादी संबंधों को प्रकट करने से इनकार करने के कारण अनेक लोगों के हालीवुड में काम करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। 1952 में आइज़नहॉवर राष्ट्रपति चुना गया और फिर 1956 में भी वही इस पद पर आया। लेकिन आमूल परिवर्तनवाद-विरोधी जुनून कुछ वर्षों तक उसके राष्ट्रपतित्वकाल में भी कायम रहा। 1953 में जुलियस और ईथल रोज़ेनबर्ग को सोवियत संघ का परमाणु रहस्य सुलभ कराने के आरोप में मृत्युदंड दे दिया गया, यद्यपि सारी दुनिया में इसका विरोध और इस निर्णय को बदलने का आग्रह किया गया था। परमाणु बम के जनक के रूप में लोक प्रसिद्ध जे. रॉबर्ट ओपनहाइमर को (वह संयुक्त राज्य परमाणु बम परियोजना का प्रधान था) सुरक्षा अनापत्ति प्रमाणपत्र (सिक्युरिटी क्लियरेंस) नहीं दिया गया। उसने हाइड्रोजन बम परियोजना का विरोध किया था और उस पर साम्यवादियों से अपने विगत संबंधों को छिपाने का आरोप लगाया गया। संयुक्त राज्य के अंदर इस साम्यवाद विरोधी अभियान का नेता सिनेटर जोज़फ़ मैकार्थी था। कहा जाता है कि अनेक निर्दोष लोगों को देशद्रोही करार देकर और विदेश विभाग तथा सेना तक के ख़िलाफ़ देशद्रोहियों को छिपाकर रखने का आरोप लगाकर उसने अमरीका के सार्वजनिक जीवन को आतंकित रखा। आख़िर 1954 में उसका पतन हुआ और संयुक्त राज्य के साम्यवाद के भय में धीरे-धीरे कमी आई, हालाँकि इस भय के कारण जिन लोगों को परेशान किया गया था उनमें से अधिकांश अपनी मान-प्रतिष्ठा को फिर से प्राप्त नहीं कर पाए।

विदेशों में हस्तक्षेप

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के काल के एक लंबे दौर तक साम्यवाद का परिसीमन संयुक्त राज्य की विदेश नीति का लक्ष्य बना रहा। लैटिन अमरीका में उसकी नीति कमोबेश पुराने ढर्रे पर ही चलती रही। जिन लैटिन अमरीकी देशों की सरकारों के बारे में उसे वामपंथी और इसलिए संयुक्त राज्य विरोधी होने का संदेह होता था, उन देशों की सरकारों का तख़्ता पलटने के लिए वह या तो अपने सैनिक भेज दिया



भरे हुए हवाई जहाज़ में एक आदमी को घुसने से रोकने की कोशिश करते हुए अमरीकी अधिकारी। सायगॉन छोड़ने वाले हवाई जहाज़ों में से वह अंतिम जहाज़ था।

करता था या उन सरकारों के ख़िलाफ़ विद्रोहों में सक्रिय सहायता देता रहता था। 1960 में राष्ट्रपति निर्वाचित होने के बाद जॉन एफ़. केनेडी ने संयुक्त राज्य की घरेलू नीति में एक नई गतिशीलता के काल का सूत्रपात किया, लेकिन उसी के राष्ट्रपतित्व काल में संयुक्त राज्य वियतनाम युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से उलझने लगा। इसी समय पिग्स खाड़ी अभियान की घोर विफलता सामने आई और इन्हीं दिनों क्यूबा में सोवियत प्रक्षेपास्त्रों को लेकर तनातनी की स्थिति पैदा हुई, जिसका ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं।

1963 में शांति स्थापना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। उस साल राष्ट्रपति केनेडी के नेतृत्व में संयुक्त राज्य तथा प्रधानमंत्री ख़ुश्चेव की अगुआई में सोवियत संघ ने वायुमंडल, अंतरिक्ष तथा जल-थल में परमाणु परीक्षण पर प्रतिबंध लगाने वाले एक संधिपत्र पर हस्ताक्षर किए। 22 नवंबर 1963 को राष्ट्रपति केनेडी की हत्या कर दी गई। जिस व्यक्ति को उसका अकेला हत्यारा माना जा रहा था उसे जब वह पुलिस की हिरासत में था किसी ने मार डाला। करोड़ों लोगों ने इस हत्या की घटना को टेलीविज़न के पर्दे पर घटित होते देखा। बाद में कई क्षेत्रों में न्यायिक आयोग के इस फ़ैसले में संदेह व्यक्त किया गया जिसमें राष्ट्रपति केनेडी की हत्या करने में एक ही व्यक्ति का हाथ होने की धारणा की पुष्टि की गई थी।

वियतनाम युद्ध में संयुक्त राज्य को अपमानजनक पराजय का मुँह देखना पड़ा, इसका ज़िक्र हम पहले कर चुके

हैं। लड़ाई उन्हीं दिनों फैलने लगी थी जब लिंडन जॉन्सन राष्ट्रपति (1963-69) था। रिचर्ड निक्सन के राष्ट्रपतित्व-काल (1969-74) में उसमें और भी तेज़ी आई। कंबोडिया सरकार को अपदस्थ करके वहाँ एक जनरल के अधीन एक अमरीकी समर्थक सरकार प्रतिष्ठित की गई। संयुक्त राज्य लाओस की हदों के अंदर भी युद्ध को ले गया जो हिंद-चीन (इंडो-चाइना) का तीसरा देश था।

राष्ट्रपति निक्सन ने चीन के साथ संबंध सुधारने का सिलसिला शुरू किया और 1971 में उसे संयुक्त राष्ट्र संघ में दाखि़ल कर लिया गया। 1972 में निक्सन चीन गया। 1973 में वियतनाम में लड़ाई ख़त्म करने और अपनी सेना हटा लेने पर संयुक्त राज्य राज़ी हो गया, लेकिन लड़ाई दो साल और चलती रही। आखि़र यह लड़ाई अप्रैल 1975 में समाप्त हुई जब उत्तर वियतनामी सेना और दक्षिण वियतनाम के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सेना दक्षिण वियतनाम की अमरीका समर्थक सरकार की राजधानी सायगॉन में दाखि़ल हो गई। उससे कुछ ही समय पहले संयुक्त राज्य के बचे-खुचे विमान और हैलीकॉप्टर सायगॉन नगर से उड़ चुके थे।

दरअसल वियतनाम युद्ध राष्ट्रपति निक्सन के त्यागपत्र देने के बाद ही समाप्त हुआ था। निक्सन का त्यागपत्र एक बड़े बदनामी भरे कांड से संबंधित था जो 'वाटरगेट कांड' के नाम से प्रसिद्ध है। 1972 में निक्सन दुबारा राष्ट्रपति पद के लिए चुन लिया गया था, लेकिन इसके शीघ्र बाद उस पर भ्रष्टाचार के गंभीर आरोप लगाए गए। इसके अलावा उस पर यह आरोप भी था कि उसने डेमोक्रैटिक पार्टी के कार्यालय में जासूसी के संयंत्र लगवाए थे तथा वहाँ से फ़ाइलों की चोरी कराई थी। यद्यपि उसका दावा था कि उसने कोई कुटिलता नहीं की, लेकिन उसके सामने महाभियोग का ख़तरा आ गया और फलत: उसने त्यागपत्र दे दिया।

इस दौर में संयुक्त राज्य ने कई अलोकप्रिय सरकारों को समर्थन दिया जिससे उसे कभी-कभी कठिनाई में भी फँसना पड़ा और कई ऐसे काम करने पड़े जो संयुक्त राज्य के कानून के अधीन अवैध थे। संयुक्त राज्य फिलिपाइंस में फ़र्डिनंड मारकोस और हेटी में याँ क्लाद दुवालियर जो पापा डाक के नाम से जाना जाता था, के शासनों को लंबे समय से समर्थन देता आ रहा था। लेकिन ये शासन इतने बदनाम हो गए थे कि संयुक्त राज्य को इन तानाशाहों के तख़्ता पलट का समर्थन करना पड़ा। ईरान के मामले में संयुक्त राज्य ने पहले तो एक दुस्साहस भरा कदम उठाया, लेकिन उसके विफल हो जाने पर उसके अधिकारियों ने ईरान के साथ ऐसे सौदे किए जो स्वयं उसके कानून के अधीन अवैध थे। ईरान का शाह एशिया में संयुक्त राज्य का एक सबसे बड़ा समर्थक था, लेकिन 1979 में ईरान में क्रांति हो गई और शाह को देश छोड़कर भागना पड़ा। ईरान ने संयुक्त राज्य से माँग की कि वह शाह को, जो इलाज कराने अमरीका चला गया था, उसके सुपुर्द कर दे। ईरान का इरादा उस पर मुकदमा चलाने का था। अमरीका के इनकार करने पर ईरानियों ने बहुत-से अमरीकियों को बंधक बना लिया। अप्रैल 1980 में जिमी कार्टर ने, जो कि 1977 में अमरीका का राष्ट्रपति बना था, बंधकों को मुक्त कराने के लिए कमांडो भेजे। लेकिन कमांडो कार्रवाई बिल्कुल नाकामयाब रही। आखि़र 1981 में जब संयुक्त राज्य ने अमरीकी बैंकों में रोक कर रखी गई ईरानी संपदा को मुक्त किया तब ईरान ने अमरीकी बंधकों को रिहा किया। 1980 वाले दशक में रोनल्ड रीगन के राष्ट्रपतित्व काल (1981-88) में एक बड़े कांड का भंडाफोड़ हुआ। संयुक्त राज्य के कुछ उच्चाधिकारियों ने निकारागुआ की सरकार को समर्थन देने के लिए ईरान के साथ एक गुप्त सौदेबाज़ी की थी और विश्वास किया जाता था कि उन्होंने यह सौदा राष्ट्रपति की सहमति से किया था।

1989 में जॉर्ज बुश के राष्ट्रपतित्व काल (1989-92) में संयुक्त राज्य की सेना पनामा भेजी गई। पनामा के शासक जनरल नोरेगा को पदच्युत करके संयुक्त राज्य लाया गया, जहाँ उस पर नशीले पदार्थों के व्यापार के आरोप में मुकदमा चलाया गया। 1991 में जब इराक ने कुवैत पर कब्ज़ा कर लिया तब संयुक्त राज्य ने कुछ अन्य देशों के साथ मिलकर उसके खि़लाफ़ लड़ाई छेड़ दी। संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्राधिकृत इस सैनिक कार्रवाई के फलस्वरूप इराक को कुवैत से हटना पड़ा।

ग़रीबी

संयुक्त राज्य में एक के बाद एक प्रशासन को जिस एक बड़े मसले से निबटना पड़ा वह था अमरीका में ग़रीबी का मसला।

1980 वाले दशक में दुनिया के इस सबसे अमीर देश की लगभग 15 प्रतिशत आबादी (3 करोड़ लोगों) को सरकारी तौर पर ग़रीबों की श्रेणी में रखा गया। अलग-अलग 'नस्ली' समूहों को ग़रीबी की स्थिति पर ध्यान देने से पता चलता है कि अमरीकी समाज में "नस्ली" असमानता कायम है। 1980 वाले दशक में अमरीका में लगभग 33 प्रतिशत काले लोग, प्रायः 20 प्रतिशत हिस्पेनिक (अर्थात् स्पेनिश् भाषा भाषी तथा मैक्सिको, प्योर्तो रिको आदि से अमरीका में आकर बसे) लोग और तकरीबन 12 प्रतिशत गोरे ग़रीबों की श्रेणी में थे। शहरी क्षेत्रों में आश्रयहीनता एक और समस्या रही है।

नागरिक अधिकार आंदोलन

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद लगभग चौथाई सदी तक संयुक्त राज्य में नस्ली समानता के प्रश्न को लेकर उथल-पुथल मची रही और आज भी यह बात एक बड़ा मसला बनी हुई है। दूसरे और तीसरे अध्यायों में इससे पूर्व के काल में काले लोगों पर किए जाने वाले जुल्मों और उनके समानता प्राप्ति के आंदोलनों का विवरण दिया जा चुका है। 1950 वाले दशक में एक ज़बरदस्त नागरिक अधिकार आंदोलन छिड़ा जिसे आगे के दो दशकों के दौरान महत्वपूर्ण सफलता मिली। काले लोगों के पृथक्करण तथा उनके विरुद्ध भेदभाव का अंत, उनके द्वारा अपने मताधिकार का प्रयोग तथा कालों की ग़रीबी मिटाना—ये इस आंदोलन के मुख्य लक्ष्य रहे हैं।

संयुक्त राज्य के दक्षिणी राज्यों में कालों-गोरो के स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय, बसें और ट्रेनें, कैफ़े और होटल, थिएटर तथा अन्य सार्वजनिक उपयोग के स्थल अलग-अलग थे। काले लोगों को तो मताधिकार सूची में अपना नाम भी दर्ज नहीं करवाने दिया जाता था। 1896 में सर्वोच्च न्यायालय में पृथक्करण को कानूनी जामा पहना दिया था और "पृथक् किंतु समान" के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। 1954 में सर्वोच्च न्यायालय ने उस सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया और कहा—"हमारा निष्कर्ष यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में "पृथक् किंतु समान" के सिद्धांत के लिए कोई स्थान नहीं है। पृथक शैक्षिक सुविधाएँ अपनी प्रकृति से ही असमान हैं।" इसके फलस्वरूप काले लोगों के बच्चे उन स्कूलों में दाख़िला लेने की कोशिश करने लगे जो अब तक गोरों के लिए सुरक्षित थे। कुछ राज्यों के गवर्नरों ने इन कोशिशों को ज़बरदस्ती नाकाम करने का प्रयत्न किया। अरकंसास के लिटल रॉक नामक शहर में 1957 में 17 काले बच्चों को एक स्कूल में दाख़िले के लिए चुना गया। उस राज्य के गवर्नर ने काले बच्चों को उस स्कूल में प्रवेश करने से रोकने के लिए स्कूल के बाहर गार्ड तैनात करवा दिए। इस पर गवर्नर तथा उस राज्य के गार्डों को कानून तोड़ने से रोकने के लिए संघ सरकार को 1000 छाताधारी सैनिकों को लिटल रॉक में उतारना पड़ा। ये छाताधारी सैनिक वहाँ स्कूल के पूरे सत्र के दौरान नियुक्त रहे। ऐसी ही एक और घटना 1962 में एक काली छात्रा को मिसीसिपी विश्वविद्यालय में दाख़िला देने पर हुई।

नागरिक अधिकार आंदोलन का सबसे प्रभावशाली नेता मार्टिन लूथर किंग था। गांधीजी से गहरे तौर पर प्रभावित किंग ने पृथक्करण के ख़िलाफ़ अहिंसक विरोध आरंभ किया। विरोध की शुरुआत अलाबामा राज्य में मांटगुमरी नामक स्थान में काले लोगों द्वारा बसों के बहिष्कार से हुई। बस कंपनियों को हार माननी पड़ी और उन्होंने बसों में पृथक्करण समाप्त कर दिया। धीरे-धीरे आंदोलन दूसरे इलाकों में भी फैलने लगा और उसने नए रूप ले लिए। उदाहरण के लिए रेस्त्राओं में "धरना देने" का तरीका शुरू किया गया। लोग पृथक्कृत रेस्त्राओं में जाकर खाने-पीने की चीज़ें मँगवाते थे और इनकार करने पर वहीं जमकर बैठ जाते थे। इस आंदोलन में विद्यार्थियों ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नस्ली पृथक्करण तथा भेदभाव के ख़िलाफ़ अहिंसक विरोध करने के लिए झुंड-के-झुंड विद्यार्थी, जिनमें काले-गोरे दोनों शामिल होते थे, "मुक्ति यात्रा" (फ़्रीडम राइड) पर निकल पड़ते थे। मतदाता सूचियों में काले लोगों के नाम दर्ज करवाने के लिए भी एक ज़बरदस्त आंदोलन चलाया गया। इन आंदोलनों में भाग लेने वालों को बहुत-सी मुसीबतें झेलनी पड़ीं। उन्हें पुलिस और गोरे उपद्रवियों से मार खानी पड़ी और गिरफ़्तारी झेलनी पड़ी। बहुत-से आंदोलनकारियों को मार भी दिया गया। प्रसिद्ध "वी शैल ओवरकम" (हम होंगे कामयाब) वाला गीत इन स्वतंत्रता यात्रियों का उद्देश्य गीत था।



अगस्त 1963 में वाशिंगटन डी.सी. में लिंकन स्मारक के पास नागरिक अधिकारों के पक्ष में आयोजित एक विशाल रैली को संबोधित करते हुए मार्टिन लूथर किंग।

मैंने एक सपना देखा है

मेरा सपना है कि एक दिन लोग उठेंगे और देखेंगे कि उन्हें मिल-जुल कर भाइयों की तरह रहने के लिए बनाया गया है। आज सुबह भी मेरा यह सपना है कि एक दिन ऐसा भी आएगा जब इस देश में हर नीग्रो के बारे में, दुनिया में हर अश्वेत व्यक्ति के संबंध में, उसकी चमड़ी के रंग के आधार पर नहीं, बल्कि उसके चरित्र के गुण-दोष के अनुसार राय कायम की जाएगी और प्रत्येक व्यक्ति मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा और योग्यता का सम्मान करेगा। आज भी मेरा यह सपना है कि अपालेचिया के बंद उद्योग फिर से चल पड़ेंगे और मिसीसिपी के लोगों के ख़ाली पेट भर जाएँगे और भातृत्व का मतलब प्रार्थना के अंत में कहे गए चंद औपचारिक शब्दों तक सीमित नहीं रह जाएगा, बल्कि विधि-निर्माण की कार्य-सूची का पहला विषय बन जाएगा। अब भी मेरा यह सपना है कि एक दिन न्याय पानी की तरह बहेगा और सदाचार नदी के प्रबल वेग से बहेगा। आज मैंने यह सपना भी देखा है कि हमारे सभी राज्य भवनों और नगर कक्षों में ऐसे लोग चुने जाएँगे जो सदा न्याय करेंगे और दयालु होंगे और हमेशा अपने ईश्वर को साक्षी बनाकर चलेंगे। मैंने आज यह सपना भी देखा है कि एक दिन ऐसा आएगा जब सब युद्धों का अंत हो जाएगा और लोग अपनी तलवारों को गला कर फाल बना लेंगे और भालों को पौधे छाँटने वाली कैंचियों में बदल देंगे और जंग के बारे में कभी नहीं सोचेंगे। मैंने आज यह सपना भी देखा है कि एक दिन मेमना और सिंह साथ-साथ लेटेंगे और हर आदमी खुद अपने दाख और अंजीर के पेड़ के नीचे बैठा होगा और कोई किसी से डरेगा नहीं। आज मैंने यह सपना भी देखा है कि एक दिन हर घाटी को ऊपर उठा दिया जाएगा और हर पहाड़ और पहाड़ी को नीचा कर दिया जाएगा, रूखे स्थान चिकने बना दिए जाएँगे और टेढ़े-मेढ़े स्थानों को सीधा बना दिया जाएगा और ईश्वर की महिमा प्रकट हो जाएगी और सभी लोग उसे एक साथ देखेंगे। मैं अब भी यह सपना देख रहा हूँ कि आस्था के बल पर हम नैराश्य से मुक्ति पा लेंगे और नाउम्मीदी की अंधेरी कोठरी में उम्मीदों का नया चिराग़ जला देंगे। इस आस्था के बल पर शीघ्र ही वह दिन भी आएँगे जब धरती पर शांति होगी और होगी मनुष्य मात्र के प्रति सद्भावना। वह एक भव्य दिन होगा, प्रभात के तारे साथ मिलकर गाएँगे और ईश्वर की संतान की उल्लास-ध्वनि से आसमान गूँज उठेगा।

–मार्टिन लूथर किंग

1963 में वाशिंगटन में लिंकन स्मारक के निकट एक विशाल जनसभा की गई। इसी जनसभा के सामने मार्टिन लूथर किंग ने "मैंने एक सपना देखा है" वाला ओजस्वी भाषण दिया था। आगे के वर्षों में नागरिक अधिकारों और कानूनी अधिकारों के संबंध में बहुत-से विधान बनाए गए लेकिन वैधानिक अधिकार अपने-आप में बहुत कारगर सिद्ध नहीं हो रहे थे और नागरिक अधिकार आंदोलन उत्तरोत्तर अधिकाधिक आमूल परिवर्तनवादी रूप लेता गया। नागरिक अधिकारों से जुड़े बहुत-से नेता युद्ध-विरोधी आंदोलन में भी शरीक हो गए। ब्लैक पॉवर (काली शक्ति) नामक एक उग्रवादी आंदोलन भी ज़ोर पकड़ने लगा। मार्टिन लूथर किंग की हत्या कर दी गई। इस हत्या से संयुक्त राज्य के कई नगरों में नस्ली दंगे भड़क उठे। मार्टिन लूथर किंग को अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना पैदा करने के लिए मरणोपरांत जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

अमरीकी इंडियनों के बीच भी ऐसे आंदोलन खड़े हो गए हैं। संख्या में सिर्फ़ 20 लाख इंडियनों ने अपने हकों की लड़ाई शुरू कर दी है। इसी प्रकार लगभग 2.2 करोड़ आबादी वाले हिस्पेनिक लोग भी अपने अधिकारों के लिए जूझ रहे हैं।

युद्ध विरोधी आंदोलन

1960 वाले दशक में संयुक्त राज्य में , ख़ासकर नौजवानों और बुद्धिजीवियों के बीच, नए आमूल परिवर्तनवादी समूह उभरने लगे। उनके उदय का एक बहुत बड़ा कारण वियतनाम युद्ध था। इसकी वजह से एक शक्तिशाली युद्ध-विरोधी आंदोलन खड़ा हो गया था। विश्वविद्यालयों में युद्ध विरोधी प्रदर्शन किए गए। हज़ारों नौजवानों ने सेना में भरती किए जाने से इनकार कर दिया। बहुत-से युवक भागकर कनाडा तथा अन्य देशों को चले गए। विश्वविद्यालय परिसरों में हिंसा की अनेक घटनाएँ हुईं और प्रदर्शनों को दबाने के लिए कई स्थानों में पुलिस ने क्रूरतापूर्ण तरीक़ों से काम लिया। केंट के राज्य विश्वविद्यालय में पुलिस ने चार विद्यार्थियों को मार डाला। इन नए आमूल परिवर्तनवादी समूहों ने बाद में शांति, निःशस्त्रीकरण और पर्यावरण संरक्षण जैसे कई अंतर्राष्ट्रीय मसलों के संदर्भ में सक्रिय भूमिका निभाई।

सोवियत संघ

अर्थव्यवस्था की विफलता

फ़ासीवाद को परास्त करके द्वितीय विश्व युद्ध को समाप्त करने में सोवियत संघ ने जो भूमिका निभाई थी, उससे उसे पूरे विश्व में फ़ासीवाद विरोधी लोगों की प्रशंसा प्राप्त हुई थी। सोवियत संघ के लोगों के लिए यह "महान देशभक्ति का युद्ध" था जिसे जीतने के लिए उन्होंने हर संभव बलिदान किया था। इस युद्ध में सोवियत संघ को सबसे अधिक क्षति उठानी पड़ी थी। इससे उसकी अर्थव्यवस्था की जो तबाही हुई थी, उसका उल्लेख हम कर चुके हैं। युद्ध के समाप्त होते ही सोवियत संघ ने अपने यहाँ पुनर्निर्माण का ज़बरदस्त प्रयत्न आरंभ किया। 1946 में चौथी पंचवर्षीय योजना शुरू की गई और 1940 वाले दशक के समाप्त होते-होते औद्योगिक उत्पादन युद्ध के पहले के स्तर तक पहुँच चुका था। कृषि का और अधिक मशीनीकरण करके तथा पहले से भी ज़्यादा बड़े सामूहिक फ़ार्म बनाकर 1950 वाले दशक के आरंभ तक कृषि-उत्पादन को भी युद्ध-पूर्व के स्तर तक पहुँचा दिया गया था। आगे के काल में एक के बाद एक पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से सोवियत अर्थव्यवस्था के विकास को जारी रखा गया और शीघ्र ही सकल राष्ट्रीय उत्पादन की दृष्टि से यह अर्थव्यवस्था विश्व की दूसरी सबसे शक्तिशाली अर्थव्यवस्था बन गई।

लेकिन इस विकास के बावजूद सोवियत अर्थव्यवस्था हमेशा कई गंभीर समस्याओं से ग्रस्त रही। भारी उद्योगों पर ज़ोर देने से एक मज़बूत आधारभूत ढाँचा तो बन गया था, लेकिन उपभोक्ता वस्तु उद्योग देश की ज़रूरतें पूरी करने में बहुत पीछे रह गया। इस अनुपातहीनता का परिणाम यह हुआ कि उसकी आर्थिक शक्ति के बावजूद वहाँ के लोगों के जीवन-स्तर में सुधार की गति पश्चिम के उन्नत देशों के मुकाबले बहुत धीमी रही। आर्थिक विकास की दृष्टि से भी सोवियत नेता 1980 वाले दशक के मध्य से यह स्वीकार करने लगे कि अर्थव्यवस्था कई वर्षों से जहाँ-की-तहाँ ठहरी हुई है। कृषि के क्षेत्र में विफलता ख़ासतौर पर दिखाई दे रही थी। रक्षा तथा अंतरिक्ष अनुसंधान को छोड़कर, प्रौद्योगिकी के अन्य सभी क्षेत्रों में सोवियत संघ उन्नत पूँजीवादी देशों से पीछे था और यह स्थिति तब थी जब तकनीकी तथा वैज्ञानिक मानव-शक्ति की दृष्टि से सोवियत संघ संख्या में अन्य किसी भी देश से आगे था।

अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में सोवियत संघ की विफलता का कारण उस चीज़ को बताया जाता है जिसे अब "कमान प्रणाली" कहा जाता है। सोवियत संघ ने जिस आर्थिक आयोजना की पद्धति को अपनाया, वह अति-केंद्रीयकरण से ग्रस्त थी और उसने व्यक्तिगत औद्योगिक, उद्यम के स्तर पर जनसाधारण द्वारा पहल करने की सारी प्रवृत्ति को कुंठित कर दिया। उद्योग के कुछ क्षेत्र इतनी अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन करते थे कि उनकी वैसी माँग ही नहीं थी। उत्पादों की कीमतें कृत्रिम रूप से तय की जाती थीं जिससे अर्थव्यवस्था पर दबाव और भी बढ़ा। अर्थव्यवस्था के दोषों को दूर करने और उसे लोगों की ज़रूरतों के प्रति अधिक संवेदनशील बनाने के लिए 1980 वाले दशक के मध्य से सोवियत संघ मे एक गंभीर बहस आरंभ हुई। लेकिन जो परिवर्तन किए गए वे गतिहीनता को दूर नहीं कर पाए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 1991 में सोवियत संघ बिखर गया। आर्थिक क्षेत्र की विफलता को सोवियत संघ के टूटने का एक प्रमुख कारण माना जा सकता है।

सैनिक शक्ति

जिस क्षेत्र में सोवियत संघ प्रभावकारिता की दृष्टि से संयुक्त राज्य से कमोबेश बराबरी पर था वह था सैनिक शक्ति का क्षेत्र। सैनिक आवश्यकताओं से संबंधित प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सोवियत संघ के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रगति की और इस दृष्टि से वह विश्व की उन्नत से उन्नत प्रौद्योगिकी की बराबरी कर सकता था। अंतरिक्ष कार्यक्रम से संबंधित प्रौद्योगिकी की भी यही स्थिति थी। सच तो यह है कि एक दौर में सोवियत संघ अंतरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में संयुक्त राज्य के अंतरिक्ष अनुसंधान से भी आगे माना जाने लगा था। इसके कई प्रमाण सामने आए। अंतरिक्ष में सबसे पहला उपग्रह उसी ने भेजा। उसने मनुष्य को अंतरिक्ष में भेजने में सबसे पहले कामयाबी हासिल की। इतना ही नहीं, बाद के वर्षों में अंतरिक्ष में पहला स्टेशन भी उसी ने स्थापित किया जिसमें काफ़ी देर तक मनुष्यों को ठहराया गया। सेना तथा शस्त्रास्त्र प्रौद्योगिकी पर सोवियत संघ ने जो भारी ख़र्च किया, उसके फलस्वरूप वह सैनिक शक्ति के क्षेत्र में संयुक्त राज्य की बराबरी के स्तर पर आ गया। कहा जा सकता है कि इस तरह उसने विश्व में "शक्ति संतुलन" कायम रखा। एक समय में सोवियत संघ द्वारा सैनिक शक्ति को दी जाने वाली प्राथमिकता को इस आधार पर उचित ठहराया जाता था कि उसने संयुक्त राज्य को दुनिया पर अपनी मर्ज़ी थोपने से रोका। लेकिन उसके कारण विशाल संसाधनों को उत्पादक और उपयोगी आर्थिक प्रवृत्तियों में लगाना असंभव हो गया और यह बात सोवियत अर्थव्यवस्था को कमज़ोर करने वाली मुख्य वजह साबित हुई।

राजनीतिक घटनाचक्र

बोलशेविक क्रांति के बाद सोवियत संघ के राजनीतिक घटनाचक्र की कुछ विशेषताओं का वर्णन तीसरे अध्याय में किया जा चुका है। 1930 वाले दशक के उत्तरार्ध तक स्टालिन सोवियत संघ पर अपनी तानाशाही भली भाँति प्रतिष्ठित कर चुका था। युद्ध के बाद भी उसकी तानाशाही की निष्ठुरता में कोई कमी नहीं आई। स्टालिन साम्यवादी दल के सर्वोच्च नेता के रूप में सोवियत संघ पर शासन करता था। लेकिन साम्यवादी दल और उसकी पॉलिट ब्यूरो आदि विभिन्न संस्थाओं को स्टालिन के निर्णयों पर सिर्फ़ मुहर लगाने वाले अभिकरणों की स्थिति में पहुँचा दिया गया था। दल के संबिधान के अनुसार हर चार साल बाद उसकी एक आम सभा (कांग्रेस) करना आवश्यक था। लेकिन 1939 के बाद दल की पहली सभा 13 साल पश्चात् 1952 में की गई। 1930 और 1940 वाले दशकों के दौरान बोलशेविक क्रांति का लगभग हर नेता मर चुका था या मार दिया गया था। दमन की प्रणाली को संस्थागत रूप दे दिया गया था। हर विरोधी राय को देशद्रोह माना जाता था। हज़ारों लोगों को श्रम शिविरों में भेज दिया गया था और हज़ारों जेलों में पड़े सड़ रहे थे। सोवियत सुरक्षा पुलिस दमन का एक महत्वपूर्ण उपकरण थी। दमन से बौद्धिक जीवन, कला, संस्कृति तथा विज्ञान को भारी क्षति हुई। जीव-विज्ञान का तो सोवियत संघ में लगभग जनाज़ा ही निकल गया, जिसका कारण यह था कि स्टालिन को सोवियत जीव-विज्ञान की कृतियों में "बुर्जुआ" प्रवृत्तियाँ दिखाई देती थीं जिनका दमन करना उसने ज़रूरी माना। 1953 में नौ डॉक्टरों पर 1948 ई. में एक सोवियत नेता की हत्या का आरोप लगाया गया। यह इल्ज़ाम भी लगाया गया कि उन्होंने उन कई बड़े सैनिक अधिकारियों के स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाने की साज़िश की जिनका वे इलाज कर रहे थे। इन डॉक्टरों की गिरफ़्तारी को दमन के एक और दौर की शुरुआत का संकेत माना गया। लेकिन 9 मार्च 1953 को स्वयं स्टालिन चल बसा।

आतंक की समाप्ति

स्टालिन की मृत्यु के कुछ दिन बाद कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। दमन की नीति समाप्त कर दी गई। डॉक्टरों को यह कह कर रिहा कर दिया गया कि उन्हें ग़ैरकानूनी तौर पर गिरफ़्तार किया गया था। जिन हज़ारों लोगों को राज्य के ख़िलाफ़ तरह-तरह के अपराध करने के आरोप में श्रम शिविरों तथा जेलों में डाल दिया गया था, उन्हें मुक्त करके उनका पुनर्वास किया गया। फ़रवरी 1956 में सोवियत साम्यवादी दल की बीसवीं आम सभा (कांग्रेस) बुलाई गई। इस आम सभा ने अंदरूनी राजनीतिक तथा आर्थिक नीतियों और विदेश नीति में जो बड़े परिवर्तन किए उनके कारण तथा

साम्यवादी दल एवं जनता के ख़िलाफ़ स्टालिन द्वारा किए गए अपराधों पर ख्रुश्चेव की रिपोर्ट को लेकर इस सभा को काफ़ी प्रसिद्धि मिली। (स्टालिन की मृत्यु के बाद निकिता ख्रुश्चेव साम्यवादी दल का प्रथम सचिव चुना गया था।) यद्यपि यह रिपोर्ट आम सभा की एक गोपनीय बैठक में प्रस्तुत की गई थी और उसे जारी नहीं किया गया था लेकिन जल्दी ही इसकी विषय-वस्तु जग-ज़ाहिर हो गई।

इस घटनाचक्र के बावजूद सोवियत संघ में कोई लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था कायम नहीं हुई और न पूर्ण बौद्धिक एवं नागरिक स्वतंत्रता फिर से स्थापित हो पाई। फिर भी आतंक और सर्वव्यापी दमन का युग समाप्त हो चुका था। यह परिवर्तन दो उपन्यासों में विशेष रूप से प्रतिबिंबित हुआ। इनमें से एक था इलिया एहरेनबर्ग का *द थॉव* (बरफ़ का पिघलना) और दूसरा था एलेक्ज़ैंडर सोल्ज़ेत्सिन का *वन डे इन द लाइफ़ ऑफ़ इवान देनिसोविच* (इवान देनिसोविच के जीवन का एक दिन) जिसमें श्रम शिविर के जीवन का वर्णन किया गया था। फिर भी नागरिक स्वतंत्रता, प्रकाशन, विदेश यात्रा आदि पर प्रतिबंध तथा दमन की कार्रवाइयाँ बीसवीं आम सभा के लगभग तीस साल बाद तक जारी रहीं।

1964 में ख्रुश्चेव को अपदस्थ कर दिया गया और लिओनिद ब्रेज़नेव साम्यवादी दल का प्रथम सचिव बना। 1970 वाले दशक के आरंभ से वह सोवियत संघ का सर्वोच्च नेता बन गया। 1960 और 1970 वाले दशकों में कई आर्थिक सुधार आरंभ किए गए, लेकिन उनसे अर्थव्यवस्था में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हो पाया। ब्रेज़नेव के शासन काल को, जो 1982 तक चला, सामान्यतः 'गतिहीनता का काल' माना जाता है।

आख़िरकार दमन की प्रणाली को पूर्ण रूप से समाप्त करके उसके स्थान पर सच्चे अर्थों में लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना की कोशिश 1985 से की गई, जब मिखाइल गोर्बाचेव को दल के नेता और बाद में सोवियत संघ का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। गोर्बाचेव द्वारा आरंभ किए गए परिवर्तनों को बहुधा दूसरी सोवियत क्रांति की शुरुआत कहा जाता था। इन परिवर्तनों की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति दो रूसी शब्दों में हुई। एक है "ग्लासनोस्त", जिसका अर्थ है "खुलापन" और दूसरा है "पेरेस्त्रोइका", जिसका मतलब है "पुनर्निर्माण"। "खुलेपन" की नीति का मतलब था हर राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मसले पर स्वतंत्र और खुली चर्चा तथा नागरिक स्वतंत्रता पर लगे प्रतिबंधों की समाप्ति। साम्यवादी दल की जकड़ को शिथिल किया गया और 1990 में ग़ैर-साम्यवादी दल बनाने की अनुमति दे दी गई। "पुनर्निर्माण" सोवियत अर्थव्यवस्था की गतिहीनता को दूर करने का प्रयत्न था। लेकिन इस मामले में न केवल कोई सफलता ही मिल पाई अपितु वहाँ की आर्थिक स्थिति में और भी गिरावट आई। साम्यवादी दल की जकड़ को शिथिल करने से कोई स्थिर लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था कायम नहीं हुई। इस बीच सोवियत संघ में शामिल विभिन्न गणतंत्र अधिक स्वायत्तता और कोई-कोई पूर्ण स्वतंत्रता की भी माँग करने लगे। और फिर जल्दी ही सोवियत संघ टूट गया।

विदेश नीति

सोवियत संघ की विदेश नीति पर इस बात का गहरा असर पड़ा कि अपने जन्म काल से ही वह ऐसे देशों से घिरा हुआ था जो स्वयं उसके और जिस सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण करने की वह कोशिश कर रहा था उसके प्रति खुले तौर पर शत्रुता का भाव रखते थे। 1920 और 1930 वाले दशकों में वह एकमात्र ऐसी बड़ी शक्ति था जिसने उपनिवेशों की जनता को उसके स्वतंत्रता संघर्ष में पूरा समर्थन दिया। 1930 वाले दशक में वह फ़ासीवादी तथा फ़ासीवादी अतिक्रमणों का तब तक लगातार विरोध करता रहा जब तक कि जर्मनी के साथ उसकी अनाक्रमण संधि नहीं हो गई। उन दिनों विभिन्न देशों के साम्यवादी दल, जो सोवियत संघ की रक्षा को अपना कर्तव्य समझते थे, उसकी मुख्य मित्र-शक्तियाँ थे।

सोवियत संघ ने फ़ासीवाद को हराने में प्रमुख भूमिका निभाई थी लेकिन इससे जो व्यापक सद्भावना उसने अर्जित की थी उसे पूर्वी यूरोप के देशों में उसके द्वारा अपनाई गई नीतियों के कारण गहरा आघात लगा। इन देशों पर सोवियत संघ के समर्थन से जबरन साम्यवादी दलों का शासन थोप दिया गया। इन देशों की मुक्ति के समय और इनकी मुक्ति के पश्चात् बनाई गई संविद सरकारों के घटकों के रूप में साम्यवादी दलों को काफ़ी जन-समर्थन प्राप्त था। लेकिन जब

वे इन देशों पर अलोकतांत्रिक उपायों से अपना एकछत्र शासन स्थापित करने लगे तो लोग उनसे विमुख हो गए। बाद में स्टालिन के प्रभाव और दबाव के फलस्वरूप इन देशों में वैसा ही दमन-चक्र खड़ा किया गया जैसा स्टालिन ने सोवियत संघ में खड़ा किया था।

1948 में यूगोस्लाविया को इस कारण से विश्व साम्यवादी आंदोलन से निकाल दिया गया था क्योंकि उसने सोवियत नियंत्रण को मानने से इनकार कर दिया था। इसके बाद पूर्वी यूरोप के देशों के कुछ अति प्रसिद्ध नेताओं को इस आरोप में निष्कासित कर दिया गया कि वे यूगोस्लाव साम्यवादियों के नेता टीटो के एजेंट थे। पूर्वी यूरोप की सरकारों और साम्यवादी दलों में दस्तदांज़ी का सिलसिला स्टालिन की मृत्यु के पूर्व तक चलता रहा।

युद्ध के शीघ्र बाद के काल में कुछ देशों में साम्यवादी दलों ने क्रांति भड़काने की कोशिश की। विश्वास किया जाता है कि इनमें से कुछ प्रयत्न स्टालिन के इशारे पर किए गए थे। वास्तव में पूर्वी यूरोप के देशों और उत्तर कोरिया को छोड़ कर, जिन्हें सोवियत सेनाओं ने मुक्त कराया था, किसी देश में साम्यवादियों का सत्ता में आना (जैसे चीन, वियतनाम, क्यूबा) न स्टालिन की और न सोवियत संघ के भड़काने से या मदाख़लत के कारण संपन्न हुआ था। ध्यान देने योग्य है कि इस काल में सभी साम्राज्यवादी देशों को संयुक्त राज्य की सैनिक शक्तियों का समर्थन प्राप्त था और संयुक्त राज्य ने कई देशों में राष्ट्रवादी तथा क्रांतिकारी शासनों को समाप्त करने और निरंकुश सरकारों की स्थापना करने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग बार-बार किया। लेकिन यह सत्य है कि सोवियत नीति से शीत युद्ध में कोई कमी नहीं आई और न बड़ी ताकतों की तनातनी ही ख़त्म हुई।

स्टालिन के बाद सोवियत विदेश नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सबसे अहम बदलाव यह आया कि वह अलग-अलग सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का अनुसरण करने वाले देशों के "शांतिपूर्ण सहअस्तित्व" पर ज़ोर देने लगा। वैसे शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति भारत जैसे नवस्वतंत्र देशों द्वारा अपनाई गई गुटनिरपेक्ष नीति की सबसे प्रमुख विशेषता थी, लेकिन जहाँ तक सोवियत विदेश नीति का संबंध है, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति ख़ुश्चेव की देन थी। साम्यवादी हमेशा से मानते आए थे कि राष्ट्रीय नीति के उपकरण के रूप में युद्ध के तरीके को अपनाने के वे ख़िलाफ़ हैं। लेकिन जब तक साम्राज्यवाद क़ायम है तब तक युद्ध अवश्यंभावी है, ऐसा उनका विचार था। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का मतलब युद्ध की अवश्यंभाविता के सिद्धांत का त्याग था। गुटनिरपेक्ष आंदोलन के नेताओं के साथ सोवियत नेताओं ने भी इस बात पर ज़ोर दिया कि आज की परिस्थिति में युद्ध समस्त मानवता को मिटा देगा, और इसलिए उसके स्थान पर शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति और अलग-अलग सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं के बीच स्वस्थ स्पर्धा की नीति अपनाई जानी चाहिए।

1950 वाले दशक के उतरते वर्षों से लेकर इस पूरे काल में सोवियत संघ ने कई महत्वपूर्ण निरस्त्रीकरण प्रस्ताव प्रस्तुत किए, लेकिन जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, निरस्त्रीकरण या युद्ध की संभावना ख़त्म करने की दिशा में कोई प्रगति नहीं हो पाई। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा कि गुटनिरपेक्ष आंदोलन द्वारा निरस्त्रीकरण के लिए की गई विभिन्न पहलकदमियों को सोवियत संघ लगभग बराबर समर्थन देता रहा, और कुछ निरपेक्ष देशों ने तो यहाँ तक कहा कि सोवियत संघ तथा अन्य सामाजवादी देश गुटनिरपेक्ष आंदोलन के "सहज मित्र" हैं। सोवियत विदेश नीति नए-नए आज़ाद हुए कई देशों की राष्ट्रीय स्वतंत्रता को मज़बूत करने और कई स्वतंत्रता आंदोलनों को शक्ति प्रदान करने में ही सहायक हुई। सोवियत संघ ने उन्हें राजनीतिक समर्थन ही नहीं दिया, बल्कि सामग्री से भी उनकी सहायता की। नवस्वतंत्र देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रयत्नों में सोवियत संघ के साथ उनके संबंधों को एक बहुत बड़ा सहारा समझा जाता था।

लेकिन शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति की हिमायत साम्यवादी आंदोलन में 1950 वाले दशक के उतरते वर्षों से आरंभ होने वाले विभेद की एक बड़ी वजह साबित हुई। माओ ज़ेडाँग के नेतृत्व में चीनी साम्यवादी दल युद्ध की अवश्यंभाविता में अपने विश्वास पर अडिग रहा। माओ जेडाँग ने कहा कि परमाणु युद्ध में भी, जिसमें लाखों-करोड़ों लोग मरेंगे, समाजवाद विजयी होगा। कुछ चीनी साम्यवादी नेताओं के और अन्य देशों के साम्यवादी दलों में उनके समर्थकों का



1956 में बुडापेस्ट 'हंगरी' में हुए विद्रोह का एक दृश्य। इस विद्रोह को दबाने के लिए सोवियत सेनाओं का उपयोग किया गया था

विचार था कि शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति से समाजवादी क्रांति के लिए चल रहा संघर्ष कमज़ोर पड़ जाएगा।

शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धांत के बावजूद संयुक्त राज्य का मुकाबला करने लायक विनाशकारी हथियारों से अपने शस्त्रागार को भरने के प्रयत्न में सोवियत संघ ने कोई शिथिलता नहीं आने दी। लेकिन उसने कुछ एकतरफ़ा निर्णय अवश्य लिए। उदाहरण के लिए, उसने घोषणा की कि वह परमाणु अस्त्र का प्रयोग पहले कभी नहीं करेगा। साथ ही उसने संयुक्त राज्य से भी ऐसा ही वचन देने को कहा। उसने परमाणु अस्त्रों का भूगर्भीय परीक्षण बंद कर दिया और एलान किया कि जब तक दूसरा पक्ष ये परीक्षण नहीं करता, तब तक वह भी दुबारा ऐसे परीक्षण नहीं करेगा।

शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की दुहाई देने के बावजूद पूर्वी यूरोप के प्रति सोवियत नीति में कोई बदलाव नहीं आया। कहा जा सकता है कि पूर्वी यूरोप को अपना प्रभाव-क्षेत्र मानना उसने जारी रखा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, दो अवसरों पर उसने बड़े पैमाने पर सैनिक कार्रवाइयाँ कीं। 1956 में हंगरी में और 1968 में चेकोस्लोवाकिया में। इन कार्रवाइयों का उद्देश्य अपने-अपने देश में राज्य-व्यवस्था को अधिक लोकतांत्रिक बनाने के प्रयत्न में लगे नेतृत्वों को अपदस्थ करना था। सच तो यह है कि ब्रेज़नेव ने, जो अब तक ख्रुश्चेव का स्थान ले चुका था, घोषणा कर दी थी कि अगर किसी समाजवादी देश में समाजवादी व्यवस्था ख़तरे में पड़ जाए तो उसमें हस्तक्षेप करना दूसरे समाजवादी देशों का कर्तव्य है।

गोर्बाचेव के सत्तारूढ़ होने पर सोवियत विदेश नीति में बुनियादी परिवर्तन आए। अफ़ग़ानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप का ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं। इस हस्तक्षेप के फलस्वरूप सोवियत संघ एक लंबी लड़ाई में उलझ गया था। इससे सोवियत-अमरीकी संबंधों में भी कटुता आ गई थी और तनाव कम करने की प्रक्रिया में बाधा पड़ी थी। 1988 में सोवियत संघ ने अपनी सेना को हटाना शुरू किया और 1989 तक अफ़ग़ानिस्तान से सारे सोवियत सैनिक हट चुके थे। (यह बात और है कि सोवियत सेनाओं के हटने से अफ़ग़ानिस्तान में शांति स्थापित नहीं हुई और वहाँ गृहयुद्ध अब भी चल रहा है)। सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य के साथ दो महत्वपूर्ण शस्त्रास्त्र नियंत्रण समझौतों पर भी हस्ताक्षर किए। इस दौर की एक और महत्वपूर्ण घटना यह थी कि सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के देशों पर से अपना नियंत्रण हटा लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि इन सभी देशों में साम्यवादी दलों का शासन समाप्त हो गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सोवियत संघ नेतृत्व वाला सैनिक गुट वार्सा गठबंधन 1991 में विधिवत भंग कर दिया गया।

गोर्बाचेव की घरेलू और बाहरी-दोनों नीतियों का पूरी दुनिया में स्वागत हुआ। उसने विदेश नीति के क्षेत्र में जो साहस-भरे कदम उठाए उन्होंने शीत युद्ध की समाप्ति में बेशक निर्णायक भूमिका निभाई। गोर्बाचेव को 1990 का नोबेल शांति पुरस्कार दिया गया।

सोवियत संघ का टूटना

ऊपर गोर्बाचेव की आर्थिक नीतियों की विफलता और गणतंत्रों की अधिक स्वायत्तता की माँग का उल्लेख किया जा चुका है। 1990 के अंत तक स्पष्ट हो चला था कि सोवियत संघ एक राज्य के रूप में अपनी पुरानी शक्ल में कायम नहीं रह पाएगा। एस्तोनिया, लैत्विया और लिथुआनिया के तीन बाल्टिक राज्य स्वतंत्र होने का फ़ैसला कर चुके थे। अन्य गणतंत्रों ने संघ के कानूनों के मुकाबले अपने कानूनों को प्रमुखता देने का निर्णय कर लिया था। सोवियत संघ को टूटने से बचाने के लिए गोर्बाचेव ने दस गणतंत्रों को एक नई संधि पर राज़ी किया। इस नई संधि से गणतंत्रों को अधिक स्वायत्तता प्राप्त होती और साथ ही संघ भी बचा रह जाता। लेकिन इस पर हस्ताक्षर होने से पहले ही सोवियत साम्यवादी दल के कुछ नेताओं ने 19 अगस्त 1991 को गोर्बाचेव को राष्ट्रपति पद से हटाकर तथा उसे अपने ही घर में नज़रबंद करके राज्य-विप्लव द्वारा सत्ता हथियाने की कोशिश की। इस राज्य-विप्लव का व्यापक विरोध हुआ जिसमें सेना भी शामिल थी। फलतः यह प्रयत्न विफल हो गया। गोर्बाचेव फिर से राष्ट्रपति-पद पर आसीन हो गया तथा राज्य-विप्लव के प्रयत्न से सोवियत संघ के बिखराव की प्रक्रिया तेज़ हो गई। बोरिस येल्तसिन, जिसे रूसी गणतंत्र का अध्यक्ष चुना गया था, इस दौर में सबसे शक्तिशाली नेता के रूप में उभरा। राज्य-विप्लव को विफल करने में उसने प्रमुख भूमिका निभाई थी। गोर्बाचेव ने साम्यवादी दल से त्यागपत्र दे दिया और दल की सारी गतिविधियों को स्थगित कर देने का आदेश जारी कर दिया गया। एक नई संधि के आधार पर सोवियत संघ को बचाए रखने के गोर्बाचेव के प्रयत्न का नतीजा शून्य रहा। नवंबर 1991 तक 15 में से 13 गणतंत्रों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। दिसंबर 1991 के आरंभ में रूसी राष्ट्राध्यक्ष बोरिस येल्तसिन ने दो अन्य गणतंत्रों के प्रधानों के साथ घोषणा कर दी कि सोवियत संघ का अस्तित्व समाप्त हो चुका है। उन्होंने अन्य गणतंत्रों को एक नए संघ में शामिल होने को आमंत्रित किया। इस संघ को स्वतंत्र राज्यों के भ्रातृसंघ (कॉमनवेल्थ ऑफ इंडिपेंडेंट स्टेट्स) की संज्ञा दी गई। 25 दिसंबर 1991 को गोर्बाचेव ने सोवियत संघ के राष्ट्रपति-पद से त्यागपत्र दे दिया और उसी के साथ सोवियत संघ का अस्तित्व औपचारिक तौर पर भी समाप्त हो गया। उसके स्थान पर अब 15 स्वतंत्र राज्य थे, जिनको मिलाकर समाजवादी सोवियत गणसंघ बना था। उनमें से बारह गणतंत्र, जिनमें चार एशियाई गणतंत्र भी शामिल हैं, स्वतंत्र राज्यों के भ्रातृसंघ (कॉमनवेल्थ ऑफ़ इंडिपेंडेंट स्टेट्स) के सदस्य बन गए।

रूसी क्रांति का आँखों देखा वृतांत जॉन रीड नाम के एक अमरीकी पत्रकार ने अपनी एक पुस्तक में दिया था। इस पुस्तक का शीर्षक था *दस दिन जिन्होंने दुनिया को हिला दिया*। सोवियत संघ के विशाल क्षेत्र में, जो पहले रूसी साम्राज्य का क्षेत्र था, जिस प्रकार के समाजवाद की रचना की गई–इसे आम तौर पर 'वास्तव में अस्तित्व वाला समाजवाद' कहा जाता है। उसे बहुत समय तक पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था का विकल्प समझा जाता था। 'वास्तव में अस्तित्व वाले

समाजवाद' के अंत और सोवियत संघ का टूटना प्रत्याशित घटनाएँ नहीं थीं। ये घटनाएँ अचानक ही घट गईं और बिना किसी ख़ास विरोध के लेकिन इनके परिणाम, यह संभव है कि वैसे ही दुनिया को हिला देने वाले हों जैसे कि रूसी क्रांति के थे। यह बात निश्चित है कि इन घटनाओं से विश्व इतिहास के एक काल का अवसान हो गया।

यूरोप

युद्धोत्तर काल में यूरोप के घटनाचक्र के कुछ पहलुओं का ज़िक्र इस अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। बातों को ज़्यादा अच्छी तरह समझने के लिए हर देश के बारे में किंचित् विस्तार से विचार करना आवश्यक होगा, तथापि स्थानाभाव के कारण यहाँ कुछ प्रमुख विशेषताओं का संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत करने की ही कोशिश की गई है।

पुर्तगाल, स्पेन तथा यूनान

युद्धोत्तर यूरोप की प्रथम प्रमुख विशेषता यह थी कि वह दो भागों में बँट गया था जिसका ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं। इनमें से एक भाग, अर्थात् पूर्वी यूरोप के देश साम्यवादी दलों के शासन के अधीन आ गए और सोवियत संघ के साथ बंध गए। दूसरे हिस्से के यूरोपीय देशों में विभिन्न प्रकार की लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाएँ कायम हुईं और वे संधियों के ज़रिए संयुक्त राज्य से जुड़ गए। दूसरे हिस्से के देशों से इसके अपवाद पुर्तगाल, स्पेन और कई वर्षों तक यूनान थे, जिनमें से तीनों-के-तीनों यूरोप के पिछड़े राज्य थे।

पुर्तगाल में सालाज़ार की तानाशाही, जिसकी स्थापना 1932 में हुई थी 1968 तक कायम रही। उस साल स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण उसने पद-त्याग कर दिया। 1974 में कनिष्ठ सैनिक अफ़सरों के एक गुट ने समाजवादियों, साम्यवादियों तथा अन्य लोकतंत्रवादियों के समर्थन से तानाशाही शासन को समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर एक नया लोकतांत्रिक संविधान लागू कर दिया गया।

स्पेन में गृहयुद्ध में जीत के बाद फ्रेंको द्वारा स्थापित फ़ासीवादी तानाशाही 1975 में उसकी मृत्यु तक कायम रही। उसकी मृत्यु के बाद उदारीकरण आरंभ हुआ और राजनीतिक बंदियों को रिहा कर दिया गया। 1977 में चालीस साल से अधिक काल के बाद प्रथम स्वतंत्र चुनाव कराए गए। स्पेन का समाजवादी दल देश की एक बड़ी राजनीतिक ताकत के रूप में उभरा।

यूनान में गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद भी कोई स्थिर लोकतांत्रिक राज्यव्यवस्था कायम नहीं हो पाई थी। 1967 में फ़ौजी अफ़सरों के एक गुट ने सत्ता हथिया कर एक अत्याचार पूर्ण शासन व्यवस्था कायम की। यूनान में लोकतंत्र को पुनः प्रतिष्ठित करने का मसला दीर्घकाल तक यूरोप के लोगों की चिंता का कारण बना रहा। बहुत-से प्रसिद्ध यूनानी राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र की विभूतियाँ देश छोड़कर चली गई थीं या जेलों में पड़ी दिन काट रही थीं। देश के अंदर तो प्रतिरोध आंदोलन का जन्म हुआ ही, उसे देश के बाहर चलने वाले एक प्रबल प्रतिरोध आंदोलन का भी समर्थन प्राप्त था। आख़िर 1974 में यूनानी सैनिक तानाशाही, जिसे 'कर्नलों का शासन' कहा जाता था, समाप्त हुई और यूनान फिर से गणतंत्र बन गया।

पश्चिमी यूरोप

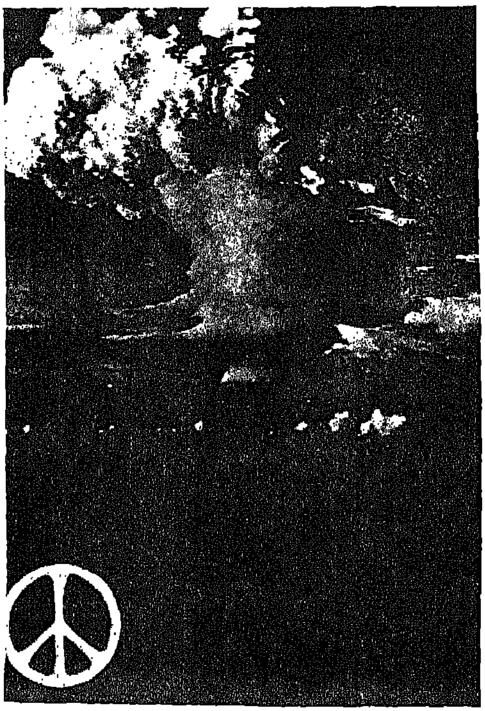
उपर्युक्त तीन देशों और साथ ही कुछ अन्य यूरोपीय देशों, ख़ासतौर से फ़्रांस और इटली में समाजवादी और साम्यवादी महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्तियाँ बनी रही हैं, हालाँकि हाल के वर्षों में फ़्रांस में साम्यवादी दल के प्रभाव में कमी आई है। पश्चिमी जर्मनी तथा कुछ अन्य यूरोपीय देशों में समाजवादी लोकतंत्रवादी (सोशल डेमोक्रैटिक) दल महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति रहे हैं और या तो अकेले अथवा संविद सरकारों में ये दल बहुधा सत्तारूढ़ रहे हैं। ब्रिटेन में लेबर पार्टी समय-समय पर सत्ता प्राप्त करती रही है।

द्वितीय विश्व युद्ध का यूरोप के लोगों के राजनीतिक चिंतन पर बहुत क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। युद्ध के शीघ्र बाद यूरोप के कई देशों में वामपंथी दल सत्तारूढ़ हो गए। फ़्रांस और इटली में 1947 तक सरकार में साम्यवादियों की भी भागीदारी थी। इन सरकारों ने ऐसे कई कानून बनाए जिनसे अधिकतर यूरोपीय समाजों में व्याप्त युद्ध-पूर्व की घोर असमानताओं में से कई को दूर किया जा सका। इन देशों में कुछ महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्रों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। जब दक्षिणपंथी और मध्यममार्गी दल सत्तारूढ़ हुए तब भी शक्तिशाली श्रमिक संघों की गतिविधियों के कारण वे किसी बड़े कल्याण कार्यक्रम को उलट नहीं पाए।

ऊपर हमने यूरोपीय उद्धार कार्यक्रम (यूरोपीय रिकवरी प्रोग्राम) का ज़िक्र किया है। इस योजना के फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप की अर्थव्यवस्थाएँ शीघ्र ही अपने युद्ध-पूर्व के स्तर तक फिर से पहुँच गईं। उसके बाद इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं का तीव्र विकास हुआ और कुछ ही वर्षों में फ्रांस तथा पश्चिमी जर्मनी औद्योगिक महाशक्तियों के रूप में सामने आए। पश्चिमी जर्मनी का अर्थिक विकास ख़ासतौर पर उल्लेखनीय था। उसने जल्दी ही अन्य सभी यूरोपीय देशों को पीछे छोड़ दिया

शांति आंदोलन

युद्ध के बाद कई वर्षों तक यूरोप शीतयुद्ध संघर्षों का मुख्य केंद्र बना रहा। यूरोप में शीत युद्ध के प्रमुख मुद्दों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पश्चिमी यूरोपीय देशों में से अधिकांश "नाटो" (नार्थ एटलांटिक ट्रीटी ऑर्गेनाइज़ेशन) सैनिक संगठन के सदस्य थे। इनमें से अधिकतर देशों में संयुक्त राज्य द्वारा दिए गए परमाणु हथियारों तथा प्रक्षेपास्त्रों से लैस "नाटो" के सैनिक और सैनिक अड्डे मौजूद थे। इससे यूरोप में तनावों में और भी वृद्धि होती थी। "नाटो" अड्डों को हटाया जाना 1950 वाले दशक से यूरोप के कई देशों में उठने वाले शांति आंदोलन की एक प्रमुख माँग बन गया। ब्रिटेन और फ्रांस अलग से अपने परमाणु अस्त्र विकसित करने लगे। इसे उन्होंने "स्वतंत्र परमाणु भयोत्पादन क्षमता" (इंडिपेंडेंट न्यूक्लियर डिटरेंट्स) की संज्ञा दी। ब्रिटेन को अब भी यह खुशफ़हमी थी कि वह एक बड़ी विश्व शक्ति है, और इसलिए उसकी भूमि पर संयुक्त राज्य द्वारा दिए परमाणु हथियारों के अलावा अपने परमाणु हथियार होना भी ज़रूरी है। लेकिन ब्रिटेन में भी प्रबल शांति आंदोलन उठा। 'परमाणु निरस्त्रीकरण अभियान' (कैंपेन फॉर न्यूक्लियर डिसामिंट) के नेतृत्व में चलने वाले इस आंदोलन ने ब्रिटेन में संयुक्त राज्य के अड्डे बंद करने और ब्रिटेन द्वारा एक तरफ़ा परमाणु निरस्त्रीकरण करने की माँग की।



न्यूक्लियर निरस्त्रीकरण अभियान द्वारा लगाया गया एक पोस्टर। इस संगठन ने ब्रिटेन में शांति आंदोलन का नेतृत्व किया।

यूरोप के प्रभुत्व का अंत

युद्धोतर काल में यूरोप की स्थिति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता विश्व पर उसके प्रभुत्व की समाप्ति थी। युद्ध ख़त्म होने के लगभग दो दशकों के अंदर एशिया तथा अफ्रीका में उसके अधिकांश साम्राज्य मिट चुके थे। यूरोप के साम्राज्यवादी देश अपने साम्राज्य छोड़ने को तैयार नहीं थे। कई मामलों में तो उन्हें राष्ट्रवादी आंदोलनों के ख़िलाफ़ लंबी लड़ाइयों में उलझना पड़ा। उदाहरण के लिए फ्रांसीसी लोग हिंद-चीन में अपने साम्राज्य को कायम रखने के लिए 1947 से 1954 तक लड़ते रहे। इसी तरह अल्जीरिया में वे 1954 से 1962 तक उलझे रहे। यह बात विचित्र लग सकती है लेकिन है सच कि जो देश अपने साम्राज्य से सबसे बाद तक चिपटा रहा था वह था यूरोप का सबसे पिछड़ा देश पुर्तगाल। अंगोला और मोज़ांबीक में पुर्तगाली शासन के ख़िलाफ़ राष्ट्रवादियों का सशस्त्र प्रतिरोध तब तक चलता रहा जब तक पुर्तगाल की तानाशाही कायम रही। पुर्तगाल में क्रांति होने के बाद

नई पुर्तगाली सरकार ने इन दोनों देशों के स्वतंत्रता आंदोलनों के नेताओं से वार्ता आरंभ की। आख़िर मोज़ांबीक 1975 में और अंगोला 1976 में आज़ाद हुए।

यूरोपीय एकता

इस बीच एक महत्वपूर्ण घटना घटी है जिसके कारण पश्चिमी यूरोप एक महान् विश्व शक्ति के रूप में उभर कर सामने आ सकता है। वह घटना है पश्चिमी यूरोप के एकीकरण का आंदोलन। आरंभ में जिस बड़े देश ने उसमें पहल की वह था- फ़्रांस। उसका विश्वास था कि वह सयुक्त पश्चिमी यूरोप का स्वाभाविक नेता है। इस दिशा में पहला बड़ा कदम 1957 में उठाया गया। उस साल 'यूरोपीय आर्थिक समुदाय' (यूरोपीयन इकॉनॉमिक कम्युनिटी: ई.ई.सी.) की स्थापना की गई। इस समुदाय में फ़्रांस, पश्चिमी जर्मनी, बेल्जियम, हॉलैंड, लक्समबर्ग और इटली शामिल थे। इन देशों ने एक बाज़ार स्थापित किया, जो 'साझा बाज़ार' (कॉमन मार्किट) के नाम से प्रसिद्ध है। ख़्याल था कि यह पश्चिमी यूरोपीय देशों के एक संघ के गठन की दिशा में शुरुआती कदम होगा। आरंभ में ब्रिटेन ने इस समुदाय से अपने को अलग रखा, लेकिन जब 1961 में उसने इसमें शामिल होना चाहा तो फ़्रांस ने उसे शामिल नहीं होने दिया। अंत में 1973 में उसे डेनमार्क और आयरलैंड, इन दो देशों के साथ यूरोपीय आर्थिक समुदाय में प्रवेश दे दिया गया। समुदाय के नौ सदस्यों ने बाद में यूरोपीय संसद की स्थापना की। कुछ समय पश्चात् यूनान, स्पेन और पुर्तगाल को भी इस समुदाय में दाख़िला दे दिया गया।

आगे के कुछ वर्षों के दौरान एक राजनीतिक हस्ती के रूप में संयुक्त पश्चिमी यूरोप के उदय की पूरी संभावना दिखाई देने लगी है। इस समुदाय के देशों में सामान्य मुद्रा प्रणाली आरंभ करने की योजना प्रगति पर है। इसी तरह यूरोपीय लोगों के लिए एक से दूसरे देश की यात्रा करने के लिए पासपोर्ट की ज़रूरत को ख़त्म करने के लिए कदम उठाए जा रहे हैं। इस बीच जर्मनी यूरोपीय आर्थिक समुदाय की सबसे प्रबल आर्थिक शक्ति के रूप में उभर चुका था। उसका एकीकरण हो जाने के कारण उसका प्रभाव और बढ़ने की संभावना है। अपने साम्राज्य खो बैठने के बावजूद पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ हो जाने से ये देश विश्व की एक नई शक्ति के रूप में उभरे है। संयुक्त राज्य पर उनकी आर्थिक निर्भरता में कमी आई है और संभावना बनी है कि वे दुनिया के मामलों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्वतंत्र भूमिका निभाएँगे।

पूर्वी यूरोप

ऊपर बताया जा चुका है कि पूर्वी यूरोपीय देशों पर, जिन्हें सोवियत सेना ने फ़ासीवाद से मुक्त कराया था, साम्यवादी दलों और उनके समर्थकों ने अपना एकछत्र शासन स्थापित कर लिया था। ये देश वार्सा गठबंधन के सदस्यों के रूप में सोवियत संघ से जुड़े हुए थे। उन्हें बहुधा सोवियत संघ के "उपग्रह" देश कहा जाता था। उधर सोवियत संघ अक्सर वहाँ के साम्यवादी दलों तथा सरकारों पर अपनी मर्ज़ी थोप दिया करता था। इतना ही नहीं, इसके लिए कभी-कभी तो वह सेना का भी प्रयोग करता था।

इन देशों को यूरोपीय उद्धार कार्यक्रमों का कोई लाभ नहीं मिला और अधिकतर इन्हें अपने ही संसाधनों पर भरोसा करके चलना पड़ा। सोवियत संघ उन्हें वैसी भारी सहायता देने की स्थिति में नहीं था जैसी सहायता पश्चिमी यूरोपीय देशों को संयुक्त राज्य दे रहा था। इन देशों में जिस प्रकार के समाजवाद का महल तैयार करने की कोशिश की गई थी उसका आधार सोवियत नमूना था। इन देशों की अर्थव्यवस्था सोवियत अर्थव्यवस्था से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई थी और जो दोष सोवियत अर्थव्यवस्था में थे, उनसे इनकी अर्थव्यवस्थाएँ भी ग्रस्त थीं। इनमें से अधिकतर देशों में कृषि पर आधारित पिछड़ी अर्थव्यवस्थाएँ कायम थीं। यद्यपि उनके आर्थिक विकास का स्तर पश्चिमी यूरोप के देशों की बराबरी का नहीं था, तथापि इनके औद्योगीकरण को एक महत्वपूर्ण सफलता माना जा सकता है। चंद लोगों के हाथों में आर्थिक सत्ता के सकेंद्रण से जो देश जुड़े हुए हैं, उनसे इन देशों में बचा गया और पुराने शासक वर्गों तथा ज़मींदारों के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया गया।

इन देशों में साम्यवादी दलों के शासन की समाप्ति का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सोवियत संघ की 1985 के बाद की घटनाओं का इन देशों की राजनीतिक स्थिति पर

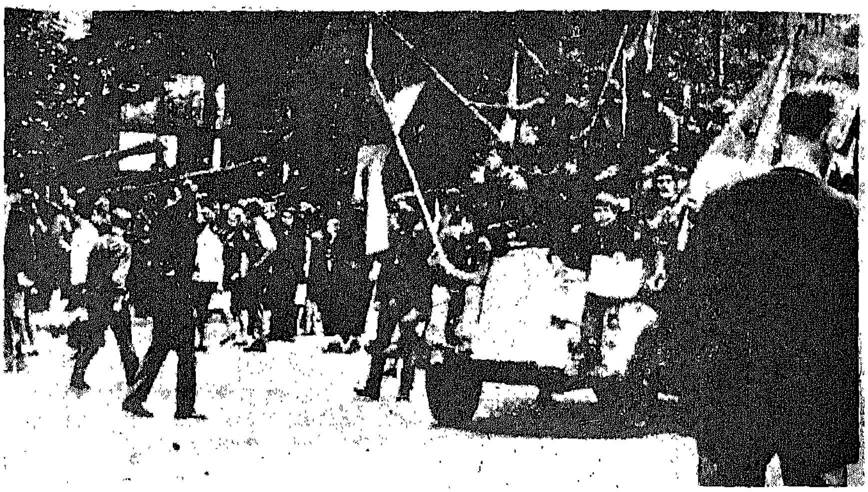
सीधा प्रभाव पड़ा। इनमें से लगभग सभी देशों में 1985 और 1991 के बीच साम्यवादी दलों का शासन समाप्त हो गया।

रोमानिया और अल्बानिया

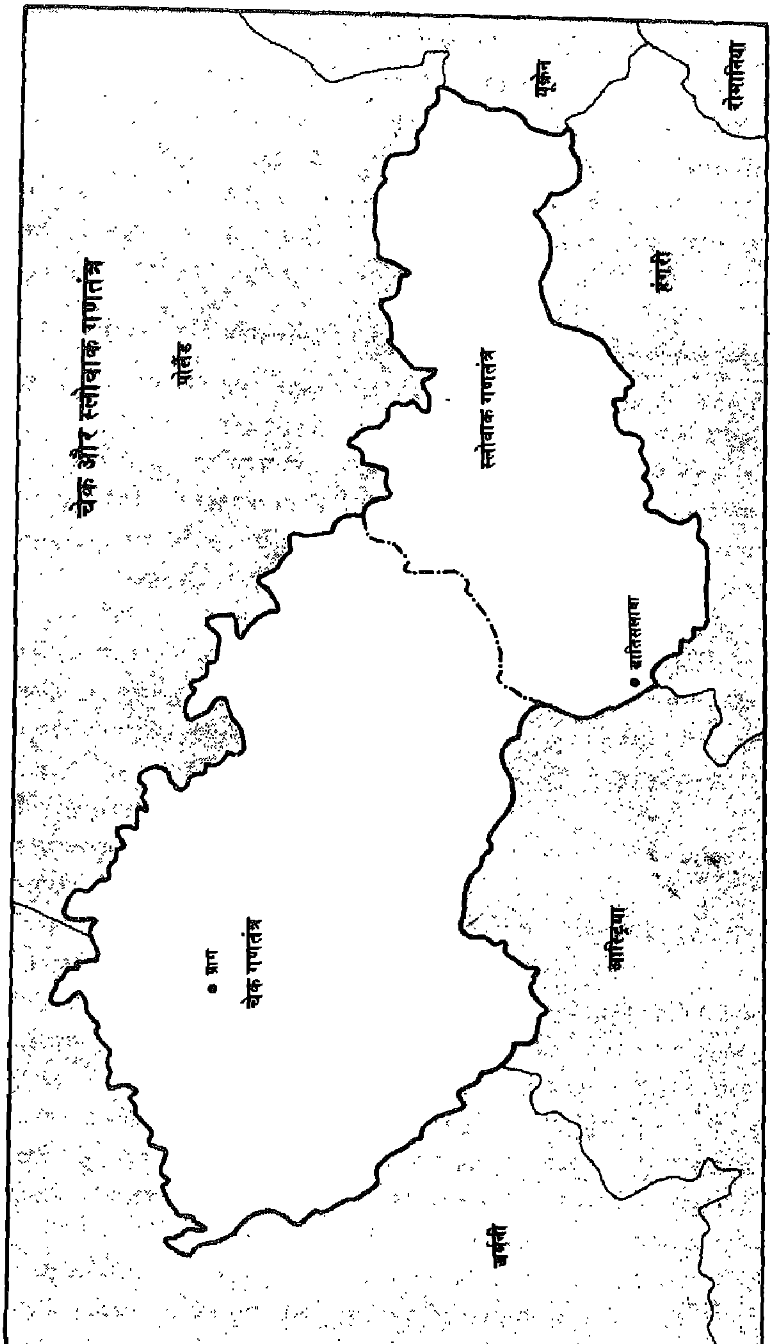
इन देशों में से दो, यानी रोमानिया और अल्बानिया ने सोवियत संघ तथा चीन के बीच विभेद पड़ने के बाद 1960 वाले दशक में सोवियत नियंत्रण से छुटकारा पा लिया था। अल्बानिया वार्सा गठबंधन से भी अलग हो गया था लेकिन इन देशों में साम्यवादी दलों के एकछत्र राज्य में कोई अंतर नहीं पड़ा। सच तो यह है कि इन देशों में साम्यवादी दलों के शासन को अन्य पूर्वी यूरोपीय देशों की अपेक्षा अधिक सर्वसत्तावादी कहा जा सकता है। दिसंबर 1989 में रोमानिया में निकोलाइ चेचेस्को के नेतृत्व वाली सरकार के ख़िलाफ़ जन-विद्रोह भड़क उठा। सेना की भी कई टुकड़ियाँ सरकार के ख़िलाफ़ खड़ी हो गईं। चेचेस्को और उसकी पत्नी को बंदी बनाकर उन पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें मृत्युदंड दे दिया गया। चुनावों के बाद एक संविद सरकार सत्तारूढ़ हुई। अल्बानिया में साम्यवादी दल का शासन 1992 में समाप्त हो गया।

पोलैंड, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया

पोलैंड में साम्यवादी दल के शासन के ख़िलाफ़ 'सॉलिडैरिटी' नामक एक संगठन के नेतृत्व में आंदोलन चला। 1989 में सॉलिडैरिटी और सरकार के बीच एक समझौता हुआ, और स्वतंत्र चुनावों के फलस्वरूप एक ग़ैर-साम्यवादी नेता देश का प्रधानमंत्री बना। हंगरी के 1956 के विद्रोह का ज़िक्र किया जा चुका है जिसे रूस ने बेरहमी से दबा दिया था। 1990 में स्वतंत्र चुनाव कराए गए और वहाँ एक ग़ैर-साम्यवादी सरकार कायम हुई। चेकोस्लोवाकिया में 1968 में वार्सा गठबंधन के देशों के सशस्त्र हस्तक्षेप के बाद अलेक्ज़ेंडर दुबचेक को, जिसने राजनीतिक तथा आर्थिक सुधार लागू करना आरंभ कर दिया था, हटा दिया था। दिसंबर 1989 में विशाल प्रदर्शनों तथा हड़तालों के बाद साम्यवादी दल का बोलबाला ख़त्म हो गया। वैकलाव हैवेल नामक एक प्रसिद्ध चेक लेखक चेकोस्लोवाकिया का राष्ट्रपति बनाया गया। यह



प्राग, चैकोस्लोवाकिया में सोवियत टैंकों के विरुद्ध प्रदर्शन करते हुए छात्र।


चेक और स्लोवाक गणतंत्र
पोलैंड
यूक्रेन
रोमानिया
हंगरी
स्लोवाक गणतंत्र
ब्रातिस्लावा
ऑस्ट्रिया
चेक गणतंत्र
प्राग
जर्मनी

देश 1918 में एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उदित हुआ था। 1968 से वह एक संघीय गणसंघ रहा था जिसमें चेक गणतंत्र और स्लोवाक गणतंत्र शामिल थे। साम्यवादी दल के शासन की समाप्ति के बाद गणतंत्रों ने एक-दूसरे से अलग हो जाने का फ़ैसला किया और 1993 में चेक गणतंत्र तथा स्लोवाक गणतंत्र नामक दो स्वतंत्र राज्य कायम हो गए।

पूर्वी जर्मनी

इस अध्याय में जर्मनी के विभाजन की समाप्ति का ज़िक्र किया जा चुका है। यह 1989 में आरंभ होने वाले घटनाक्रम का परिणाम था। 1989 में जर्मन जनवादी गणतंत्र के शासक दल सोशलिस्ट युनिटी पार्टी के नेतृत्व में और सरकार में भी परिवर्तन हुआ। उसी साल नवंबर महीने में जर्मन जनवादी गणतंत्र के नए नेताओं ने बर्लिन की दीवार को तोड़ने की घोषणा की। इसके शीघ्र बाद उन राजनीतिक दलों और संगठनों ने, जो पूर्वी जर्मनी के शासक दल के नियंत्रण में नहीं थे, खुलकर काम करना शुरू कर दिया। 1990 के आरंभ में पूर्वी जर्मनी की सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह एकीकरण के पक्ष में है। दिसंबर 1990 ई. में देशव्यापी चुनावों के बाद एकीकृत जर्मनी में एक नई संविद सरकार सत्तारूढ़ हुई।

तात्कालिक समस्याएँ

यूरोप में साम्यवादी हुकूमतों की समाप्ति और उनकी समाप्ति की द्रुत गति पिछले पाँच वर्षों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से है। इस घटनाक्रम की सबसे उल्लेखनीय बात यह रही है कि रोमानिया को छोड़कर बाकी देशों में यह सब कमोबेश शांतिपूर्ण ढंग से हुआ। लेकिन यह बदलाव समस्याओं से सर्वथा मुक्त नहीं रहा है। कुछ देशों में अत्यधिक केंद्रीकृत अर्थव्यवस्थाओं के बिखराव के बाद निर्बंध उद्यमों की बुनियाद पर ख़ास आर्थिक विकास नहीं हो पाया है। कुछ देशों में तात्कालिक आर्थिक समस्याएँ और भी जटिल हो गई हैं। भूतपूर्व पूर्वी जर्मनी में बदलाव के कारण कई उद्योग बंद हो गए जिससे बेरोज़गारी में वृद्धि हुई। अधिकतर पूर्वी यूरोपीय देशों में साम्यवादी दलों को लोकतांत्रिक समाजवादी दलों के रूप में पुनर्गठित किया गया। कुछेक देशों में ये दल प्रबल शक्ति बन गए हैं और चुनावों में इन्हें बहुमत का समर्थन प्राप्त हुआ है।

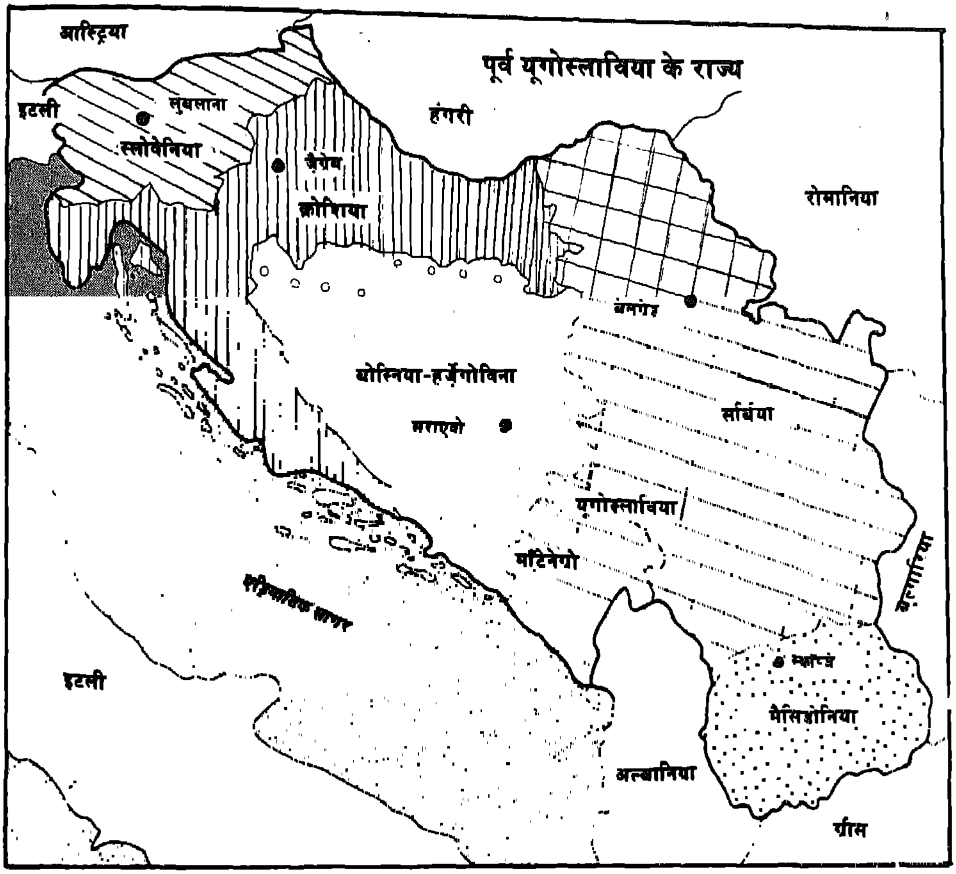
पिछले विभाग के अंतर्गत हमने यूरोपीय एकता की हलचलों का ज़िक्र किया है। स्मरणीय है कि संयुक्त यूरोप की कल्पना अब तक पश्चिमी यूरोप तक ही सीमित है।

यूगोस्लाविया का टूटना

हाल के वर्षों की एक महत्वपूर्ण घटना यूगोस्लाविया का टूटना है। स्मरणीय है कि स्वतंत्र राज्य के रूप में यूगोस्लाविया का जन्म प्रथम विश्व युद्ध के बाद हुआ था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय यूगोस्लाविया की जनता नाज़ी कब्ज़े के ख़िलाफ़ बहुत बहादुरी से लड़ी थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वह छह गणतंत्रों का एक संघ बन गया। यद्यपि उस पर साम्यवादी दल का शासन था, तथापि उसने सोवियत नियंत्रण को मानने से इनकार कर दिया था। जोसिप ब्रोज़ टीटो, जिसने नाज़ी कब्ज़े के ख़िलाफ़ यूगोस्लाव प्रतिरोध का नेतृत्व किया था और जो बाद में यूगोस्लाविया का राष्ट्रपति बन गया था, गुटनिरपेक्ष आंदोलन के संस्थापकों में था। इस काम में उसके अन्य सहयोगी जवाहर लाल नेहरू, नासिर और सुकार्नो थे। 1930 वाले दशक के अंत में यूरोप के अन्य साम्यवादी शासित देशों की तरह यूगोस्लाविया में भी सरकार पर साम्यवादी दल के एकछत्र नियंत्रण की समाप्ति की माँग उठी। 1990 के अंत तक यूगोस्लाव संघ के अधिकतर गणतंत्रों में ग़ैर-साम्यवादी सरकारें बन चुकी थीं।

इस बीच कई गणतंत्रों ने आज़ादी की माँग करना शुरू कर दिया था। 1992 का आरंभ होते-होते क्रोशिया, स्लोवेनिया, मेसीडोनिया और बोस्निया - हर्ज़ेगोविना अपनी-अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर चुके थे तथा सर्बिया और मोंटेनेग्रो ने मिलकर नया यूगोस्लाविया राज्य बना लिया था।

बोस्निया - हर्ज़ेगोविना द्वारा स्वतंत्रता की घोषणा के बाद वहाँ भीषण मारकाट मच गई। अब तक हज़ारों लोग



मारे जा चुके हैं। इस गणतंत्र में सर्ब, क्रोट और मुसलमान रहते हैं। सर्बिया की सहायता से बोस्नियाई सर्बों ने बोस्नियाई भूमि के एक बहुत बड़े हिस्से पर अपना नियंत्रण स्थापित कर रखा है। उन्हें बोस्निया हर्ज़ेगोविना के बहु-सांस्कृतिक स्वतंत्र राज्य का विचार नागवार गुज़रता है। 1992 से बोस्निया के सर्बों और मुसलमानों के बीच रक्तरंजित लड़ाई चल रही है, हालाँकि वहाँ संयुक्त राष्ट्र की शांति सेना तैनात है। कुछ सर्ब नेताओं ने बोस्निया के मुसलमानों के ख़िलाफ़ चल रही लड़ाई को "नस्ली सफ़ाई" (एथनिक क्लींज़िंग) कहा है। यह एक अत्यधिक आपत्तिजनक शब्द है जिसका इस्तेमाल एक नस्ल के लोगों ने दूसरी नस्ल को मिटाने कि लिए किया है।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका

स्वतंत्र राष्ट्रों का उदय

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के लगभग 25 वर्षों के अंदर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अधिकांश देशों ने साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति प्राप्त कर ली। जो बाकी रह गए, उन्होंने आगे के कुछ सालों में अपनी आज़ादी हासिल कर ली। आज 1995 में दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में कुछ छोटे-मोटे इलाकों को छोड़कर हर देश दूसरे देश के प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण से स्वतंत्र है। जो एक बड़ा देश हाल तक आज़ादी के मूलभूत अर्थों में आज़ाद नहीं था वह था–दक्षिण अफ्रीका। यह देश इस अर्थ में स्वतंत्र था – बल्कि



पूर्व यूगोस्लाविया के एक राज्य बोस्निया-हर्ज़ेगोविना के युद्ध ने हज़ारों लोगों को बेघर कर दिया है। चित्र में विस्थापितों के एक समूह को एक स्कूल, जिसे एक शिविर में बदल दिया गया है, में रहते हुए दिखाया गया है।

वस्तुत: तो बहुत पहले उसे एक गणतंत्र घोषित किया जा चुका था – कि उस पर किसी दूसरे देश का शासन नहीं था। लेकिन सच्चे अर्थों में वह स्वतंत्र नहीं था क्योंकि दक्षिणी अफ्रीका पर गोरे अल्पसंख्यकों का शासन था और आबादी के 80 प्रतिशत हिस्से को नस्ली आधार पर देश की राज्य व्यवस्था में कोई अधिकार नहीं दिया गया था। लेकिन 1994 के मई महीने के आरंभ में नस्ली अत्याचार का महल आख़िर ढह गया और एक ग़ैर-नस्लवादी लोकतांत्रिक सरकार सत्तारूढ़ हुई।

फ़िलस्तीन दूसरा देश था जिस पर अत्याचारपूर्ण शासन लागू था यद्यपि उसका रूप कुछ भिन्न था। इस देश में अधिकतर ऐसे लोगों ने, जो दुनिया के दूसरे भागों से, ख़ास तौर से यूरोप से आए थे, इज़राइल नामक एक "यहूदी" राज्य स्थापित कर लिया था। वहाँ अपना शासन कायम करके उन्होंने वहाँ के बहुत से नागरिकों को भगा दिया और जो फ़िलस्तीनी वहाँ रह गए, उन पर औपनिवेशिक ढंग का शासन थोप दिया। पिछले कुछ महीनों के दौरान कुछेक ऐसे कदम उठाए गए हैं जिनके फलस्वरूप शायद एक फ़िलस्तीनी राज्य की स्थापना हो जाए। दक्षिण अफ्रीका में गोरों के शासन के अंत और फ़िलस्तीन के स्वतंत्र राज्य की स्थापना के साथ दुनिया का लगभग हर हिस्सा आज़ाद हो जाएगा।

एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवाद के उदय और राष्ट्रीय आंदोलन के विकास की चर्चा पिछले अध्यायों में की जा चुकी है। द्वितीय विश्व युद्ध में राष्ट्रीय आंदोलनों द्वारा निभाई गई भूमिका और धुरी शक्तियों की पराजय का भी संक्षिप्त ज़िक्र किया जा चुका है। द्वितीय विश्व युद्ध को सर्वत्र स्वतंत्रता और लोकतंत्र की रक्षा की लड़ाई माना गया था और इससे स्वभावत: उन देशों में स्वतंत्रता आंदोलनों को बल मिला था जिनमें से कुछ तो फ़ासीवादी हमलों के ख़िलाफ़ गुट बनाकर लड़ रहे साम्राज्यवादी देशों के औपनिवेशिक शासन के अधीन थे और कुछ पुराने साम्राज्यवादी देशों के शासन को उखाड़ फेंकने वाली धुरी शक्तियों के अधीन थे। उदाहरण के लिए एशिया में भारत पर ब्रिटिश शासन कायम रहा था, लेकिन कई अन्य देशों में अंग्रेज़ों, फ़्रांसीसियों और डचों को जापानियों ने उखाड़ फेंका था। फ़्रांस के उपनिवेश नाम के लिए विशी फ़्रांस की हुकूमत के नियंत्रण में थे। इन सभी देशों में युद्ध के दौरान राष्ट्रवादी आंदोलनों की ताकत ख़ूब बढ़ी थी और जब युद्ध समाप्त हुआ तो इन सभी देशों में साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ ज़ोरदार लहर चल रही थी। पुराने साम्राज्यवादी देशों ने जिन देशों से उन्हें उखाड़ फेंका गया था उनमें फिर से अपना साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश की। उदाहरण के लिए, हिंद-चीन (इंडो-चाइना), इंडोनेशिया और बर्मा में इस तरह की कोशिशें की गईं। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलनों की ओर से उन्हें प्रबल प्रतिरोध का सामना करना पड़ा – कई मामलों में तो सशस्त्र प्रतिरोध का भी। जैसा कि इस अध्याय में ऊपर बताया जा चुका है, साम्राज्यवादी देशों तथा राष्ट्रवादी आंदोलनों के बीच के संघर्षों में से कुछ ने शीत युद्ध संघर्षों का रूप ले लिया। ऐसे मामलों में संयुक्त राज्य साम्राज्यवादी देशों की ओर से खड़ा हो गया। अफ्रीका के कई देशों में दोनों युद्धों के बीच ही राष्ट्रवाद पनपने लगा था, लेकिन वहाँ शक्तिशाली राष्ट्रीय आंदोलनों का उदय द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही हुआ।

साम्राज्यवाद का कमज़ोर होना

युद्ध के बाद साम्राज्यवाद का महल ढहने के कई और कारण भी थे। द्वितीय विश्व युद्ध में फ़ासीवाद का उन्मूलन तो हुआ ही, लेकिन साथ ही उससे यूरोप के साम्राज्यवादी देश भी कमज़ोर पड़ गए। इनमें से कई देश तो स्वयं ही फ़ासीवादी अतिक्रमण के शिकार हो गए थे। उदाहरण के लिए फ़्रांस, बेल्जियम और हॉलैंड (नीदरलैंड्स)–यूरोप के ये तीन साम्राज्यवादी देश स्वयं ही युद्ध के दौरान फ़ासीवादी कब्ज़े में चले गए थे। युद्ध के दौरान उनकी सैनिक शक्ति और अर्थव्यवस्थाएँ भी छिन्न-भिन्न हो गई थीं। सबसे बड़े साम्राज्य का स्वामी ब्रिटेन भी युद्ध में से जर्जर अर्थव्यवस्था लेकर निकला था। इनमें से कोई भी देश अब बड़ी शक्ति नहीं रह गया था। अब उनके स्थान पर सबसे बड़ी शक्तियाँ संयुक्त राज्य और सोवियत संघ थे। साम्यवादी दलों के नेतृत्व में पूर्वी यूरोप के देशों में समाजवादी सरकारों की स्थापना से भी यूरोप के साम्राज्यवादी देशों की शक्ति क्षीण हुई। अब वे लंबी औपनिवेशिक लड़ाई चलाने की स्थिति में नहीं थे।

जिन देशों ने लंबी औपनिवेशिक लड़ाइयाँ चलाईं उनके सामने विकट घरेलू समस्याएँ खड़ी हो गईं। उदाहरण के लिए

हिंद-चीन और अल्जीरिया में फ़्रांस की औपनिवेशिक लड़ाइयों ने देश के अंदर गंभीर संकट पैदा कर दिए जिनसे एक समय तो पूरी राजनीतिक व्यवस्था ही ख़तरे में पड़ गई थी। अफ़्रीका में पुर्तगाल ने जो औपनिवेशिक लड़ाइयाँ लड़ीं वे पुर्तगाली तानाशाही के पतन का एक मुख्य कारण सिद्ध हुईं।

विश्व में अब जो नया राजनीतिक वातावरण तैयार हुआ था उसमें साम्राज्यवाद को अब "श्रेष्ठतर" सभ्यता की निशानी नहीं माना जाता था। इसके विपरीत अब हर जगह, यहाँ तक कि स्वयं उपनिवेशवादी देशों में भी, साम्राज्यवाद को पशुबल, अन्याय और शोषण का पर्याय माना जाने लगा था और उसे अमानवीय तथा अनैतिक समझा जाता था। 1945 से बाद की दुनिया में जिन विचारों का बोलबाला कायम हुआ वे आत्म-निर्णय, राष्ट्रीय संप्रभुता और समानता तथा अंतर्राष्ट्रीय मामलों में सहयोग के विचार थे। इस प्रकार औपनिवेशिक शासन कायम रखने के प्रयत्न अब लोकप्रिय नहीं रह गए थे – स्वयं साम्राज्यवादी देशों में भी नहीं। फ़्रांस द्वारा लड़ी गई औपनिवेशिक लड़ाइयों का विरोध अधिकांश फ़्रांसीसी जनता ने किया। 1956 में जब ब्रिटेन ने फ़्रांस और इज़राइल के साथ मिलकर मिस्र पर आक्रमण किया तो ब्रिटेन में सरकार के ख़िलाफ़ ऐसे ज़बरदस्त प्रदर्शन हुए जैसे प्रदर्शन वहाँ कुछ ही अवसरों पर हुए होंगे।

अब साम्राज्यवादियों ने औपनिवेशिक देशों में सत्ता न छोड़ने के नए बहाने बनाना आरंभ कर दिया। उपनिवेशों की जनता को स्वतंत्रता की दहलीज़ पर शांतिपूर्ण रीति से कदम रखने को तैयार करना, भाई-भाई की हत्या करने वाली और क़बायिली लड़ाइयों को रोकना, अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करना, आतंकवाद और साम्यवाद का प्रतिरोध करना तथा उपनिवेशों की जनता को लोकतंत्र का प्रशिक्षण देना आदि इसी तरह के बहाने थे।

बहुत से विद्वानों का अब यह भी मत है कि उपनिवेशों पर अपना कब्ज़ा बनाए रखने के लिए जितने ख़र्चे की आवश्यकता थी, उपनिवेशवादी देशों के लिए उसको उठाना कठिन हो गया था। उनका यह भी कहना है कि किसी देश के आर्थिक शोषण के लिए अब यह भी ज़रूरी नहीं रह गया था कि उस पर सीधा राजनीतिक नियंत्रण स्थापित किया जाए।

साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलनों की एकजुटता

स्वतंत्रता आंदोलनों को मज़बूती देने वाली एक महत्वपूर्ण बात अलग-अलग देशों के स्वतंत्रता आंदोलनों के बीच दूसरे देशों के स्वतंत्रता आंदोलनों को समर्थन देना था। उदाहरण के लिए 1946 में जब भारत की ब्रिटिश हुकूमत इंडोनेशिया में डच शासन और हिंद-चीन में फ़्रांसीसी शासन को पुनः प्रतिष्ठित करने में सहायता देने के लिए उन देशों को भारतीय फ़ौज भेज रही थी उस समय भारत में इस कार्रवाई के ख़िलाफ़ व्यापक प्रदर्शन किए गए। प्रदर्शनकारियों ने इंडोनेशिया और हिंद-चीन की स्वतंत्रता के प्रति अपना उत्साहपूर्ण समर्थन व्यक्त किया।

ज्यों-ज्यों एक के बाद एक देश को आज़ादी मिलती गई, इस एकजुटता की भूमिका भी अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती गई। जब कोई देश स्वतंत्र हो जाता था तब वह दूसरे देशों के स्वतंत्रता आंदोलनों को सक्रिय सहायता देने लगता था। यह सहायता अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में राजनीतिक स्तर पर और सामग्री आदि की आपूर्ति करके दी जाती थी। नव स्वतंत्र देशों ने राष्ट्रमंडल के मंच का और उससे भी कहीं अधिक संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच का इस्तेमाल उन देशों के हितों का समर्थन देने के लिए किया जो अब भी विदेशी शासन के अधीन थे।

जब से गुटनिरपेक्ष आंदोलन आरंभ हुआ तभी से उपनिवेशवाद-विरोध तथा साम्राज्यवाद-विरोध उसके महत्वपूर्ण लक्ष्यों में शामिल रहे और उसने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आंदोलनों को समर्थन देकर अपने इन लक्ष्यों को प्राप्त करने की कोशिश की। इसलिए आश्चर्य नहीं यदि दक्षिण पश्चिम अफ़्रीकी जनसंगठन (साउथ वैस्ट अफ़्रीका पीपुल्स ऑर्गैनाइज़ेशन – स्वापो), जिसने नामीबिया के स्वतंत्रता संघर्ष का नेतृत्व किया था, 1990 में इस देश के आज़ाद होने के बहुत पहले से ही गुटनिरपेक्ष आंदोलन का पूर्ण सदस्य था। फ़िलस्तीनी मुक्ति संगठन (पैलेस्टाइन लिबरेशन ऑर्गैनाइज़ेशन – पी. एल.ओ.) 1976 में ही गुटनिरपेक्ष आंदोलन का पूर्ण सदस्य बन गया था।

अफ़्रीका के स्वतंत्र देशों ने अफ़्रीका में स्वतंत्रता संघर्ष को मज़बूती देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1963 में

उन्होंने अफ्रीकी एकता संगठन (ऑर्गेनाइज़ेशन ऑफ़ अफ्रीकन यूनिटी) की स्थापना की। इसका एक प्रयोजन अफ्रीका से हर प्रकार के उपनिवेशवाद को मिटाना था। स्वतंत्रता आंदोलनों को सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों का भी समर्थन प्राप्त हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका

संयुक्त राष्ट्र संघ भी उस प्रक्रिया को बढ़ावा देनेवाली ऐसी प्रमुख शक्ति का काम करता रहा है जो साम्राज्यवाद को समाप्त करने में सहायक सिद्ध हुई है। संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र तथा मानवाधिकारों की विश्वजनीन घोषणा का ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं। ये दस्तावेज़ अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की विश्वव्यापी आकांक्षाओं के प्रतीक हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपनी स्थापना के समय से ही उपनिवेशों के मसले की ओर ध्यान देना आरंभ कर दिया था। ज्यों-ज्यों संयुक्त राष्ट्र में शामिल होने वाले भूतपूर्व उपनिवेशों की संख्या बढ़ती गई त्यों-त्यों उपनिवेशवाद को मिटाने के प्रश्न पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा और यह संस्था उपनिवेशों द्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करने में उत्तरोत्तर ज़्यादा से ज़्यादा महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी। हाल में नामीबिया की स्वतंत्रता में उसने निर्णायक भूमिका निभाई है।

भारत की भूमिका

भारत द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् स्वतंत्रता प्राप्त करने वाले प्रथम देशों में से था। यद्यपि ब्रिटिश शासक इस देश के टुकड़े करने में कामयाब हो गए थे, तथापि भारत की स्वतंत्रता का ऐतिहासिक महत्व बहुत अधिक था। भारत का स्वतंत्रता आंदोलन अफ्रीका और एशिया के सभी देशों के स्वतंत्रता आंदोलनों के लिए प्रेरणा का स्रोत हो गया था। आज़ादी के पहले ही एशियाई संबंध सम्मेलन (एशियन रिलेशंस कांफरेंस) का संगठन करके भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के नेता बहुत-से एशियाई देशों को एक मंच पर इकट्ठा कर चुके थे। यह सम्मेलन विश्व में एशिया के एक नई शक्ति के रूप में उभरने का प्रतीक था। स्वतंत्र भारत आज़ादी के लिए लड़ने वाले समस्त देशों के लिए शक्ति का एक स्रोत बन गया था।

दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों की स्वतंत्रता

1948 के आरंभ में ही 4 जनवरी को बर्मा (अब म्यांमार) और 4 फ़रवरी को सीलोन (अब श्रीलंका) स्वतंत्र हो गए। 1945 में जापानियों की हार के बाद मलाया पर ब्रिटिश सैनिकों ने फिर से कब्ज़ा कर लिया था, लेकिन 1957 में वह भी आज़ाद हो गया। 1963 में उसने सबाह (पहले का उत्तरी बोर्नियो), सारावाक और सिंगापुर के साथ मिलकर मलेशियन संघ (फ़ेडरेशन) की स्थापना की। लेकिन 1965 में सिंगापुर ने अपने को पृथक स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया।

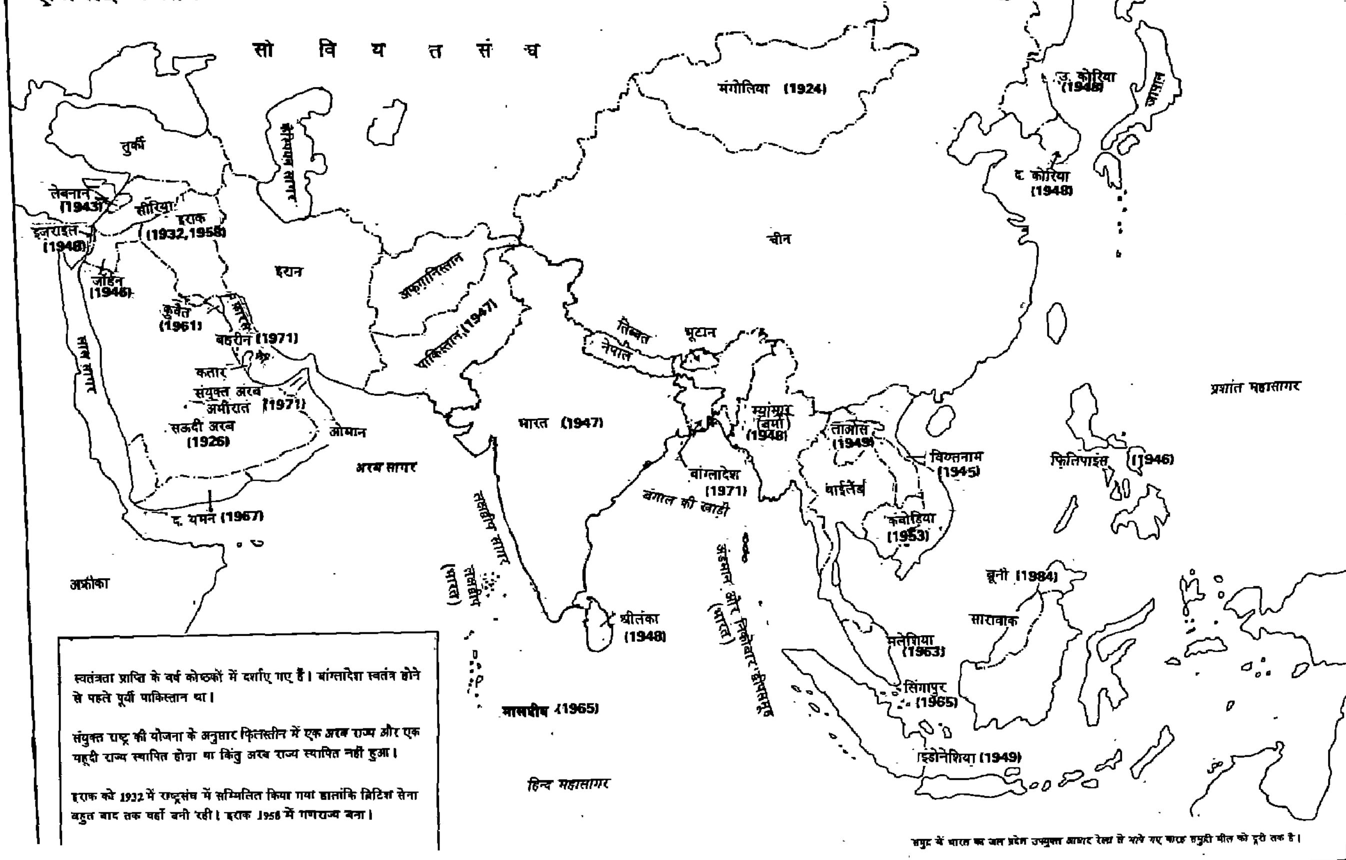
इंडोनेशिया में जापान के आत्मसमपर्ण के शीघ्र बाद राष्ट्रवादियों ने इंडोनेशियाई गणतंत्र की घोषणा कर दी थी। लेकिन ब्रिटिश समर्थन से डच लोगों ने उस पर फिर से अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया और राष्ट्रवादियों के साथ उनकी लड़ाई छिड़ गई। युद्ध 1949 में समाप्त हुआ और उसी साल 27 दिसंबर को इंडोनेशिया स्वतंत्र हो गया।

वियतनाम युद्ध का ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है। इसमें पहले तो फ्रांस को हार खानी पड़ी और बाद में संयुक्त राज्य को। 30 अप्रैल 1975 को वियतनाम युद्ध का अंत हुआ, जब दक्षिण वियतनाम की अमरीका समर्थित सरकार की राजधानी सायगॉन को मुक्त करा लिया गया। 1976 में वियतनाम का एकीकरण हो गया। हो ची मिन्ह के सम्मान में सायगॉन का नाम हो ची मिन्ह नगर रखा गया। हो ची मिन्ह वियतनामी जनता का महान नेता था जिसने वियतनाम के स्वतंत्रता आंदोलन का सूत्रपात किया था और 1969 में अपनी मृत्यु तक उसको नेतृत्व प्रदान करता रहा था। वह सर्वत्र युवकों तथा स्वातंत्र्य-प्रिय लोगों के नायक के रूप में समादृत किया जाता था।

हिंद-चीन (इंडो-चाइना) में शामिल तीन देशों में से एक लाओस था, जिसने 1945 में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। लेकिन लाओस में पहले फ़्रांसीसी और बाद में अमरीकी हस्तक्षेप जारी रहा। अमरीकी हस्तक्षेप 1973 में समाप्त हुआ।

हिंद-चीन के तीसरे देश कंबोडिया में भी जापानियों की पराजय के बाद फ़्रांसीसी लौट आए थे। आख़िर 1953 में फ़्रांसीसियों ने उसे छोड़ दिया और कंबोडिया आज़ाद हो

एशियाई देशों द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति



स्वतंत्रता प्राप्ति के वर्ष कोष्ठकों में दर्शाए गए हैं। बांग्लादेश स्वतंत्र होने से पहले पूर्वी पाकिस्तान था।

संयुक्त राष्ट्र की योजना के अनुसार फिलिस्तीन में एक अरब राज्य और एक यहूदी राज्य स्थापित होना था किंतु अरब राज्य स्थापित नहीं हुआ।

इराक को 1932 में राष्ट्रसंघ में सम्मिलित किया गया हालांकि ब्रिटिश सेना बहुत बाद तक वहाँ बनी रही। इराक 1958 में गणराज्य बना।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

गया। 1970 में संयुक्त राज्य ने वहाँ एक कठपुतली सरकार स्थापित की और वह वियतनाम में जो लड़ाई लड़ रहा था उसका दायरा कंबोडिया तक बढ़ा दिया गया। 1975 में अमरीकी समर्थित सरकार को उखाड़ फेंका गया। लेकिन उसके बाद कंबोडिया में एक अत्यधिक बर्बर सरकार कायम हुई। इस सरकार का गठन कंबोडिया के ख़मेर रूश्ज़ (लाल ख़मेर) नामक एक साम्यवादी गुट ने किया था। उसका प्रधान पॉल पॉट था। उसने अपने ही देशवासियों के संहार की नीति अपनाई। अनुमान है कि इस सरकार ने 10 से लेकर 30 लाख कंबोडियाइयों को मौत के घाट उतार दिया। इस बर्बर सरकार को वियतनामी सेना की मदद से 1979 ई. में अपदस्थ कर दिया गया।

लेकिन कंबोडिया में संघर्ष कई वर्षों तक चलता रहा। वहाँ तीन मुख्य राजनीतिक गुट थे—एक तो था ख़मेर रूश्ज़, दूसरा गुट वह था जिसका नेता प्रिंस सिंहानुक था। 1970 में संयुक्त राज्य के समर्थन से सिंहानुक सरकार को अपदस्थ कर दिया गया था। तीसरा गुट वह था जिसने वियतनामी सहायता से पॉल पॉट की सरकार को हटाया था। ख़मेर रूश्ज़ वियतनाम समर्थित सरकार के ख़िलाफ़ देश के अंदर के अपने नियंत्रण वाले प्रदेशों से तथा देश के बाहर से भी लड़ाई चलाता रहा। 1989 में कंबोडिया से वियतनामी सैनिकों को हटा लिया गया। 1991 में तीनों संघर्षरत गुटों को साथ बैठाया गया और संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में उन्होंने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। 1993 में कंबोडिया में चुनाव कराए गए और एक संविद सरकार सत्तारूढ़ हुई। लेकिन ख़मेर रूश्ज़ ने इस सरकार में शामिल होने से इनकार कर दिया और अपनी लड़ाई की नीति जारी रखी।



1950 में फ़्रांसीसियों के ख़िलाफ़ युद्ध के दौरान हो ची मिन्ह (बैठे हुए)

अरब देशों में राष्ट्रीय संघर्ष

कुछ अरब देशों में अरब राष्ट्रवाद तथा स्वतंत्रता आंदोलनों के उदय की चर्चा पहले की जा चुकी है। फ़्रांसीसी मेंडेट लेबनान को फ़्रांसीसियों ने एक अलग राज्य बना दिया था। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान लेबनान के फ़्रांसीसी कर्ता-धर्ता विशी फ़्रांस से जुड़े हुए थे, लेकिन उन्हें सत्ताच्युत करके स्वतंत्र फ़्रांस की सेना ने लेबनान पर कब्ज़ा कर लिया था। 1943 में लेबनान की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी गई, यद्यपि फ़्रांसीसी सेना वहाँ 1946 तक मौजूद रही। 1950 वाले दशक से लेबनान में काफ़ी उथल-पुथल होती रही है और राजनीतिक अस्थिरता कायम रही है। परस्पर विरोधी गुटों के बीच हिंसक मुठभेड़ों और लड़ाइयों के अलावा इज़राइल द्वारा बार-बार किए जाने वाले हवाई हमलों में भी यह देश तबाह होता रहा है।

सीरिया में फ़्रांसीसियों के ख़िलाफ़, जिन्हें अंग्रेज़ों का समर्थन प्राप्त था, विद्रोह भड़क उठे। 17 अप्रैल 1946 को सीरिया स्वतंत्र हो गया और फ़्रांसीसी सेना वहाँ से हटा ली गई। मिस्र में 1952 में गमाल अब्दुल नासिर और मुहम्मद नजीब के नेतृत्व में सैनिक अफ़सरों के एक गुट ने सत्ता हथिया ली और राजा को पदच्युत कर दिया। नई सरकार ने स्वेज़ नहर क्षेत्र में तैनात ब्रिटिश सैनिकों को हटाने की

माँग की। जुलाई 1956 में ब्रिटिश सैनिक हट गए, लेकिन जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अक्तूबर 1956 में ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सेनाओं ने इज़राइली सेना के साथ मिलकर मिस्र पर आक्रमण कर दिया हालांकि उन्हें शीघ्र ही वहाँ से वापस जाना पड़ा। कर्नल नासिर गुटनिरपेक्ष आंदोलनों के संस्थापकों में से भी एक था। 1958 से 1961 तक सीरिया और मिस्र संयुक्त अरब गणराज्य (यूनाइटेड अरब रिपब्लिक) नाम से एक राज्य के रूप में संयुक्त रहे। इराक में ब्रिटेन-समर्थक सरकार और राजा को सत्ताच्युत करने वाले तख़्ता-पलट का ज़िक्र पहले किया जा चुका है।

कुवैत उन्नीसवीं सदी के अंत में ही ब्रिटिश नियंत्रण में आ गया था। उसके विशाल तेल संसाधनों पर ब्रिटेन और संयुक्त राज्य की तेल कंपनियों का नियंत्रण था। 19 जून 1967 को कुवैत एक संप्रभुता संपन्न राज्य बन गया। उत्तर यमन उस्मानिया साम्राज्य की समाप्ति के बाद स्वतंत्र राज्य बन गया था लेकिन दक्षिण यमन में अंग्रेज़ों ने अपनी हुकूमत कायम कर ली थी। अदन शहर को ब्रिटिश भारत का हिस्सा बना लिया गया था, लेकिन 1937 में वह एक अलग उपनिवेश बना दिया गया। उसे अंग्रेज़ों द्वारा कायम किए गए नए राज्य दक्षिण अरब का हिस्सा बना दिया गया। 1963 में दक्षिण यमन में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह शुरू हो गया। नवंबर 1967 में दक्षिण यमन एक स्वतंत्र राज्य बन गया और ब्रिटिश सैनिक वहाँ से हट गए। 1990 में दोनों यमनों का एकीकरण हो गया।

ट्यूनीशिया और मोरक्को में फ़्रांसीसी शासन 1956 में समाप्त हो गया। लीबिया इतालवी शासन के अधीन चला गया था और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान वहाँ मित्र शक्तियों और जर्मनी के बीच कई महत्वपूर्ण लड़ाइयाँ लड़ी गईं। बाद में इस देश पर ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सेनाओं ने कब्ज़ा कर लिया। 24 दिसंबर 1951 को वह एक स्वतंत्र राजतंत्र बन गया। 1969 में राजतंत्र को समाप्त करके लीबिया को गणतंत्र बना दिया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के अंत में अरब लीग की स्थापना की गई। अरब लीग अरब देशों को एकजुट करके अरब



यासर अराफ़ात

राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने और अरब राज्यों की स्वतंत्रता की नींव को पुख़्ता करने में कई वर्षों तक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा।

सभी अरबों की चिंता का एक मुख्य विषय फ़िलस्तीन का प्रश्न रहा है। वहाँ पश्चिमी देशों की सहायता से इज़राइल नामक राज्य की स्थापना की गई और उन्हीं के समर्थन से उसे कायम रखा गया और फ़िलस्तीन राज्य की स्थापना नहीं होने दी गई। अरब राष्ट्रवादी इज़राइल को अपने क्षेत्र में साम्राज्यवाद की एक चौकी मानते रहे। 1963 में फ़िलस्तीनी मुक्ति संगठन (पेलेस्टाइन लिबरेशन ऑर्गनाइज़ेशन–पी.एल.ओ.) स्थापित किया गया, जो तभी से यासर अराफ़ात के नेतृत्व में फ़िलस्तीन के स्वतंत्र राज्य की स्थापना के लिए संघर्ष करता

रहा है। बाद में पी.एल.ओ. ने एक फ़िलस्तीनी सरकार की स्थापना की घोषणा कर दी और कई देशों ने उस सरकार को मान्यता भी दे दी। हाल में पी.एल.ओ. और इज़राइल के बीच हुए एक समझौते के अधीन गाज़ा पट्टी तथा पश्चिमी तट (विस्ट बैंक) पर रहने वाले फ़िलस्तीनियों को स्वायत्तता प्रदान कर दी गई है। इन क्षेत्रों में, जो 1967 से इज़राइली कब्ज़े में हैं और जिन्हें अधिकृत क्षेत्र कहा जाता है, दस लाख से अधिक फ़िलस्तीनी रहते हैं। अधिकृत क्षेत्र के कुछ हिस्सों में फ़िलस्तीनियों को स्वायत्तता प्रदान किया जाना शायद स्वतंत्र फ़िलस्तीनी राज्य की स्थापना की दिशा में उठाया गया एक कदम साबित हो।

अल्जीरिया का स्वातंत्र्य संघर्ष

स्वतंत्रता के लिए चलने वाले संघर्षों में से एक सबसे लंबे संघर्ष की शुरुआत अल्जीरिया में हुई। फ़्रांसीसियों ने 1830 ई. में ही अल्जीरिया पर कब्ज़ा कर लिया था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद फ़्रांस को अल्जीरिया में अपना शासन कायम रखने के लिए एक लंबी औपनिवेशिक लड़ाई में उलझना पड़ा। अन्य फ़्रांसीसी उपनिवेशों के विपरीत, अल्जीरिया में बहुत बड़ी संख्या में फ़्रांसीसी उपनिवेशी बस गए थे। 1960 में उनकी संख्या लगभग दस लाख थी। अल्जीरिया की अर्थव्यवस्था के अधिकतर हिस्से पर और उसके प्रशासन पर उन्होंने अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था और जब फ़्रांस की जनता और सरकार इस मसले को सही ढंग से निबटाने की इच्छुक थी, तब भी वे इस पर अपना नियंत्रण कायम रखने पर आमादा थे। यहाँ की स्थिति कुछ-कुछ वैसी ही थी जैसी दक्षिण अफ़्रीका और रोडेशिया की थी जहाँ के गोरे उपनिवेशी ऐसे किसी भी समझौते का दीर्घकाल तक विरोध करते रहे जिससे उनका प्रभुत्व समाप्त हो जाता। 1954 में अल्जीरिया के राष्ट्रवादी आंदोलन ने जन-विद्रोह का आह्वान किया। शीघ्र ही राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई शुरू हो गई। अल्जीरिया के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे (नेशनल लिबरेशन फ्रंट—एन.एल.एफ़.) ने अपनी मुक्ति सेना खड़ी कर ली जिसमें नियमित सशस्त्र सैनिकों के अलावा छापामार योद्धा भी शामिल थे।



अल्जीयर्स में एन.एल.एफ़.एन. द्वारा आयोजित एक प्रदर्शन

इस समय अल्जीरिया में फ़्रांसीसी सैनिकों की संख्या आठ लाख पर पहुँच गई थी। उन्होंने व्यापक नृशंसता और अत्याचार का दौर आरंभ कर दिया। मोर्चे ने अपनी कामचलाऊ सरकार की स्थापना की जिसे कई देशों ने मान्यता दे दी।

1958 में अल्जीरिया के फ़्रांसीसी उपनिवेशियों तथा फ़्रांसीसी सैनिकों ने फ़्रांस की सरकार के ख़िलाफ़ विद्रोह कर दिया जिसके फलस्वरूप चौथा गणतंत्र (1946 से फ़्रांसीसी सरकार इसी नाम से जानी जाती थी) समाप्त हो गया। अब जनरल डि गॉल ने सत्ता सँभाली और एक नया संविधान, जिसके आधार पर पाँचवें गणतंत्र की स्थापना हुई, लागू किया गया। फ़्रांसीसी उपनिवेशियों और अल्जीरिया में स्थित फ़्रांसीसी सेना को आशा थी कि नई सरकार अल्जीरिया में फ़्रांसीसी शासन कायम रखने के लिए चलाई जा रही उनकी लड़ाई को समर्थन देगी। लेकिन जब उन्होंने देखा कि डि गॉल अल्जीरियाइयों के साथ समझौते के पक्ष में है तो उन्होंने उसके ख़िलाफ़ भी विद्रोह कर दिया जो नाकामयाब रहा। मार्च 1962 में डि गॉल सरकार ने मुक्ति मोर्चे के साथ वार्ता आरंभ की



घाना की महिलाएँ, क्वामे एनक्रूमा के चित्रों वाले वस्त्र पहने हुए। एनक्रूमा 1961 में घाना के राष्ट्रपति

जिसके फलस्वरूप अल्जीरिया में लड़ाई बंद हो गई। अल्जीरिया की स्वतत्रता के बारे में फ्रांस में मत संग्रह किया गया जिसमें फ्रांसीसी जनता ने भारी बहुमत से अल्जीरिया की आज़ादी के पक्ष में फैसला दिया। 3 जुलाई 1962 को फ्रांस ने अल्जीरिया की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी। लगभग डेढ़ लाख अल्जीरियाई इस स्वतंत्रता संग्राम में फ़्रांसीसी सैनिकों के हाथों मारे गए थे।

दक्षिणी अफ्रीका में स्वतंत्रता आंदोलन

घाना तथा गिनी

दक्षिणी अफ़्रीका (उपसहारा अफ़्रीका) के अधिकांश देशों में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले राष्ट्रवादी संगठनों की स्थापना द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों के दौरान की गई। साम्राज्यवादी देशों को इस बात का एहसास हो गया था कि वे अफ्रीका पर अपना प्रभुत्व बहुत ज़्यादा दिनों तक कायम नहीं रख पाएँगे। दक्षिणी अफ्रीका में सबसे पहले घाना (ब्रिटिश शासन के अधीन गोल्ड कोस्ट के नाम से प्रसिद्ध) ने आज़ादी हासिल की। घाना में स्वतंत्रता संघर्ष का नेतृत्व क्वामे एनक्रूमा ने किया। वह अफ़्रीका राष्ट्रवाद का एक अप्रतिम नेता था जिसने अफ़्रीकी लोगों को स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए तथा दुनिया के मामलों में अपनी राष्ट्रीय संप्रभुता तथा स्वतंत्र भूमिका का आग्रह रखकर चलने के लिए संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1949 में उसने कनवेंशन

पीपुल्स पार्टी की स्थापना की थी। 1956 ई. में इस दल ने चुनावों में 70 प्रतिशत से अधिक स्थान जीते और 6 मार्च 1957 को घाना स्वतंत्र हो गया। 1958 में गिनी आज़ाद हो गया। दक्षिणी अफ़्रीका में स्वतंत्रता प्राप्त करने वाला यह पहला फ़्रांसीसी उपनिवेश था।

अफ़्रीका का वर्ष

1960 में अफ़्रीका के सत्रह देश स्वतंत्र हो गए इस वजह से उस वर्ष का नाम ही 'अफ़्रीका वर्ष' पड़ गया। इन 17 देशों में से 13 फ़्रांसीसी उपनिवेश थे। ये सत्रह देश थे– मॉरितानिया, माली, नाइजर, चाड, सेनेगल, आइवरी कोस्ट, अपर वोल्टा (अब बुरकीना फ़ासो), नाइजीरिया, टोगो, बेनिन, कैमरून, गैबॉन, कांगो (पहले फ्रेंच कांगो) ज़ायर (पहले बेल्जिन कांगो), मध्यम अफ़्रीकी गणतंत्र, सोमालिया और मेडागास्कर। 1960 में अफ़्रीका में साम्राज्यवाद विरोध की जो लहर उठी उससे ब्रिटिश प्रधानमंत्री हैरॉल्ड मैकमिलन भी प्रभावित हुआ। मार्च 1960 में अफ़्रीका के ब्रिटिश उपनिवेशों के दौरे के क्रम में उसने अफ़्रीकी महादेश में चल रही 'परिवर्तन की हवा' का ज़िक्र करते हुए कहा, "हमें यह पसंद हो या न हो, राजनीतिक जागरूकता की यह अभिवृद्धि एक राजनीतिक तथ्य है और हमारी राष्ट्रीय नीतियों में इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए।"

कीनिया में संघर्ष

ब्रिटिश साम्राज्यवाद "परिवर्तन की इस हवा" को रोकने की बहुत दिनों से कोशिशें कर रहा था। कीनिया में राष्ट्रवादी आंदोलन 1920 वाले दशक में ही आरंभ हो गया था। इस दौर में इस देश में जो एक बड़ा नेता उभरा वह था – जोमो केन्याटा। 1943 में कीनिया अफ़्रीका यूनियन का गठन किया गया जो बाद में कीनिया अफ़्रीकन नेशनल यूनियन में परिवर्तित हो गया, जिसको जोमो केन्याटा के अलावा ओडिंगा ओगिंगा से नेतृत्व प्राप्त हुआ। 1953 में कीनिया में माउ माउ विद्रोह भड़क उठा। यह विद्रोह मुख्य रूप से किकुयु कबीले के किसानों का विद्रोह था, जिनकी ज़मीनें ब्रिटिश



(बाएँ से दाएँ) जूलियस नायरेरे (तंज़ानिया के राष्ट्रपति), केनेथ कौंडा (ज़ांबिया के राष्ट्रपति) और जोमो केन्याटा (कीनिया के राष्ट्रपति)

औपनिवेशिक आधिकारियों ने छीन ली थीं। कुछ पश्चिमी लेखकों ने माउ माउ विद्रोहियों को आतंकवादी कहा है, जिन्होंने उनकी राय में अमानवीय क्रूरता से काम लिया। अंग्रेज़ों ने इस विद्रोह को बहुत बेरहमी से दबाया। इसमें लगभग 15,000 कीनियाई मारे गए। 1953 में केन्याटा को गिरफ़्तार करके माउ माउ विद्रोह का नेतृत्व करने के आरोप में सात साल का कारावास दे दिया गया। लेकिन ब्रिटेन की दमन की कार्रवाइयों की निंदा पूरी दुनिया में की गई और उसे अपने इस रवैये से मुँह मोड़ना पड़ा। 1961 में कीनिया को आज़ाद कर दिया गया। 12 दिसंबर 1964 को कीनिया गणतंत्र बन गया और जोमो केन्याटा उसका प्रथम राष्ट्रपति।

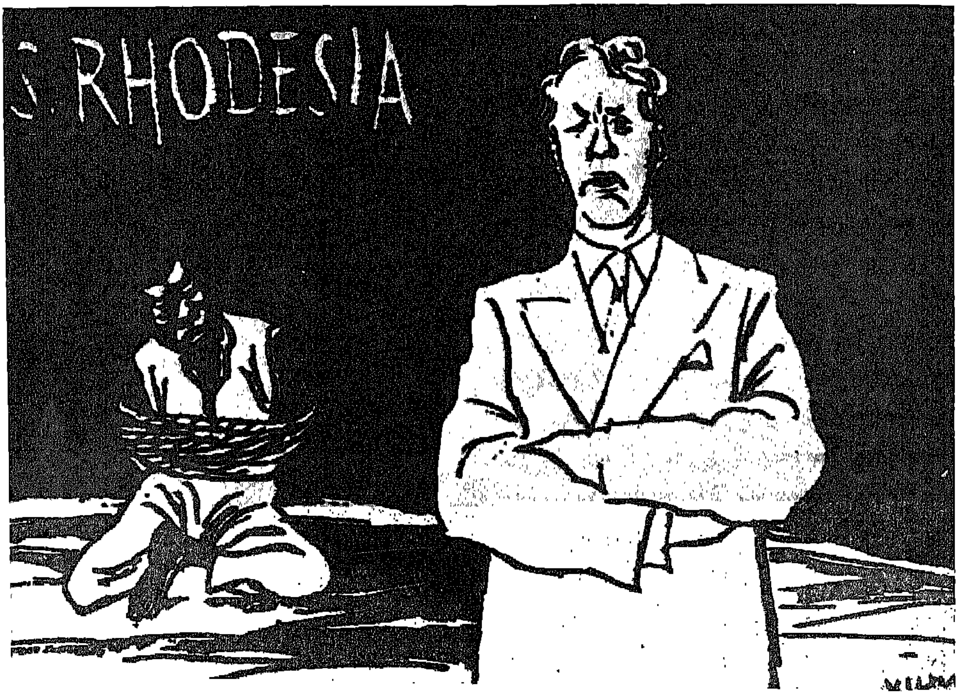
अफ़्रीका में औपनिवेशिक शासन का अंत

अब ब्रिटेन के जो उपनिवेश अफ़्रीका में बचे रह गए थे उनमें से अधिकांश 1960 वाले दशक में स्वतंत्र हो गए। 1961 में

तंज़ानिया (पहले के टांगानीका और ज़ंज़ीबार) तथा सियरा लिओन, 1962 में उगांडा, 1964 में ज़ांबिया (पहले का उत्तर रोडेशिया) और मालावी (पहले का न्यासालैंड), 1965 में गैंबिया और 1968 में बोट्सवाना, स्वाज़ीलैंड तथा लिसोथो आज़ाद हो गए। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद से ही बेल्जियम शासन के अधीन चले आ रहे रुआंडा और बुरुंडी 1962 में स्वतंत्र हो गए। 1960 वाले दशक का अंत होते-होते अफ़्रीका के अधिकांश देश आज़ाद हो चुके थे। जिन देशों में अब भी स्वतंत्रता संग्राम जारी था उनमें पुर्तगाली उपनिवेश अंगोला और मोज़ांबिक भी शामिल थे, जिनका ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है। इनके अलावा गिनी बिसाउ और केप वर्दे द्वीप समूह भी थे। ये सभी देश 1970 वाले दशक में आज़ाद हो गए। नामीबिया (दक्षिण पश्चिम अफ़्रीका) प्रथम विश्व युद्ध के अंत के समय से ही दक्षिण अफ़्रीका का उपनिवेश बना हुआ था। 1990 में वह भी स्वतंत्र हो गया।

ज़िंबाब्वे

लेकिन ज़िंबाब्वे (दक्षिणी रोडेशिया) को आज़ादी हासिल करने के लिए दीर्घकाल तक संघर्ष करना पड़ा। वह एक ब्रिटिश उपनिवेश था, लेकिन 1965 ई. में इयान स्मिथ के नेतृत्व में गोरे उपनिवेशियों ने यहाँ सत्ता हथिया ली थी। इस देश को स्वतंत्रता देने की संभावना पैदा हो गई थी, जिससे वे चिंतित हो उठे थे, क्योंकि उसकी स्वतंत्रता का मतलब काले बहुसंख्यकों का शासन होता। वहाँ दक्षिण अफ़्रीका के ढंग पर गोरी अल्पसंख्यक सरकार स्थापित की गई। इस सरकार को दक्षिण अफ़्रीका से समर्थन मिला और उसने "एकतरफ़ा स्वतंत्रता की घोषणा" (यूनिलेटरल डिक्लेरेशन ऑफ़ इंडीपेंडेंस-यू.डी.आई.) कर दी। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा राष्ट्रमंडल के कहने पर ज़्यादातर देशों ने दक्षिणी रोडेशिया



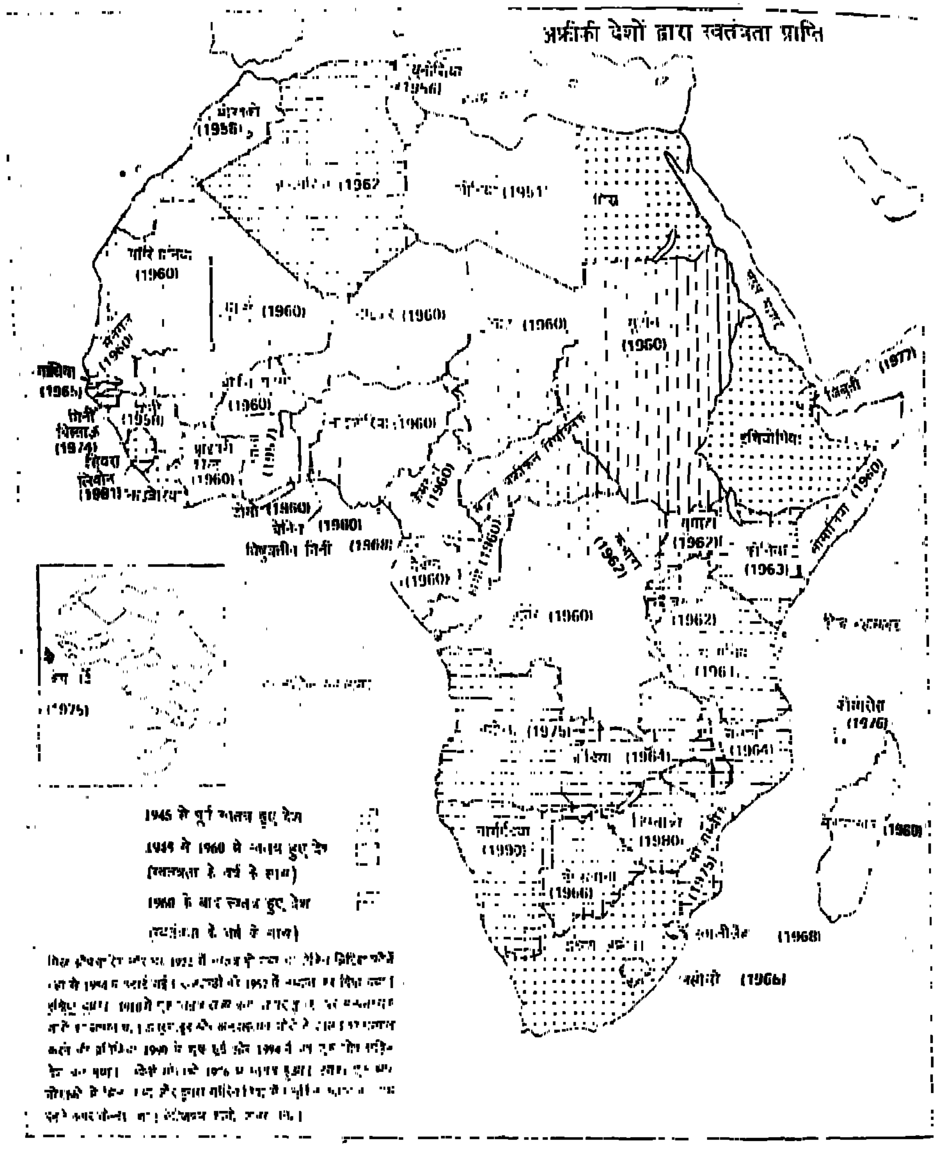
यू.डी.आई. के संबंध में ब्रिटिश व्यंग्य चित्रकार विक्की का एक व्यंग्य चित्र। व्यंग्य चित्र में गोरे आदमी के रूप में इयान स्मिथ को दिखाया गया है।



आदिस अबाबा, इथियोपिया में अफ़्रीकी एकता सभागार में ओ.ए.यू. के प्रतिनिधि। पीछे अफ़्रीका का मानचित्र है तथा स्वतंत्र अफ़्रीकी राज्यों के नेताओं के चित्र हैं।

पर दबाव डालने के लिए उसके ख़िलाफ़ अनेक प्रकार के प्रतिबंध लागू कर दिए। वहाँ एक सशक्त छापामार आंदोलन खड़ा हो गया। इस आंदोलन को पड़ोसी अफ़्रीकी देशों, गुटनिरपेक्ष आंदोलन तथा समाजवादी देशों से सहायता मिली। जब गोरी अल्पसंख्यक सरकार को इस बात का एहसास हो गया कि दक्षिण अफ़्रीका के समर्थन के बावजूद वह राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम को दबा नहीं सकती है तब उसने घुटने टेक दिए। 1980 में दक्षिण रोडेशिया में चुनाव कराए गए जिनमें गोरे-काले हर वयस्क व्यक्ति को एक मत देने का अधिकार था। राष्ट्रवादी दलों ने चुनावों में भारी बहुमत प्राप्त किया और देश स्वतंत्र हो गया, जिसका नया नाम ज़िंबाब्वे पड़ा। रॉबर्ट मुगाबे वहाँ की सरकार का प्रधान बना। वह ज़िंबाब्वे की राजधानी हरारे में 1986 में आयोजित सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आंदोलन का अध्यक्ष बना।

अफ़्रीका में साम्राज्यवाद की समाप्ति की प्रक्रिया को गति प्रदान करने वाली प्रमुख शक्तियों में से एक अफ़्रीकी एकता संगठन (ऑर्गेनाइज़ेशन ऑफ़ अफ़्रीकन यूनिटी) था, जिसका ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं। उसकी स्थापना 1963 में आदिस अबाबा में आयोजित अखिल अफ़्रीकी सम्मेलन (पैन अफ़्रीकन कांफ़्रेंस) में की गई थी। अफ़्रीकी राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने में 1960 वाले दशक में इस सम्मेलन की भूमिका ख़ासतौर पर महत्वपूर्ण रही।



दक्षिण अमरीका में ब्रिटिश और डच उपनिवेश

ब्रिटेन ने दक्षिण अमरीका और वेस्ट इंडीज़ में अपने कुछ उपनिवेश कायम कर रखे थे। 1960 ई. वाले दशक से आरंभ करके ये उपनिवेश एक-एक करके स्वतंत्र होते चले गए। 1962 में जमैका, ट्रिनिडाड और टोबेगो आज़ाद हुए, 1966 में गयाना और बारबेडॉस तथा 1976 में ग्रेनाडा। गयाना से पूर्व में स्थित सुरीनाम उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से ही नीदरलैंड्स के शासन में चला आ रहा था। 1975 में वह भी आज़ाद हो गया।

अपना प्रभाव कायम रखने के लिए औपनिवेशिक शक्तियों के प्रयत्न

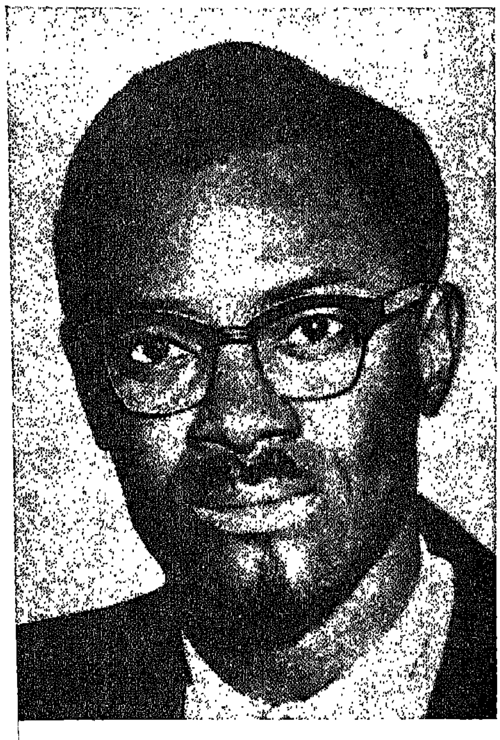
ऊपर जिन देशों का उल्लेख किया गया है उनमें से किसी को भी स्वतंत्रता की देहलीज़ पर आसानी से कदम नहीं रखने दिया गया। ज़्यादातर मामलों में उपनिवेशवादी शक्तियों ने स्वतंत्रता देने के बावजूद अपने प्रभाव को बरकरार रखने की कोशिश की। कुछ देशों में उपनिवेशवादी देशों या उनके समर्थकों ने अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष रूप में दख़लंदाज़ी की कोशिश की। ऐसा ख़ासतौर से उन देशों के मामलों में किया गया जहाँ औपनिवेशिक शासन के स्थान पर कायम होने वाली स्वतंत्र सरकारों के नेता आमूल परिवर्तनवादी प्रवृत्ति के लोग थे।

गयाना

ब्रिटिश गयाना (अब गयाना) में एक नए संविधान के अंतर्गत चुनाव हुए। इन चुनावों में प्रोग्रेसिव पीपुल्स पार्टी (पी.पी.पी.) ने 25 में से 18 स्थान जीत लिए। डॉ. छेदी जगन और फॉर्ब्स बर्नहम के नेतृत्व में यह गयाना का मुख्य साम्राज्यवाद विरोधी दल था और इसके समर्थकों में वहाँ के सभी वर्गों के लोग शामिल थे। इनमें से कुछ भारतीय मूल के थे और बाकी काले लोग। छेदी जगन प्रधानमंत्री बना और उसने आमूल परिवर्तनवादी, सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रम लागू करना आरंभ कर दिया। लेकिन चार ही महीने बाद ब्रिटिश शासकों ने सरकार को बर्ख़ास्त कर दिया और संविधान को स्थगित कर दिया। वहाँ ब्रिटिश सैनिक पहुँच गए और डॉ. जगन तथा बर्नहम को गिरफ़्तार कर लिया गया। यह सब साम्यवाद को "दूर रखने" के नाम पर किया गया। उसके बाद अंग्रेज़ों ने गयाना में नस्ली झगड़े पैदा कर दिए और पी.पी.पी. दो फाड़ हो गई। 1957 के चुनावों में डॉ. जगन की पार्टी फिर विजयी हुई और उसने अपनी आज़ादी की माँग तेज़ कर दी। फिर 1961 के चुनावों में भी इस दल ने बहुमत हासिल किया। लेकिन अब सरकार को आर्थिक सहायता बंद कर दी गई और नस्ली उपद्रवों और हिंसा को बढ़ावा दिया गया। 1964 के चुनावों में बर्नहम की पार्टी को पी.पी.पी. से, जिससे कि वह अलग हो गई थी, कम मत प्राप्त हुए। फिर भी एक दूसरे दल से गठबंधन करके वह प्रधान मंत्री बन गया। 1966 ई. में गयाना स्वतंत्र हो गया और बर्नहम उसका पहले प्रधान मंत्री और बाद में राष्ट्रपति बना। 1992 के चुनावों में डॉ. छेदी जगन राष्ट्रपति के पद के लिए चुना गया।

ज़ायर

ज़ायर (बेल्जियन कांगो) में स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व पैट्रिस लुमुंबा ने किया। उसी ने नेशनल कांगोलीज़ मूवमेंट (कांगोवासियों का राष्ट्रीय आंदोलन) की स्थापना की थी। 30 जून 1960 को कांगो स्वतंत्र हो गया और लुमुंबा उसका प्रधान मंत्री बना। लेकिन इसके शीघ्र बाद कटांगा प्रांत के गवर्नर ने कटांगा के कांगो से अलग हो जाने की घोषणा कर



पैट्रिस लुमुंबा

दी। उसे उन पश्चिमी कंपनियों का समर्थन प्राप्त था जिन्होंने इस प्रांत की विशाल खनिज (तांबा) संपदा पर नियंत्रण स्थापित कर रखा था। इस अलगाव का समर्थन करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में भाड़े के सैनिक रखे गए। कांगो सरकार के अनुरोध पर संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना वहाँ भेजी गई। लेकिन वह भी लुमुंबा की रक्षा न कर पाई और उसकी हत्या कर दी गई। अलबत्ता बाद में संयुक्त राष्ट्र की सेना कटांगा के अलगाव को रोकने में कामयाब हो गई। 1965 में कांगो की सेना का प्रधान कर्नल मोबुतु सत्ता हथिया कर वहाँ का राष्ट्रपति बन गया। अब इस देश को नया नाम जायर दिया गया। लुमुंबा को अफ़्रीका के राष्ट्रीय जागरण के महानतम नेताओं में गिना जाता था और विश्वास किया जाता है कि उसकी हत्या की योजना संयुक्त राज्य की गुप्तचर संस्था सी. आई.ए. ने बनाई थी।

ऐसे ही प्रयत्न अंगोला में भी किए गए जहाँ स्वतंत्रता के बाद ऑगस्टिनो नेटो के नेतृत्व में सरकार बनाई गई थी। संयुक्त राज्य तथा दक्षिण अफ़्रीका ने अंगोला के विरोधी गुटों को सहायता देकर और शस्त्र-सज्जित करके इस सरकार को उखाड़ फेंकने की कोशिश की। दक्षिण अफ़्रीका की सेना ने तो अंगोला में प्रवेश करके वहाँ की सेना के ख़िलाफ़ लड़ाई भी की। अंगोला ने विदेशी आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने के लिए क्यूबा से मदद माँगी और अंत में अंगोला की स्वतंत्रता को मिटाने की कोशिशें नाकाम कर दी गईं। कई वर्षों के बाद अंगोला में विदेशी दख़लंदाज़ी को समाप्त करने और वहाँ से क्यूबा की सेना की वापसी पर एक समझौता हो पाया।

लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूप में दक्षिण अफ़्रीका का उदय

नस्ली अत्याचार की सबसे घिनौनी प्रणाली दक्षिण अफ़्रीका में कायम की गई। दक्षिण अफ़्रीका के घटनाक्रम के कुछ पहलुओं का ज़िक्र तीसरे अध्याय में किया जा चुका है। दक्षिण अफ़्रीका में 'अपरथाइड' या रंगभेद नाम से ज्ञात नस्ली पृथक्करण की प्रणाली डेनियल मलान के नेतृत्व वाली गोरी



शार्पविल में नरसंहार। इसमें बहत्तर लोग मारे गए थे तथा 186 लोग घायल हुए थे।

अल्पसंख्यक सरकार ने 1948 में लागू की थी और तब से वहाँ जो भी सरकारें बनीं, सब-की-सब उस पर कायम रहीं। ग़ैर-गोरे लोगों को, जो आबादी के 80 प्रतिशत से अधिक थे, कोई मताधिकार प्राप्त नहीं था, हड़तालों पर प्रतिबंध लगा दिया गया था, कुछ ख़ास-ख़ास इलाकों से अफ़्रीकियों को हटा दिया गया था, गोरे-कालों के मिश्रित विवाह को ग़ैर-कानूनी (और अनैतिक) करार दिया गया और तथाकथित साम्यवाद दमन अधिनियम (सप्रेशन ऑफ़ कम्युनिज़्म एक्ट) के अधीन विरोध का मुँह बंद कर दिया गया था। अफ़्रीकियों की गतिविधियों पर कठोर प्रतिबंध लगा दिए गए और कहीं आने-जाने के लिए उन्हें साथ में एक पास लेकर चलना पड़ता था। राष्ट्रमंडल (कॉमनवेल्थ) के प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन में जब रंगभेद पर प्रहार किए गए तो दक्षिण अफ़्रीका इस संस्था से ही अलग हो गया। रंगभेद की नीति के ख़िलाफ़ सर्वत्र तीव्र विरोध व्यक्त किया गया और अधिकतर देशों ने दक्षिण अफ़्रीका से अपने सारे संबंध तोड़ लिए। संयुक्त राष्ट्र संघ ने दक्षिण अफ़्रीका के ख़िलाफ़ सैनिक और आर्थिक दबावों का आह्वान किया। विश्व लोकमत तथा स्वयं अपने यहाँ के लोकमत के ज़ोर डालने पर पश्चिमी देशों ने दक्षिण अफ़्रीका पर सैनिक और आर्थिक दबाव डालना शुरू किया

लेकिन अपनी नीति की विश्वव्यापी भर्त्सना के बावजूद दक्षिण अफ़्रीका अपने इस अमानवीय रवैये से विमुख नहीं हुआ। उसकी निष्ठुरता और क्रूरता की यदि कहीं कोई बराबरी इतिहास में है तो वह नाज़ियों की। 1960 में शार्पविल शहर में एक विरोध-सभा को भंग करने के लिए कत्ले आम मचाया गया। बाद में नृशंसतापूर्ण दमन की और भी कार्रवाइयाँ की गईं। 1960 वाले दशक तथा रंगभेद विरोधी आंदोलन के अधिकतर नेताओं को गिरफ़्तार करके लंबे कारावास की सज़ाएँ दे दी गईं। बाकी नेता भूमिगत होकर या दूसरे देशों में रहते हुए इस अत्याचारी शासन को ख़त्म करने के लिए काम करने लगे। कई वर्षों तक रंगभेद तथा गोरे अल्पसंख्यकों के शासन के ख़िलाफ़ चलने वाले संघर्ष को अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस (अफ़्रीकन नेशनल कांग्रेस - ए.एन.सी.) नेतृत्व प्रदान करती रही। इस संस्था की स्थापना 1912 में की गई थी। 1955 में एक जनसभा (कांग्रेस ऑफ़ द पीपुल) आयोजित की गई। उसने - "स्वतंत्रता के घोषणा पत्र" का एलान किया। इस घोषणा पत्र में अफ़्रीका की जनता के संघर्ष के बुनियादी लक्ष्यों को परिभाषित किया गया। घोषणा पत्र में कहा गया था :

> हम दक्षिण अफ़्रीका के लोग अपने संपूर्ण देश और पूर्ण विश्व की जानकारी के लिए घोषित करते हैं कि –
> दक्षिण अफ़्रीका कालों और गोरों–उन सबका है जो इसकी सीमाओं में रहते हैं और कोई भी सरकार अपनी सत्ता मनवाने का दावा न्यायपूर्वक नहीं कर सकती, यदि वह

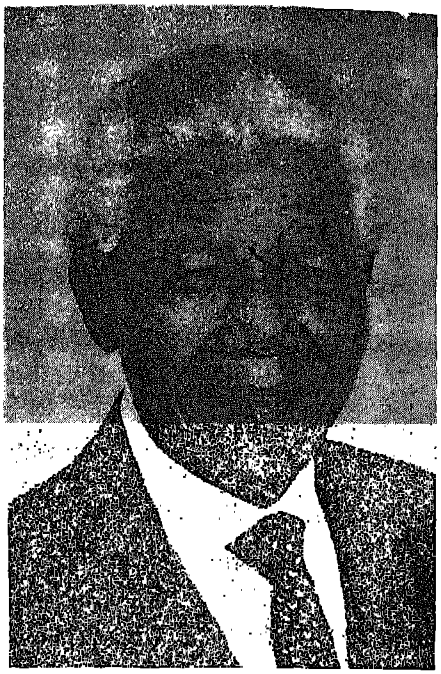


नेल्सन मंडेला को जब सज़ा दी गई थी, उस समय ब्रिटिश दैनिक पत्र 'डेलीमेल' में प्रकाशित एक व्यंग्य चित्र

संपूर्ण जनता की इच्छा के आधार पर खड़ी न हो,
अन्याय और असमानता पर आधारित शासन ने हमारी जनता को भूमि, स्वतंत्रता और शांति के जन्मसिद्ध अधिकारों से वंचित कर दिया है,
जब तक हमारे सभी लोग समान अधिकारों और समान अवसरों का उपभोग करते हुए भ्रातृभाव से नहीं रहने लगते तब तक हमारा देश खुशहाल या स्वतंत्र नहीं हो सकता,
जनता की इच्छा पर आधारित लोकतांत्रिक सरकार ही रंग, नस्ल, लिंग या धर्म के भेदभाव बिना सबके जन्मसिद्ध अधिकारों को सुनिश्चित कर सकती है, और इसलिए हम दक्षिण अफ़्रीका के लोग, हम काले और गोरे सभी लोग, समान देशभाइयों के रूप में साथ मिलकर स्वतंत्रता के इस घोषणा पत्र को अपनाते हैं। और हम सब प्रतिज्ञा करते हैं कि हम संपूर्ण शक्ति और साहस के साथ तब तक प्रयत्न करते रहेंगे जब तक कि इस घोषणापत्र में निर्दिष्ट लोकतांत्रिक परिवर्तन संपन्न नहीं हो जाते।

अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस अब तक शांतिपूर्ण अहिंसक संघर्ष की नीति पर चलती रही थी। लेकिन जब पशुबल के आगे समस्त शांतिपूर्ण विरोध नाकाम हो गए तब उसने सशस्त्र संघर्ष करने का निश्चय किया। उसने दक्षिण अफ़्रीका के अंदर और अफ़्रीका के स्वतंत्र देशों में प्रशिक्षण देकर छापामार और अन्य सैनिक तैयार किए। अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस के कुछ प्रमुख नेता गिरफ़्तारी से बच निकले थे। एक सशक्त भूमिगत आंदोलन खड़ा कर लिया गया और तोड़-फोड़ की कुछ साहसिक कार्रवाइयाँ की गईं। कांग्रेस को इस संघर्ष में अफ़्रीकी राज्यों, गुटनिरपेक्ष आंदोलन तथा समाजवादी देशों से भरपूर समर्थन प्राप्त हुआ।

अब तक दक्षिण अफ़्रीका के गोरे शासक दुनिया में लगभग पूरे तौर पर अकेले पड़ गए थे और देश के अंदर संघर्ष का ज़ोर बढ़ता जा रहा था। इन परिस्थितियों में उन्हें रंगभेद की नीति समाप्त करने के लिए वार्ता शुरू करने पर मजबूर होना पड़ा। अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस के उपाध्यक्ष नेल्सन मंडेला को प्रायः 26 साल के कारावास के उपरांत 1990 में रिहा किया गया। वह दक्षिण अफ़्रीकी जनता के संघर्ष का अदम्य प्रतीक बन गया था। अक्तूबर 1990 में उसने भारत की यात्रा की तो यहाँ उसे राज्य-प्रमुख के योग्य सम्मान दिया गया। उसे अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना के लिए जवाहरलाल



नेल्सल मंडेला, दक्षिण अफ़्रीका के राष्ट्रपति

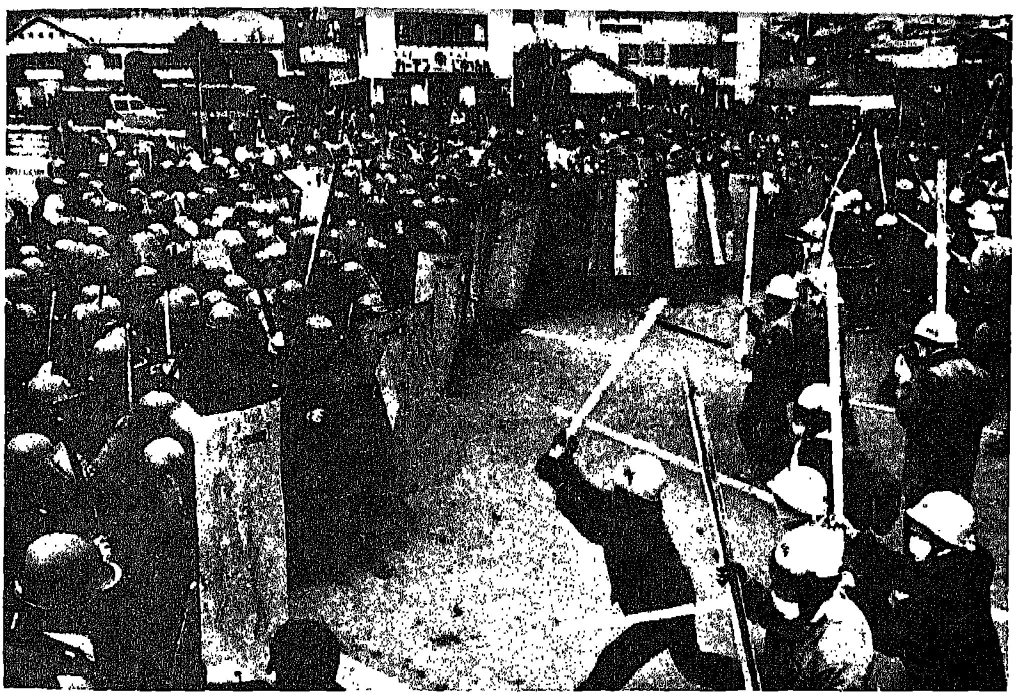
नेहरु पुरस्कार प्रदान किया गया। नेल्सन मंडेला की रिहाई के बाद अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस पर से प्रतिबंध उठा लिया गया और कई रंगभेद कानून रद्द कर दिए गए। बाद में नस्लवादी दमन की प्रणाली को समाप्त करने और "एक व्यक्ति एक वोट" के सिद्धांत के आधार पर लोकतांत्रिक चुनाव कराने के लिए समझौता हो गया।

अप्रैल 1994 ई. में दक्षिण अफ़्रीका के इतिहास का प्रथम लोकतांत्रिक चुनाव संपन्न हुआ। चुनावों में अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस भारी बहुमत से विजयी हुई और मई 1994 में नेल्सन मंडेला उस देश की पहली ग़ैर-नस्ली लोकतांत्रिक सरकार का राष्ट्रपति बना। इस सरकार को राष्ट्रीय एकता की संज्ञा दी गई है और इसमें दक्षिण अफ़्रीका की लगभग हर बड़ी पार्टी का प्रतिनिधित्व है। लोकतांत्रिक दक्षिण अफ़्रीकी राज्य के उदय को विश्व इतिहास के हाल के दौर की एक शानदार घटना माना गया है, जो सर्वथा उचित है। इसके साथ ही अफ़्रीका की मुक्ति की प्रक्रिया पूरी हो गई।

जापान

द्वितीय विश्व युद्ध में जापान की हार के बाद संयुक्त राज्य की सेना ने उस पर कब्ज़ा कर लिया। जापान की राजनीतिक व्यवस्था, अर्थव्यवस्था तथा समाज में कई सुधार आरंभ किए गए। इन सुधारों ने जापान के युद्धोत्तर विकास की बुनियाद का काम किया। बड़े-बड़े ज़मींदारों की सत्ता को समाप्त कर दिया गया। श्रमिक संघों को काम करने की आज़ादी दी गई। शिक्षा-पद्धति में सुधार किया गया और शिक्षार्थियों में सैन्यवादी तथा उग्र राष्ट्रवादी भावनाओं का संचार करने के लिए शिक्षा-पद्धति के दुरुपयोग को रोका गया। मई 1947 में एक नया संविधान लागू किया गया, जिसे मुख्य रूप से जापान पर काबिज़ अमरीकी सत्ताधारियों ने तैयार किया था। इस संविधान के ज़रिए जापान में लोकतांत्रिक संसदीय शासन-व्यवस्था और सार्वजनीन वयस्क मताधिकार लागू किया गया। राजपद को कायम रखा गया, लेकिन सम्राट को सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया और उसे सिर्फ़ "राज्य के प्रतीक" का दर्जा प्रदान किया गया। नए जापानी संविधान में राष्ट्रीय नीति के उपकरण के रूप में युद्ध का त्याग कर दिया गया। इसमें जापान पर स्थायी सेना या नौसेना रखने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। 1952 में जापान पर संयुक्त राज्य का कब्ज़ा समाप्त कर दिया गया, यद्यपि उसने जापान में अपने सैनिक रखने का अधिकार कायम रखा।

जापान पर लगभग बराबर परंपरावादी लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी का शासन रहा है। उसके कई प्रधानमंत्रियों पर भ्रष्टाचार के गंभीर आरोप लगने के बावजूद आम तौर पर इसी दल को सत्ता प्राप्त होती रही है। दूसरा सर्वाधिक लोकप्रिय दल समाजवादी दल (सोशलिस्ट पार्टी) है, जो उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और जापान को संयुक्त राज्य के साथ जोड़ देने वाली सुरक्षा संधि की समाप्ति की हिमायत



टोकियो में सरकार के विरोध में छात्रों का प्रदर्शन

करता है। जापानी साम्यवादी दल को भी अच्छा जनाधार प्राप्त है। ये दोनों दल कई और दलों के अलावा जापान में किसी भी प्रकार के सैन्यवाद को फिर से पनपने देने के खिलाफ़ हैं। 1960 में जब संयुक्त राज्य के साथ सुरक्षा संधि का पुनर्नवीकरण किया गया तो देश भर में उसका विरोध हुआ।

हाल के वर्षों में जापान में कई छोटी-छोटी दक्षिण पंथी मंडलियाँ उभर आई हैं जो एक सैनिक शक्ति के रूप में जापान की महानता को फिर से कायम करने और लोगों के मानस में पारंपरिक मूल्यों को, जिनमें से कुछ का घनिष्ठ संबंध सैन्यवाद से है, प्रतिष्ठित करने की हिमायत करती हैं।

युद्धोत्तर काल में जापान विश्व की एक महान् आर्थिक शक्ति के रूप में उभरा है। यहाँ तक कि अर्थव्यवस्था के कई क्षेत्रों में वह संयुक्त राज्य की सर्वोच्चता के लिए एक चुनौती बन गया है। उसके आर्थिक विकास को अक्सर "चमत्कार" कहा जाता है। अधिकतर प्राकृतिक संसाधनों से वंचित इस देश ने प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में ज़बरदस्त प्रगति की है और यहीं प्रगति उसकी मुख्य संपदा बन गई है। उच्च प्रौद्योगिकी की अपेक्षा रखने वाले वस्तु-निर्माण के कई क्षेत्रों में वह दुनिया के हर देश से आगे निकल गया है। विश्व की एक आर्थिक "महाशक्ति" के रूप में वह अपने अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों के क्षेत्र में पश्चिम के उन्नत पूँजीवादी देशों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। विदेश नीति के मामले में वह सामान्यत: संयुक्त राज्य का अनुगमन करता रहा है। जब से एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में जापान का उदय हुआ तभी से चीन उसका मुख्य शिकारगाह बना रहा। लेकिन 1970 वाले दशक से उसने चीन के साथ और फिर सोवियत संघ और सोवियत संघ के टूटने के बाद रूस के साथ अपने संबंधों को सुधारना शुरू कर दिया

एशिया के कुछ महत्वपूर्ण घटनाक्रम

शीत युद्ध के संदर्भ में एशियाई देशों के अंदर के और उनके आपस के कुछ घटनाक्रमों का ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं। इस क्षेत्र के इतिहास में कुछ और भी घटनाओं की अपनी अहमियत है और इसलिए उनकी थोड़ी चर्चा कर देना आवश्यक है।

राजनीतिक विकास की मुख्य प्रवृत्तियाँ

स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में उदित होने के बाद से एशियाई देशों के राजनीतिक विकास की अपनी कुछ विशिष्ट और विविध प्रवृत्तियाँ रही हैं। कहा जा सकता है कि राजनीतिक विकास की सामान्य प्रवृत्ति लोकतांत्रिक प्रणालियों की स्थापना की ओर रही है, लेकिन यह प्रवृत्ति न तो सर्वत्र सामान्य रही और न प्रतिकूल शक्तियों के प्रहार से मुक्त। आज़ाद होने के बाद से इस क्षेत्र में ऐसे देशों की संख्या बहुत अधिक नहीं रही है जिनमें स्थित लोकतंत्रिक राजनीतिक व्यवस्था कायम रही हो। जो चंद राजनीतिक व्यवस्थाएँ हमेशा लोकतांत्रिक रही हैं, उनमें से एक भारत की राजनीतिक व्यवस्था है। कुछ देशों में, जैसे पाकिस्तान में, सैनिक शासन के लंबे दौर चले हैं। बर्मा (1989 से म्यांमार) ने 1948 में शुरुआत लोकतंत्र से की, लेकिन 1960 वाले दशक में वह एक-दलीय शासन व्यवस्था के अधीन चला गया, जिसमें सेना का बहुत अधिक बोलबाला था। मई 1990 में म्यांमार में चुनाव हुए और जेल के सींखचों के पीछे बंद दाव औंग सान सू ची के नेतृत्व वाला दल भारी बहुमत से विजयी हुआ। लेकिन चुनावों के बाद भी शासन में कोई परिवर्तन न लाया जा सका। सू की को 1991 के नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। वह छह वर्ष अपने घर में नज़रबंद रहने के बाद हाल ही (जुलाई 1995) में रिहा की गई। उसे 1995 में अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना के लिए जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार प्रदान किया गया।

इस क्षेत्र के कुछ देशों में अक्सर उथल-पुथल मची रही है, जिसमें काफ़ी हिंसा भी हुई है। कुछ देशों में राजतंत्रों की समाप्ति की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। लेकिन इसके फलस्वरूप हमेशा लोकतांत्रिक शासन ही स्थापित हुए हों, ऐसा नहीं है।

समकालीन इतिहास की एक प्रमुख विशेषता के रूप में राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन की धर्म के प्रभाव से अधिकाधिक मुक्ति की चर्चा ऊपर की गई। यह बात कई एशियाई देशों पर लागू होती है और भारत इसका सबसे बड़ा उदाहरण है, लेकिन साथ ही धर्मनिरपेक्षता की विरोधी प्रवृत्तियाँ भी काम करती रही हैं। कुछ देशों में धर्म को राजनीतिक गतिविधियों का, बल्कि वस्तुत: तो राष्ट्रीयता का भी, आधार बनाया गया है। ऐसे देशों का एक आरंभिक उदाहरण पाकिस्तान है जिसकी सृष्टि मुस्लिम लीग के इस

दावे के आधार पर की गई थी कि भारत के मुसलमान एक अलग राष्ट्र है और इसलिए उनका एक अलग राज्य होना चाहिए। इस क्षेत्र के कुछ हिस्सों में धार्मिक नेताओं की सक्रिय सहभागिता में धार्मिक-राजनीतिक आंदोलन खड़े हो गए हैं। ये आंदोलन राज्य को प्रभावित करते हैं या प्रभावित करने की कोशिश करते है। इतना ही नहीं, इससे भी आगे जाकर वे राज्य पर अपना प्रभुत्व कायम करते हैं या इसके लिए कोशिशें करते हैं। वे अपने धार्मिक सिद्धांतों को अनुल्लंघनीय बताते हैं और इस विचार की हिमायत करते हैं कि इन सिद्धांतों को सभी क्षेत्रों में राज्य की नीति का आधार होना चाहिए। उनकी धर्म की कल्पना बहुधा अत्यंत कट्टरतापूर्ण और रुढ़िवादी होती है। इन आंदोलनों को अक्सर धार्मिक कट्टरतावाद के आंदोलन कहा जाता है।

एशिया के कुछ देशों में समाजवादी और साम्यवादी आंदोलन भी प्रबल रहे हैं। चीन, उत्तर कोरिया, वियतनाम और मंगोलिया – इन चार देशों में सत्ता साम्यवादी दलों के हाथों में रही है।

चीन का घटनाक्रम

गृह युद्ध में चीनी साम्यवादी दल की विजय और अक्तूबर 1949 को चीनी जनवादी गणतंत्र (पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ़ चाइना) की स्थापना का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दुनिया की सबसे बड़ी आबादी वाले देश में साम्यवाद की विजय को विश्व को हिला देने वाली घटना समझा जाता था। अपने शासन के कुछ प्रारंभिक वर्षों के दौरान साम्यवादी दल ने आमूल परिवर्तनवादी भूमि-सुधार किए और औद्योगिकीकरण का एक कार्यक्रम आरंभ किया। सोवियत संघ से उसने मित्रता की संधि की और उसे सोवियत संघ से आर्थिक, तकनीकी तथा सैनिक सहायता मिलने लगी। उसने भारत के साथ भी मित्रता के संबंध कायम किए। दोनों देशों ने 1954 में एक समझौता किया जिसके अनुसार भारत ने तिब्बत पर चीन का अधिराजत्व स्वीकार कर लिया और उधर चीन ने एक स्वायत्त क्षेत्र के रूप में तिब्बत की स्थिति को मान्य कर लिया। इस समझौते में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के पाँच सिद्धांत या पंचशील भी शामिल था।

1950 वाले दशक के उत्तरार्ध से चीन की नीतियाँ बदलने लगीं। स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत नेतृत्व द्वारा शांतिपूर्ण सहअस्तित्व पर ज़ोर दिए जाने का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। माओ ज़ेडाँग के नेतृत्व में चीनी साम्यवादी दल ने इसका विरोध किया और अब इन दोनों देशों के संबंध बिगड़ने लगे। 1960 वाले दशक का आरंभ होते-होते दोनों के बीच पूरा विभेद उत्पन्न हो चुका था। चीन-सोवियत विभेद के फलस्वरूप दुनिया के अन्य साम्यवादी दलों के अंदर भी विभेद पैदा हो गया। चीन की तिब्बत संबंधी नीति में भी परिवर्तन आ गया और 1959 में दलाई लामा तथा उसके हज़ारों अनुयाइयों को स्वदेश छोड़ कर भारत भाग आना पड़ा, जहाँ वे तभी से शरणार्थियों के रूप में रह रहे हैं। 1962 में चीन ने पश्चिमोत्तर में लद्दाख पर तथा पूर्वोत्तर में वर्तमान अरुणाचल प्रदेश पर हमला कर दिया और फलत: चीन और भारत के बीच एक सीमायुद्ध छिड़ गया।

जहाँ तक चीन की आंतरिक नीतियों का संबंध है, इस काल की ख्याति "लंबी छलाँग" (ग्रेट लीप फ़ार्वर्ड) नामक कार्यक्रम के लिए है। इसका लक्ष्य आर्थिक विकास को गति प्रदान करना था, लेकिन हुआ उससे उल्टा। इसी काल में माओ ज़ेडाँग की व्यक्ति पूजा आरंभ हुई। उसके चिंतन को अजेय बता-बताकर उसका खूब गुण-गान किया जाने लगा।

1966 से 1969 तक के वहाँ के दौर को "सांस्कृतिक क्रांति" का दौर कहा गया। इन दिनों चीन में ज़बरदस्त राजनीतिक उथल-पुथल मची। छात्रों की भीड़ों और लाल रक्षकों (रेड गार्ड्स) ने क्रांति को जारी रखने के नाम पर हज़ारों-लोगों को अपमानित किया और नौकरियों से निकाल दिया। उच्चतर शिक्षा के केंद्र बंद कर दिए गए और स्वतंत्रता तथा सांस्कृतिक गतिविधियों पर कठोर प्रतिबंध लगा दिए गए। चीन के आर्थिक जीवन को गंभीर आघात पहुँचा। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, 1970 वाले दशक के आरंभ में चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश दिया गया। संयुक्त राज्य के साथ उसके संबंधों में भी सुधर आया। तब तक चीन परमाणु शक्ति से भी लैस हो चुका था।

1976 में माओ ज़ेडाँग की मृत्यु के उपरांत चीन में सत्ता के लिए तीव्र संघर्ष आरंभ हुआ। 1980 तक डेंग ज़ियाओपिंग चीन का सबसे महत्वपूर्ण नेता बन चुका था।

1970 वाले दशक के उत्तरार्ध से चीन के राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। सोवियत संघ के साथ उसके संबंध सुधर गए। भारत के साथ उसके

संबंधों में भी काफ़ी सुधार आया है। उसने आर्थिक विकास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति की है। अपनी अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण के लिए उसने ऐसी नीतियों पर चलना आरंभ कर दिया है जिन्हें पहले समाजवाद के विरुद्ध माना जाता था। आर्थिक नीतियों के बुनियादी स्वरूप में तो परिवर्तन हुए हैं, किंतु उसकी राजनीतिक व्यवस्था पर साम्यवादी दल का एकछत्र नियंत्रण कायम है। राजनीतिक लोकतंत्र की दिशा में तो कोई प्रगति नहीं हुई है, लेकिन माओ ज़ेडाँग की व्यक्तिपूजा के प्रसार के साथ जिस प्रकार का दमघोटू अनुशासन (रेजिमेंटेशन) चीन के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर लागू किया गया था वह समाप्त हो गया है।

द्वन्द्व और युद्ध

एशिया में 1945 के बाद के द्वन्द्वों के कुछ मुख्य स्रोतों तथा कुछ लड़ाइयों का ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है। एशियाई देशों के बीच बहुत-से अन्य ऐसे द्वन्द्व और युद्ध भी हुए हैं जिनसे दोनों शक्ति गुटों का कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था। भारत और पाकिस्तान के बीच तीन लड़ाइयाँ हो चुकी हैं। पहली लड़ाई 1947 में दोनों देशों के आज़ाद होने के शीघ्र बाद हुई। जम्मू और कश्मीर का भारत में विलय हो जाने के बाद भारतीय सेना ने पाकिस्तान की भूमि से और उसके समर्थन से कश्मीर पर किए गए हमले को रोक दिया। 1965 में जब पाकिस्तान ने अपने घुसपैठियों को कश्मीर में भेजा तो दूसरी लड़ाई हुई। तीसरी लड़ाई बांग्लादेश के प्रश्न पर, जिसकी चर्चा हम अलग से करेंगे, 1971 में हुई। 1980 वाले दशक से इन दोनों देशों के संबंध तनावपूर्ण रहे हैं, जिसका कारण यह है कि पाकिस्तान ने पंजाब में आतंकवादियों को सहायता देना आरंभ कर दिया। हाल के वर्षों में दोनों देशों के संबंधों में और भी बिगाड़ आया है, जिसकी वज़ह यह है कि पाकिस्तान कश्मीर मे क्रियाशील आतंकवादी गिरोहों को अपने यहाँ प्रशिक्षण देने के साथ-साथ उन्हें शस्त्रास्त्र भी दे रहा है। पाकिस्तान को आशा है कि आतंकवादी गिरोहों की सहायता से वह कश्मीर को हथियाने का अपना मंसूबा पूरा कर सकेगा।

1980 में ईरान और इराक के बीच लड़ाई भड़क उठी। दोनों देशों के बीच कुछ सीमा-विवाद और कतिपय राजनीतिक मतभेद भी थे। यह लड़ाई आठ वर्षों तक चलती रही जिसमें दोनों देशों के लाखों लोग मारे गए और दोनों की अर्थव्यवस्थाओं को गंभीर क्षति पहुँची।

1991 में इराक से संयुक्त राज्य तथा कई अन्य देशों की एक लड़ाई हुई। अगस्त 1990 में इराक ने कुवैत पर कब्ज़ा कर लिया था। जब वह अपना कब्ज़ा छोड़ने के तैयार नहीं हुआ तो संयुक्त राष्ट्र संघ ने उसके ख़िलाफ़ शक्ति प्रयोग की इजाज़त दे दी। 19 जनवरी 1991 को लड़ाई छिड़ गई जिसमें दोनों पक्षों ने बड़े पैमाने पर प्रक्षेपास्त्रों का इस्तेमाल किया। शीत युद्ध की समाप्ति के बाद यह पहली लड़ाई थी जिसमें संयुक्त राज्य की सेना प्रत्यक्ष रूप से भाग ले रही थी। आख़िर संयुक्त राज्य और उसके मित्र देशों की फ़ौज़ों के इराक और कुवैत में प्रवेश कर जाने पर जब इराक ने अपनी सेना को कुवैत से हट जाने का आदेश दिया, तब 28 फरवरी 1991 को यह लड़ाई ख़त्म हुई। इस लड़ाई में बहुत-से इराकियों को अपनी जानें तो गँवानी ही पड़ीं, साथ ही इराकी अर्थव्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गई।

स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में बांग्लादेश का उदय

1947 में भारत के विभाजन के साथ पाकिस्तान की सृष्टि हुई, जिसके दो हिस्से थे—पूर्व पाकिस्तान और पश्चिम पाकिस्तान। दोनों हिस्सों के बीच में लगभग 1600 किलोमीटर का भारतीय क्षेत्र पड़ता था। दोनों हिस्सों को एक सूत्र में जोड़े रखने वाला एकमात्र बंधन धर्म था। दोनों हिस्सों के अधिसंख्य लोग मुसलमान थे।

लेकिन शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि धर्म राष्ट्रीयता का आधार नहीं हो सकता। पाकिस्तान की सृष्टि के लगभग तुरंत बाद पूर्व पाकिस्तान के लोगों ने स्वायत्तता के लिए आंदोलन छेड़ दिया। मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में अवामी लीग इस आंदोलन की पथप्रदर्शक शक्ति थी। पूर्व पाकिस्तान के लोगों की संख्या पाकिस्तान की कुल आबादी की आधी से ज़्यादा थी, लेकिन सरकार और सशस्त्र सैन्य बल में पश्चिम पाकिस्तान का बोलबाला था। पश्चिम पाकिस्तान पूर्व पाकिस्तान का आर्थिक शोषण भी करता था और पूर्व पाकिस्तान की भाषा बंगला और उसकी संस्कृति को दबाने की कोशिश भी की जाती थी। दिसंबर 1970 के चुनावों में अवामी लीग ने पूर्व पाकिस्तान में भारी विजय प्राप्त की। उसे 169 में से 168 स्थान मिले। आशा की जा रही थी कि

पाकिस्तान अब एक नया संविधान तैयार करेगा, जिससे-पूर्व पाकिस्तान को अधिक स्वायत्तता की गारंटी मिलेगी। यह उम्मीद भी की जा रही थी कि अवामी लीग चूँकि पाकिस्तान का बहुमत दल है, इसलिए मुजीबुर्रहमान केंद्र में सरकार बनाएगा। लेकिन नव निर्वाचित विधानसभा (एसैंबली) की बैठक नहीं होने दी गई, जिस पर पूर्व पाकिस्तान में व्यापक प्रदर्शन हुए। विरोध प्रदर्शनों को दबाने के लिए पश्चिम पाकिस्तान ने पूर्व पाकिस्तान में सेना भेज दी और मुजीबुर्रहमान को पश्चिम पाकिस्तान में गिरफ़्तार कर लिया गया। इसके शीघ्र बाद बांग्लादेश के स्वतंत्र राज्य की घोषणा कर दी गई, जिसने पाकिस्तानी सेना से लड़ने के लिए अपनी छापामार सेना खड़ी कर ली। हज़ारों लोग मारे गए और लाखों लोग शरणार्थियों के रूप में भारत में प्रवेश कर गए। भारत में लाखों शरणार्थियों के आ जाने से उसके लिए कठिन परिस्थिति पैदा हो गई और 3 दिसंबर 1971 को उसने बांग्लादेश की जनता की ओर से हस्तक्षेप किया। 16 दिसंबर को पाकिस्तानी सेना ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। जनवरी 1972 में मुजीबुर्रहमान को रिहा कर दिया गया और बांग्लादेश लौट कर वह इस स्वतंत्र राज्य का प्रथम प्रधानमंत्री बना।

एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में बांग्लादेश का उदय एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक घटना थी, ख़ास तौर से भारतीय उपमहाद्वीप के लिए। यह धर्म पर आधारित राष्ट्रीयता के सिद्धांत को एक गंभीर आघात था।

क्षेत्रीय मंडलियाँ

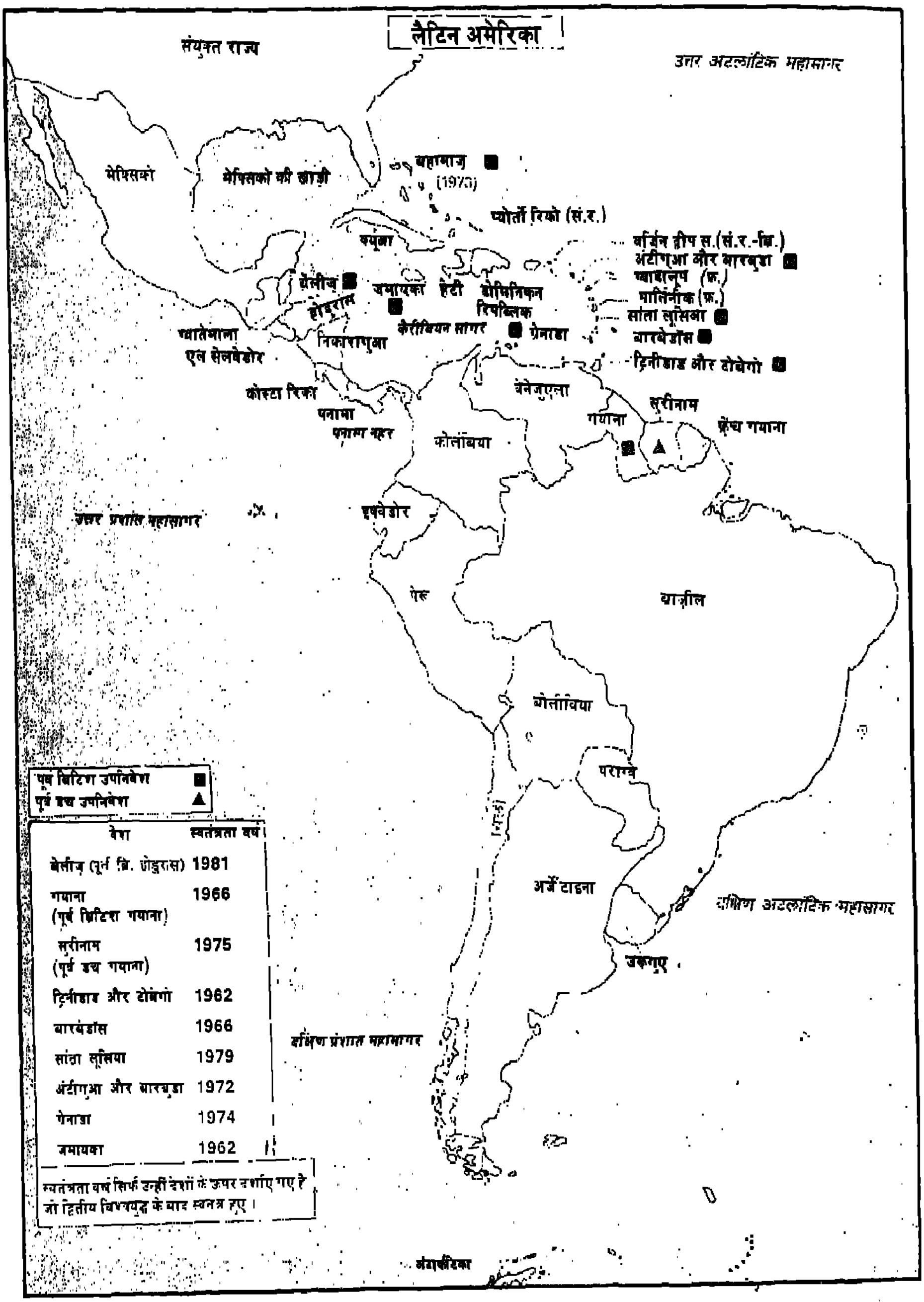
तनावों और झगड़ों के बावजूद एशियाई देशों की कई ऐसी मंडलियाँ उभर आई हैं जिनका उद्देश्य सदस्य देशों के सामान्य राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हितों को बढ़ावा देना और इस प्रयोजन से आपसी सहयोग को बढ़ावा देना है। 1945 में अरब लीग की स्थापना की गई जिसमें फ़िलस्तीन सहित 21 अरब राज्य शामिल हैं। 1967 में "आसियान" यानी एसोशिएशन ऑफ़ साउथ-ईस्ट एशियन नेशंस (दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्रों का संघ) स्थापित किया गया। मलेशिया, थाईलैंड, सिंगापुर, फ़िलिपाइंस, ब्रूनई और इंडोनेशिया ये छह देश इसके सदस्य थे। जुलाई 1995 में वियतनाम इसका सातवां सदस्य बन गया। इनमें से अधिकतर देशों की अर्थव्यवस्थाएँ विश्व की तीव्रतम गति से विकास करनेवाली अर्थव्यवस्थाओं में से हैं और "आसियान" ने इनमें से प्रत्येक के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। एक अन्य बड़ी क्षेत्रीय मंडली, जिसकी स्थापना 1985 में की गई, "सार्क" अर्थात् साउथ एशियन एसोशिएशन ऑफ़ रीजनल कोऑपरेशन (दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ दक्षेस) है। इसमें सात देश भारत, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, बांग्लादेश, श्रीलंका और मालद्वीप शामिल हैं। इनमें से कुछ देशों के आपसी संबंध तनावपूर्ण होने के कारण 'सार्क' को जो सफलता मिली है, वह कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित है।

राष्ट्र-मंडल

इस अध्याय में द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत उदित होनेवाली कई अंतर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय संस्थाओं और संगठनों का ज़िक्र किया जा चुका है। एक दूसरा संगठन, जिसकी स्थापना तो पहले हुई थी लेकिन जिसने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एक नया रूप ग्रहण किया, राष्ट्रमंडल (कॉमनवेल्थ ऑफ़ नेशंस) है। इसकी शुरुआत स्वशासी ब्रिटिश उपनिवेशों के संघ के रूप में हुई थी और तब इसे ब्रिटिश राष्ट्रमंडल और साम्राज्य (ब्रिटिश कॉमनवेल्थ एंड एम्पायर) कहा जाता था। भारत के स्वतंत्र होने के बाद वह न "ब्रिटिश" रह गया और न "साम्राज्य", बल्कि उन स्वतंत्र राष्ट्रों का एक संघ बन गया जो पहले ब्रिटिश उपनिवेश थे। आज इसके सदस्यों की संख्या पचास है। इनमें से सब-के-सब घरेलू और विदेशी–दोनों मामलों में अपनी-अपनी स्वतंत्र नीतियों पर चलते हैं। इसका रूप बहु-नस्ली और इसके सदस्य देशों की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रणालियाँ अलग-अलग हैं, इसलिए राष्ट्रमंडल महत्वपूर्ण मसलों पर विचार करने वाला और विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ावा देने वाला एक बहुत ही उपयोगी संगठन साबित हुआ है।

लैटिन अमरीकी परिदृश्य

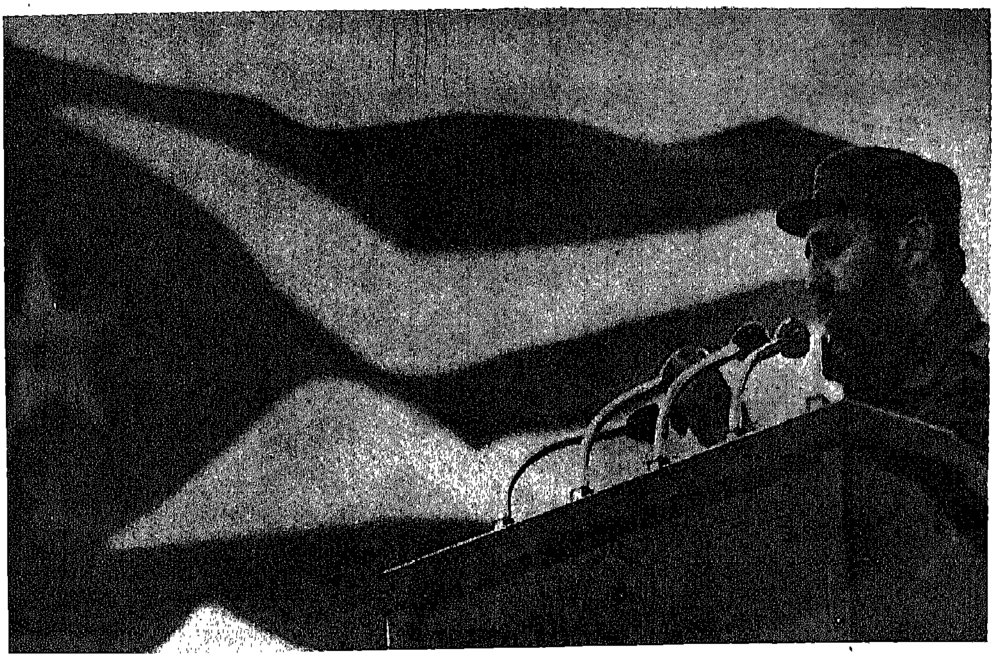
ज़्यादातर लैटिन अमरीकी देश उन्हीं समस्याओं के जाल में फंसे रहे जिनसे वे द्वितीय विश्व युद्ध के पहले ग्रस्त थे। आमूल परिवर्तनवादी आर्थिक तथा सामाजिक बदलाव लाने की संभावना से युक्त शासन-व्यवस्थाओं को हमेशा संयुक्त राज्य के लिए ख़तरा माना जाता रहा और इसलिए वह इन


लैटिन अमेरिका
संयुक्त राज्य
उत्तर अटलांटिक महासागर
मेक्सिको
मेक्सिको की खाड़ी
बहामाज़
(1973)
प्योर्तो रिको (सं.र.)
क्यूबा
वर्जिन द्वीप स.(सं.र.-ब्रि.)
अंटीगुआ और बारबुडा
ग्वाडलूप (फ्र.)
मार्तिनीक (फ्र.)
सांता लूसिया
बारबेडोस
ट्रिनीडाड और टोबेगो
बेलीज़
होंडुरास
जमायका
हैटी
डोमिनिकन रिपब्लिक
कैरीबियन सागर
ग्रेनाडा
ग्वातेमाला
एल सेलवेडोर
निकारागुआ
कोस्टा रिका
पनामा
पनामा नहर
कोलंबिया
वेनेजुएला
गयाना
सूरीनाम
फ्रेंच गयाना
उत्तर प्रशांत महासागर
इक्वेडोर
पेरू
ब्राज़ील
बोलीविया
पराग्वे
चिली
अर्जेंटाइना
उरुग्वे
दक्षिण अटलांटिक महासागर
दक्षिण प्रशांत महासागर
अंटार्कटिका
पूर्व ब्रिटिश उपनिवेश ■
पूर्व डच उपनिवेश ▲
देश स्वतंत्रता वर्ष
बेलीज़ (पूर्व ब्रि. होंडुरास) 1981
गयाना (पूर्व ब्रिटिश गयाना) 1966
सूरीनाम (पूर्व डच गयाना) 1975
ट्रिनीडाड और टोबेगो 1962
बारबेडोस 1966
सांता लूसिया 1979
अंटीगुआ और बारबुडा 1972
ग्रेनाडा 1974
जमायका 1962
स्वतंत्रता वर्ष सिर्फ उन्हीं देशों के ऊपर दर्शाए गए हैं जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वतन्त्र हुए।

देशों के राजनीतिक मामलों में दख़लंदाज़ी करता रहा है। इन देशों के सामने भी बहुत-कुछ वैसी ही समस्याएँ थीं जैसी कि एशिया और अफ्रीका के विकासशील देशों के सामने थीं। ये भी अक्सर राजनीतिक अस्थिरता के शिकार होते रहते थे, जो बहुत-से विकासशील देशों की सामान्य नियति बन गई थी। लैटिन अमरीका के लगभग प्रत्येक देश में संयुक्त राज्य के व्यापक आर्थिक हित कायम हो गए थे। कुछ देश तो ऐसे थे जिन की अर्थव्यवस्था पर अमरीकी कंपनियाँ छाई हुई थीं। अपने प्रभुत्व को कायम रखने के लिए ये कंपनियाँ संयुक्त राज्य सरकार की सहायता से ऐसे अलोकतांत्रिक शासनों को बढ़ावा देती थीं जिन पर सेना का बहुत अधिक प्रभाव होता था। लैटिन अमरीकी देशों के आमूल परिवर्तनवादी शासनों से ख़तरे की संभावना का तो संयुक्त राज्य की नीति पर असर पड़ता ही था, साथ ही अब वह ऐसे शासनों को साम्यवाद से प्रेरित या साम्यवाद द्वारा नियंत्रित मानकर उनमें अपनी सुरक्षा के लिए और अधिक ख़तरा देखने लगा। बहुत-से देशों में संयुक्त राज्य ने प्रत्यक्ष तौर पर या सी.आई.ए. के ज़रिए अप्रत्यक्ष रूप से कथित साम्यवादी ख़तरे के नाम पर हस्तक्षेप किया। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद से इस क्षेत्र में ऐसे कम देश ही हैं जिनमें लगातार निर्वाचित सरकारें बनती रही हों।

आमूल परिवर्तनवादी शासनों के ख़िलाफ़ हस्तक्षेप

1940 वाले दशक के उत्तरार्ध से अधिकांश लैटिन अमरीकी देशों के राजनीतिक जीवन में आमूल परिवर्तनवादी या वामपंथी शक्तियाँ काफ़ी प्रबल हो गई हैं। उन्होंने इन देशों में सरकारें बनाई हैं, सुधार लागू किए हैं और वे थोड़े-बहुत समय तक सत्तारूढ़ भी रही हैं, लेकिन अंत में अधिकतर को आम तौर से तख़्ता-पलटों का शिकार होना पड़ा है, जिनमें से लगभग हर मामले में संयुक्त राज्य का हाथ रहा है। इसके



एक सभा को संबोधित करते हुए फीदेल कास्त्रो

प्रमुख अपवादों में एक क्यूबा रही है जिस की चर्चा इस शीत युद्ध के संदर्भ में हम ऊपर कर चुके हैं।

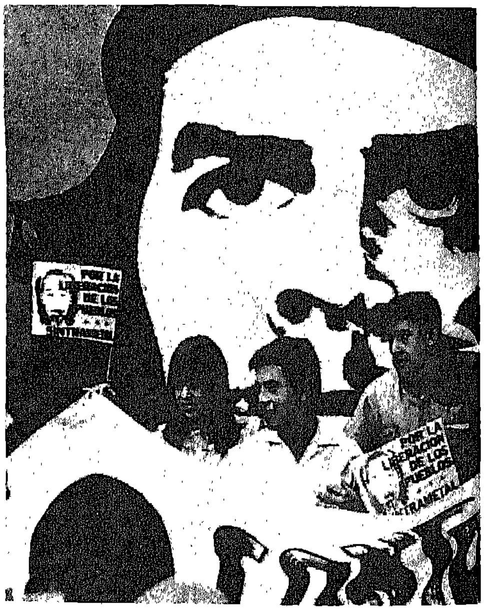
ग्वातेमाला

सौ साल से अधिक काल तक ग्वातेमाला पर सैनिक तानाशाही का शासन रहा। प्रथम स्वतंत्र चुनाव 1944 में हुए और एक सुधारवादी सरकार सत्तारूढ़ हुई। 1950 ई. से इस सरकार का नेतृत्व जैकोबो आर्बेंज़ गुज़मान के हाथों में रहा। इस सरकार ने देश में कई सामाजिक और आर्थिक सुधार लागू किए और संयुक्त राज्य की यूनाइटिड फ्रूट कंपनी को, जिसने ग्वातेमाला की अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा था, अपने अधिकार में ले लिया। इससे संयुक्त राज्य की सरकार चिंतित हो उठी। डल्लेस का विश्वास था कि आर्बेंज़ की सरकार साम्यवादी रास्ते पर जा रही है। सो 1954 में संयुक्त राज्य-समर्थित एक सैनिक तख़्ता-पलट में यह सरकार जाती रही। इस बात को लेकर इतना जनाक्रोश फैला कि जब तत्कालीन अमरीकी उपराष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने लैटिन अमरीका का दौरा किया तो "एक के बाद एक नगर में उसका स्वागत क्रोध से भरी विरोधी और कभी-कभी तो ख़तरनाक भीड़ों ने किया।"

क्यूबा

1950 वाले दशक में लैटिन अमरीका की सबसे महत्वपूर्ण घटना क्यूबा की क्रांति थी जिसके फलस्वरूप इस पूरे क्षेत्र में आमूल परिवर्तनवादी और वामपंथी आंदोलन भड़क उठे। जनवरी 1959 को सैनिक तानाशाह और संयुक्त राज्य के घनिष्ठ मित्र बतिस्ता के देश छोड़कर भाग खड़े होने पर फ़िदेल कास्त्रो ने, जिसने क्रांतिकारी आंदोलन का नेतृत्व किया था, क्यूबा में क्रांतिकारी सरकार बनाई। क्यूबा की क्रांति का नेतृत्व साम्यवादियों ने नहीं किया था और कास्त्रो स्वयं भी साम्यवादी नहीं था। लेकिन जब उसकी सरकार ने आमूल परिवर्तनवादी भूमि-सुधार लागू करना और विदेशी कंपनियों पर अधिकार करना शुरू किया तो संयुक्त राज्य की सरकार उसके ख़िलाफ़ हो गई। बाद में 1965 में वे संगठन जिनसे कास्त्रो और दूसरे क्रांतिकारी संबंधित थे और क्यूबा के साम्यवादियों ने मिलकर क्यूबा के साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ क्यूबा) का गठन किया। संयुक्त राज्य क्यूबा के मुख्य उत्पादन चीनी का प्रमुख आयातक था। उसने चीनी का आयात बंद कर दिया। धीरे-धीरे क्यूबा की सरकार ने सोवियत सरकार से नज़दीकी संबंध स्थापित कर लिए। सी. आई.ए. ने कास्त्रो की हत्या के कई प्रयत्न किए। संयुक्त राज्य की कांग्रेस के एक सदस्य ने कुछ साल पहले ऐसे 15 प्रयत्नों की सूची बनाई थी। पिग्स की खाड़ी की विफलता और केनेडी के राष्ट्रपतित्व काल में प्रक्षेपास्त्र संकट की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। तमाम विरोधों और मुसीबतों को झेलती हुई क्यूबा की क्रांति पिछले छत्तीस वर्षों से अपनी जगह कायम है।

क्यूबा की क्रांति ने जो एक परम प्रेरणास्पद नेता उत्पन्न किया वह था चे गुएवारा। चे गुएवारा का जन्म अर्जेंटाइना में हुआ था और वह 1956 में कास्त्रों के साथ हो गया था। जिस क्रांतिकारी आंदोलन के फलस्वरूप बतिस्ता का पतन हुआ था उसमें उसने प्रमुख भूमिका निभाई थी। क्यूबा सरकार में उसे मंत्री बनाया गया, लेकिन बोलिविया



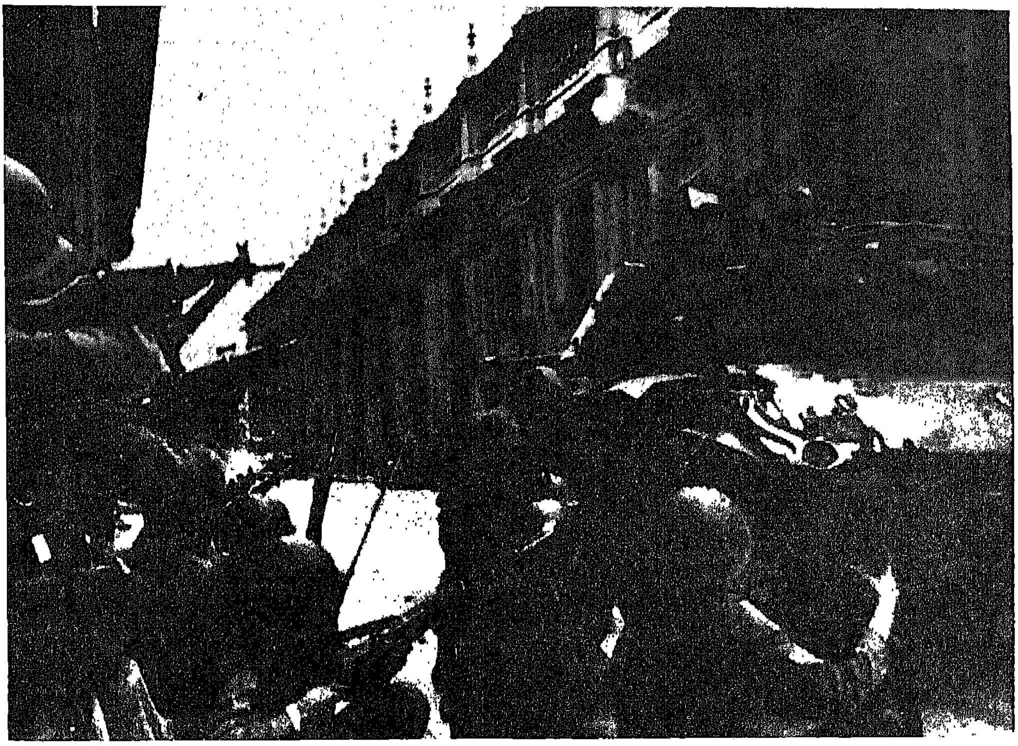
लैटिन अमरीका के छात्र प्रदर्शनकारी हो ची मिन्ह के पोस्टरों के साथ; पीछे चे गुएवारा का एक पोस्टर दिखाया गया है।

में क्रांति का संगठन करने में सहायता देने के लिए 1965 में उसने क्यूबा छोड़ दिया। 1967 में बोलिविया के सैनिकों ने उसे बंदी बना कर मार डाला। वह लैटिन अमरीका और दुनिया के दूसरे हिस्सों के भी आमूल परिवर्तनवादी जवानों के लिए प्रेरणा का एक बहुत बड़ा स्रोत बन गया।

चिली

1970 वाले दशक की जिस एक घटना से पूरी दुनिया स्तंभित रह गई थी वह थी चिली में सैलवाडोर एआंदे की सरकार का तख़्ता-पलट। एआंदे चिली के समाजवादी दल (चिलियन सोशलिस्ट पार्टी) के संस्थापकों में था। 1970 में वह चिली का राष्ट्रपति चुना गया। लैटिन अमरीका के अन्य आमूल परिवर्तनवादी शासनों की तरह एआंदे की सरकार ने भी मूलभूत भूमि सुधार लागू करना और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण आरंभ कर दिया। 11 सितंबर 1973 को जनरल पिनोचे के नेतृत्व में एक सैनिक मंडली ने, सी.आई.ए. के समर्थन से एआंदे सरकार का तख़्ता पलट दिया। स्वयं एआंदे लड़ता हुआ राष्ट्रपति के आवास में मारा गया। चिली में एक नृशंस सैनिक शासन स्थापित कर दिया गया जो हाल तक सत्तारूढ़ रहा। 1990 में वहां चुनावों के बाद जनवादी ग़ैर-सैनिक सरकार बनी।

ऊपर जिन घटनाओं का ज़िक्र किया गया है उनसे लैटिन अमरीकी परिदृश्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति का संकेत मिलता है। यहाँ जिनका ज़िक्र किया गया है उनके अलावा भी बहुत-से देशों में होंडुरास, पनामा, निकारागुआ, एल सल्वाडोर, ग्रेनाडा आदि में अमरीका ने हस्तक्षेप किया। ख़ास तौर से ऐसी निर्वाचित सरकारों के ख़िलाफ़, जिन्होंने सामाजिक और आर्थिक सुधार लागू करने के प्रयत्न किए,



राष्ट्रपति आलेंदे के विरुद्ध तख़्ता पलट अभियान के समय सैंतियागो, चिली के राष्ट्रपति भवन को चारों ओर से घेरे हुए पिनोचे के सैनिक

सैनिक तख़्ता पलट की इतनी घटनाएँ हुई हैं कि उनकी गिनती करना मुश्किल है। हाल में हेटी में संयुक्त राज्य ने वहां मदाख़लत करके जिस निर्वाचित लोकतांत्रिक सरकार को सैनिक तख़्ता पलट द्वारा हटा दिया गया था पुनः स्थापित करने में भूमिका निभाई।

इस क्षेत्र में आमूल परिवर्तनवादी राजनीतिक आंदोलनों का ज़ोर बढ़ता गया है। एक महत्वपूर्ण बात यह हुई है कि लैटिन अमरीका में कैथोलिक पादरियों के रुख़ में परिवर्तन आया है। कैथोलिक चर्च और पादरी लोग परंपरा से सभी आमूल परिवर्तनवादी विचारधाराओं और आंदोलनों के ख़िलाफ़ रहे हैं, लेकिन अब वे सामाजिक तथा आर्थिक सुधारों की आवश्यकता के प्रति अधिक संवेदनशील हो गए हैं। बहुत से पादरी आमूल परिवर्तनवादी सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलनों में सक्रिय रूप से उतर आए हैं।

गुट निरपेक्ष आंदोलन

गुटनिरपेक्ष आंदोलन के उदय और प्रगति तथा अंतर्राष्ट्रीय मामलों में उसके द्वारा निभाई गई भूमिका के संबंध में ऊपर काफ़ी कुछ कहा जा चुका है। इसका उदय उस समय हुआ जब ख़ास तौर से एशिया और अफ़्रीका के बहुत-से देश आज़ाद राज्यों के रूप में सामने आए। अपनी स्वतंत्रता को कायम रखने और दुनिया को इच्छित रंग-रूप देने में स्वतंत्र भूमिका निभाने तथा साम्राज्यवाद की समाप्ति की प्रक्रिया को तेज़ करने में स्वभावतः उनकी गहरी रुचि थी। दुनिया शीत युद्ध से ग्रस्त हो चुकी थी। सैनिक गठजोड़ों का सिलसिला और विनाशकारी शस्त्रों की होड़ ज़ोरों पर थी। इससे उनकी स्वतंत्रता पर ही नहीं, मानवता के अस्तित्व पर भी संकट आ गया था। इन देशों ने स्वयं को जिस विश्व आर्थिक व्यवस्था के बीच पाया, वह घोर असमानता से ग्रस्त और शोषण की बुनियाद पर खड़ी थी। उनकी विकास संबंधी आवश्यकताओं को देखते हुए यह ज़रूरी था कि विश्व की आर्थिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हों। इन्हीं परिस्थितियों में गुटनिरपेक्ष आंदोलन का जन्म हुआ और उसने अपना रूप ग्रहण किया।

एशियाई संबंध सम्मेलन

गुट निरपेक्ष आंदोलन की विधिवत स्थापना तो 1961 में बेलग्रेड में आयोजित गुटनिरपेक्ष देशों के प्रथम सम्मेलन के साथ हुई, किंतु उसका मूल द्वितीय विश्व युद्ध के शीघ्र बाद के वर्षों में देखा जा सकता है। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं ने मार्च 1947 में दिल्ली में एशियाई संबंध सम्मेलन (एशियन रिलेशंस कांफ़रेंस) का आयोजन किया। इस सम्मेलन में चंद महीने बाद स्वतंत्र भारत का प्रथम प्रधान मंत्री बनने वाले जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा की–"हम एशिया के लोग बहुत दिनों से पश्चिम की अदालतों और चांसलरियों में अर्ज़ी देने वालों की हैसियत से रहते आए हैं। अब यह सिलसिला ख़त्म होना चाहिए। हमारा इरादा अपने पैरों पर खड़े होने और उन सबके साथ सहयोग करने का है जो हमारे साथ सहयोग करने को तैयार हैं। हम दूसरों के हाथों की कठपुतली नहीं हैं। अब एशिया के देशों का इस्तेमाल दूसरे देश शतरंज के मोहरों की तरह नहीं कर सकते। दुनिया के मामलों में अब उनकी अपनी नीतियाँ होंगी"। दुनिया पर जिस नए ख़तरे के बादल मंडरा रहे थे उसके प्रति आगाह करते हुए उन्होंने कहा–"जाने कितनी बार पश्चिमी दुनिया ने हमें लड़ाइयों और तकरारों की आग में झोंका है, और आज भी, जबकि एक भयावह युद्ध अभी-अभी ख़त्म हुआ है, इस परमाणु युग में और लड़ाइयों की बात की जा रही है। इस परमाणु युग में शांति को कायम रखने के लिए एशिया को असरदार तरीके से काम करना पड़ेगा।"

बांडुंग सम्मेलन

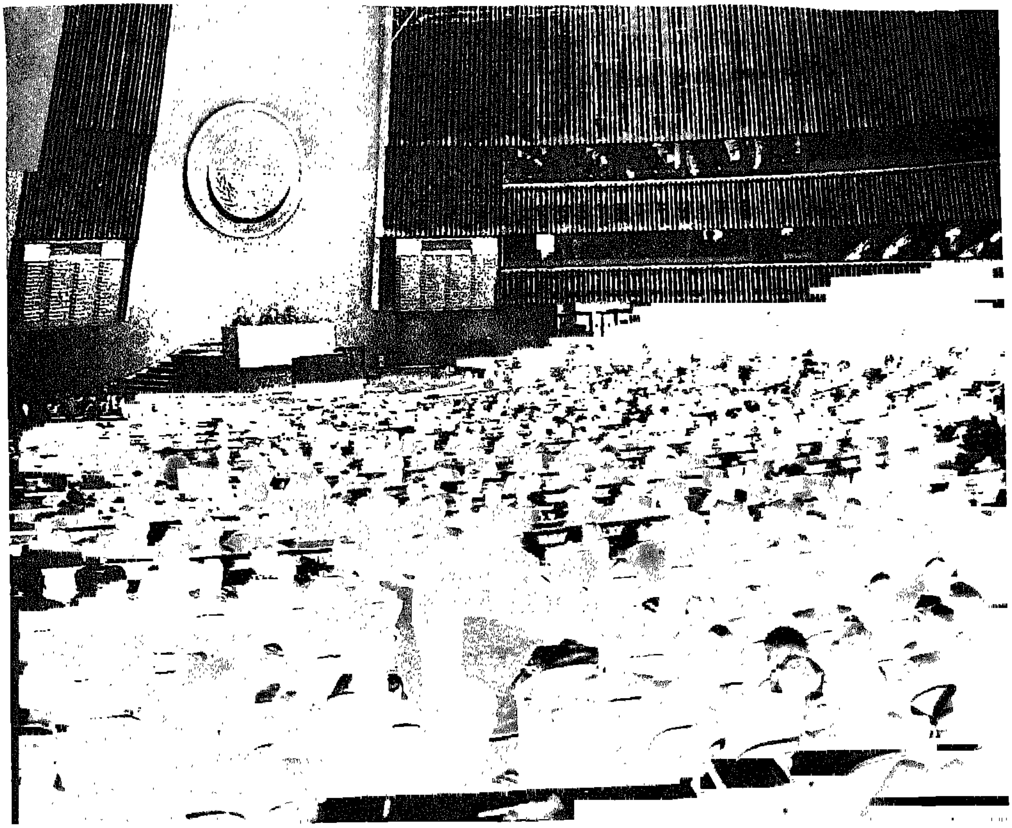
1940 वाले दशक का अंत होते-होते पश्चिमी देशों का सैनिक संधि संगठन "नाटो" कायम हो चुका था। 1950 वाले दशक के आरंभ में सैनिक गठबंधनों के सिलसिले का फैलाव एशिया तक पहुँच चुका था। शीत युद्ध को पूरी दुनिया में फैलाया जा रहा था, जिससे तनाव और तकरारें बढ़ रही थीं। इन्हीं संयोगों के बीच भारत और चीन ने पंचशील अर्थात् शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के पाँच सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। 1954 में भारत और चीन ने जिस समझौते पर हस्ताक्षर किए उसकी प्रस्तावना में इन पाँच सिद्धांतों को शामिल किया गया। ये सिद्धांत गुटनिरपेक्ष आंदोलन का अभिन्न अंग बन गए।

1950 वाले दशक के आरंभ में एशिया में ऐसे कई विशिष्ट नेताओं का उदय हुआ जो एशियाई और अफ़्रीकी देशों के बीच एकता स्थापित करना चाहते थे ताकि उपनिवेशवाद

और साम्राज्यवाद को मिटाया जा सके और ये देश स्वयं को शीत युद्ध से अलग रख सकें। 1955 में इंडोनेशिया के राष्ट्रपति अहमद सुकार्णो ने 17 से 24 अप्रैल तक बांदुंग में एशियाई और अफ्रीकी देशों का एक सम्मेलन आयोजित किया। सम्मेलन में 29 देशों ने भाग लिया। इसमें शामिल विशिष्ट नेताओं में जवाहर लाल नेहरू, चीनी प्रधान मंत्री चाऊ एन लाई और मिस्र प्रधान मंत्री (बाद में राष्ट्रपति) गमाल अब्दुल नासिर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस सम्मेलन में बहुत-से ऐसे देश भी जैसे कि पाकिस्तान, ईरान, इराक, फ़िलिपाइंस, तुर्की और थाईलैंड–शामिल हुए थे जो संयुक्त राज्य के तत्वावधान में बनाए सैनिक गठबंधनों के सदस्य थे, तथापि इसमें सर्वानुमति से स्वीकृत विज्ञप्ति में उन विचारों का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया था जिनमें गुटनिरपेक्षता के कतिपय मूलभूत सिद्धांत समाहित थे। बांदुंग सम्मेलन गुटनिरपेक्ष आंदोलन के इतिहास का एक महत्वपूर्ण पड़ाव था। साथ ही यह एशिया और अफ़्रीका के देशों का, जिनमें दुनिया की आधी आबादी बसती थी, सबसे बड़ा सम्मेलन था।

बेलग्रेड सम्मेलन

1950 वाले दशक के मध्य से कुछ गुटनिरपेक्ष देशों के नेता बैठकें करने लगे थे। धीरे-धीरे इस विचार का जन्म हुआ कि सभी गुटनिरपेक्ष देशों का एक सम्मेलन बुलाया जाए।



संयुक्त राष्ट्र संघ महा सभा का अधिवेशन

नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के संबंध में घोषणा

नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना निम्नलिखित सिद्धांतों के आधार पर की जानी चाहिए :

(क) सभी राज्यों की संप्रभुतायुक्त समानता, सभी जन-समाजों का आत्म-निर्णय, शक्ति-प्रयोग द्वारा प्रदेश हासिल करने की मनाही, राज्यों की क्षेत्रीय अखंडता तथा अन्य राज्यों के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप।

(ख) अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के सभी सदस्य राज्यों के बीच समानता के आधार पर व्यापकतम सहयोग, ताकि विश्व की वर्तमान असमानताओं को दूर करके सबकी खुशहाली सुनिश्चित की जा सके।

(ग) सभी देशों के हित में विश्व की आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में समानता के आधार पर सभी देशों की पूर्ण तथा सक्रिय भागीदारी। ऐसा करते हुए इस बात को ध्यान में रखना कि सभी विकासशील देशों का विकास अधिक तेज़ गति से होना है। साथ ही कम से कम विकसित देशों, ज़मीन से घिरे देशों और उन विकासशील द्वीप देशों के बारे में विशेष उपाय अपनाने की ओर ध्यान देना जिन पर आर्थिक संकटों तथा प्राकृतिक विपत्तियों का सबसे ख़राब प्रभाव पड़ता है। मगर ऐसा करते हुए अन्य विकासशील देशों के हितों की उपेक्षा न करना।

(घ) प्रत्येक देश का, वह अपने विकास के लिए जिसे सबसे उपयुक्त समझे, ऐसी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था अपनाने का अधिकार, और उसके द्वारा अपनाई गई किसी भी व्यवस्था के कारण उसके खिलाफ़ भेद-भाव नहीं करना।

(ङ) प्रत्येक राज्य की अपने प्राकृतिक संसाधनों पर और सभी आर्थिक क्रियाकलापों पर पूर्ण और स्थायी संप्रभुता। इन संसाधनों के संरक्षण के लिए हर देश को यह अधिकार है कि वह उन पर और उनके उपयोग पर पूरा नियंत्रण रखे और उनके उपयोग के लिए अपनी परिस्थिति के अनुसार चाहे जो उपाय करे। ऐसे उपायों में उन साधनों का राष्ट्रीयकरण तथा अपने राष्ट्रिकों के हक में उनका हस्तांतरण भी शामिल है। यह अधिकार राज्य की पूर्ण और स्थायी संप्रभुता की अभिव्यक्ति है। इस अविच्छेद्य अधिकार के मुक्त और पूर्ण उपयोग से किसी राज्य को रोकने के लिए उस पर आर्थिक, राजनीतिक या किसी अन्य प्रकार का दबाव नहीं डाला जाना चाहिए।

(च) विदेशी कब्ज़े, विदेशी और औपनिवेशिक प्रभुत्व या पृथकवास (अपरथाइड) के शिकार सभी राज्यों, क्षेत्रों और जन-समाजों को अपने शोषण और अपने प्राकृतिक संसाधनों के क्षय और क्षति का पूरा हर्जाना पाने का अधिकार है।

(संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा द्वारा 1 मई 1974 ई. को स्वीकृत)

संयुक्त राष्ट्र महासभा का 1960 का अधिवेशन ऐतिहासिक महत्व का था। उस साल अफ़्रीका के सत्रह नवस्वतंत्र देशों को संघ में प्रवेश दिया गया। नए सदस्य देशों की बढ़ती संख्या से संयुक्त राष्ट्रसंघ का रूप बिल्कुल बदल गया। अब वह वस्तुत: एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन बन गया। कालांतर से इसमें लगभग हर देश को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। इन दिनों उपनिवेशवाद की समाप्ति की प्रक्रिया में तेज़ी आ गई और संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इस प्रक्रिया को और भी तेज़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 14 दिसंबर 1960 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने औपनिवेशिक देशों और जातियों को स्वतंत्रता प्रदान करने की ऐतिहासिक घोषणा पर स्वीकृति की मुहर लगा दी। संयुक्त राष्ट्र के इस ऐतिहासिक अधिवेशन में पाँच गुटनिरपेक्ष देशों के नेता शामिल हुए। ये थे–भारत के जवाहरलाल नेहरू, इंडोनेशिया के सुकार्णो, मिस्र के नासिर, यूगोस्लाविया के टीटो और घाना के एनक्रूमा। उन्होंने अगले सभी गुटनिरपेक्ष देशों का एक सम्मेलन बुलाने का ऐतिहासिक निर्णय लिया।

गुटनिरपेक्ष राज्यों या सरकारों के प्रधानों का पहला सम्मेलन 1 से 6 सितंबर 1961 तक बेलग्रेड (यूगोस्लाविया) में हुआ। इसमें 25 देशों ने पूर्ण सदस्यों के रूप में भाग लिया। ये सदस्य देश थे–अफ़ग़ानिस्तान, अल्जीरिया, बर्मा, कंबोडिया, श्रीलंका, कांगो (ज़ायर), क्यूबा, साइप्रेस, इथियोपिया, घाना, गिनी, भारत, इंडोनेशिया, इराक, लेबनान, माली, मोरक्को, नेपाल, सऊदी अरब, सोमालिया, सूडान, ट्यूनीशिया, संयुक्त अरब गणराज्य (यूनाइटेड अरब रिपब्लिक, जिसमें तब सीरिया और मिस्र शामिल थे), यमन और यूगोस्लाविया। (अल्जीरिया अब तक स्वतंत्र नहीं हुआ था, लेकिन अल्जीरिया के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के द्वारा स्थापित काम चलाऊ सरकार

को सम्मेलन में पूर्ण सदस्य के रूप में स्थान दिया गया था। इसी तरह बाद में 'स्वापो' और फिलस्तीनी मुक्ति संगठनों को भी पूर्ण सदस्यों के रूप में दाखिल किया गया।) सम्मेलन ने एक घोषणा पर अपनी स्वीकृति दी, जिसमें कहा गया था कि "शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धांत शीत युद्ध तथा संभावित सर्वनाश का एक मात्र विकल्प है।" आगे यह भी कहा गया था कि स्थायी शांति सिर्फ ऐसी ही दुनिया में प्राप्त होगी जिसमें "उपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी तथा नव-उपनिवेशवादी प्रभुत्व का उनके समस्त रूपों सहित मूलोच्छेद कर दिया जाएगा।" सम्मेलन ने सोवियत प्रधान मंत्री निकिता ख्रुश्चेव और अमरीकी राष्ट्रपति जॉन एफ. केनेडी को पत्र लिखकर उनसे अनुरोध किया कि वे युद्ध के ख़तरे को कम करने और शांति को सुनिश्चित करने के लिए पुन: वार्ता आरंभ करें।

बुनियादी लक्ष्य

गुटनिरपेक्ष आंदोलन के बुनियादी लक्ष्य प्रथम सम्मेलन में ही निर्धारित कर दिए गए। इनमें से कुछ लक्ष्यों का बाद में पल्लवन करके उन्हें अधिक स्पष्ट बना दिया गया। [illegible]ज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की समाप्ति, अंतर्राष्ट्रीय शांति [illegible]क्षा को बढ़ावा देना, निरस्त्रीकरण, नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की सृष्टि, नस्लवाद और नस्ली भेदभाव का उन्मूलन तथा सूचना साम्राज्यवाद का उच्छेद ये इस आंदोलन के अति महत्वपूर्ण लक्ष्यों में से थे।

गत चौंतीस वर्षों में गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सदस्य देशों की संख्या 109 पर पहुँच गई है। 1994 में दक्षिण अफ़्रीका उसका 109वाँ सदस्य बना। इनमें से लगभग सब-के-सब संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ में गुटनिरपेक्ष सदस्यों की संख्या उसकी लगभग दो-तिहाई है। अफ़्रीका के सभी देश गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सदस्य हैं। अफ़्रीकी एकता संगठन (ऑर्गेनाइज़ेशन ऑफ़ अफ़्रीकन युनिटी) के घोषणापत्र के सिद्धांतों में से एक है-"सभी गुटों के संदर्भ में निरपेक्षता की नीति की स्वीकृति"। गुटनिरपेक्ष आंदोलन के दस शिखर सम्मेलन हो चुके हैं। उनका ब्यौरा इस प्रकार है-बेलग्रेड (19961), कैरो (1964), लुसाका (1970), अल्जीयर्स (1973), कोलंबो (1976), हवाना (1979), दिल्ली (1983), हरारे (1986), बेलग्रेड (1989) और जकार्ता (1992)। अल्जीयर्स में आयोजित चौथे शिखर सम्मेलन में एक समन्वय ब्यूरो स्थापित करने का फ़ैसला किया गया, जिसे बाद में शिखर सम्मेलनों, मंत्रियों के सम्मेलनों, संयुक्त राष्ट्र संघ में गुटनिरपेक्ष देशों के समूहों की बैठकों तथा इन देशों की अन्य बैठकों में अपनाए गए कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के संयुक्त प्रयत्नों में समन्वय स्थापित करने का दायित्व सौंपा गया।

शीत युद्ध समाप्त होने के बाद गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता पर शंकाएँ उठाई गईं। 1992 में आयोजित जकार्ता शिखर सम्मेलन में इन आशंकाओं का सामाधान कर दिया गया। नई विश्व परिस्थिति में आयोजित यह पहला सम्मेलन था। गुटनिरपेक्ष राज्यों या सरकारों के प्रधानों द्वारा स्वीकृत जकार्ता संदेश में वास्तविकता को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि दसवाँ शिखर सम्मेलन "गंभीर परिवर्तन और द्रुत संक्रमण के काल में, महान आशा और साथ ही गंभीर चुनौती के काल में व्यापक अनिश्चितता के साथ-साथ सुअवसरों के काल में" आयोजित किया गया है। संदेश में ज़ोर देकर कहा गया कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण में जो सुधार हुए हैं उनसे गुटनिरपेक्ष आंदोलन का औचित्य और प्रासंगिकता सिद्ध हो गई है और दुनिया "आज भी शांतिमय, न्यायपूर्ण और सुरक्षित स्थान नहीं बन पाई"। इस बात की ओर ध्यान दिलाते हुए स्पष्ट किया गया कि "अंदर ही अंदर उबल रहे विवाद, हिंसक तकरार, अतिक्रमण और विदेशी कब्ज़ा, दूसरे राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप, प्रधानता और प्रभुत्व स्थापित करने की नीतियाँ, नस्ली मारकाट, धार्मिक असहिष्णुता, नए प्रकार का नस्लवाद और संकीर्ण राष्ट्रवाद"—ये तमाम बातें राज्यों तथा जनसमाजों के सद्भावनापूर्ण सहअस्तित्व के मार्ग में ख़तरनाक बाधाएँ हैं और यहाँ तक कि इनके कारण कई राज्य और समाज टूट गए हैं। "इस संदेश में" युद्ध, दरिद्रता, असहिष्णुता और अन्याय से रहित एक नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धांतों और सच्ची अंतर्निर्भरता पर आधारित दुनिया की सामाजिक व्यवस्थाओं और संस्कृतियों की विविधता को मान कर चलने वाले संसार की रचना के प्रति" गुटनिपेक्ष आंदोलन की प्रतिबद्धता को दुहराया गया।

अभ्यास

1. 1945 से बाद की दुनिया की उन मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए जिनके कारण वह द्वितीय विश्व युद्ध के पहले की दुनिया से भिन्न दिखती है।
2. "शीत युद्ध" से क्या तात्पर्य है ? 1945 और 1950 के बीच की उन घटनाओं का वर्णन कीजिए जिनके कारण शीत युद्ध आरंभ हुआ।
3. ट्रूमेन सिद्धांत और "कगारवाद" की नीति से क्या तात्पर्य है ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
4. 1945 से लेकर 1949 तक जर्मनी की स्थिति में आए परिवर्तनों का वर्णन कीजिए। 1990 में उसके संबंध में कौन-सी महत्वपूर्ण घटना हुई है ?
5. जापान के आत्म-समर्पण के समय कोरिया की स्थिति क्या थी ? कोरिया की 1948 से 1954 तक की घटनाओं का वर्णन कीजिए।
6. 1945 से 1975 तक वियतनाम के इतिहास की मुख्य घटनाओं का वर्णन कीजिए।
7. इज़राइल राज्य कब कायम हुआ ? अपने स्थापना काल से लेकर उसके द्वारा निभाई गई भूमिका का वर्णन कीजिए।
8. द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत स्थापित प्रथम सैनिक गठबंधन का उल्लेख कीजिए। इस गठबंधन में शामिल देशों के नाम बताइए।
9. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की शस्त्रों की होड़ की मुख्य विशेषता का वर्णन कीजिए। क्या आप समझते हैं कि मानव जाति के अस्तित्व के लिए निरस्त्रीकरण अनिवार्य हो गया है ? हो गया है तो क्यों ? नहीं हुआ है तो क्यों ?
10. क्यूबा का प्रक्षेपास्त्र संकट कैसे हल हुआ ?
11. हाल के वर्षों में ऐसा क्या-कुछ हुआ है जिसके कारण शीत युद्ध समाप्त हो गया है ?
12. 1945 के बाद संयुक्त राज्य की विदेश नीति के मुख्य लक्ष्य क्या थे ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
13. संयुक्त राज्य अमरीका में नागरिक अधिकार आंदोलन के विकास का वर्णन कीजिए।
14. सोवियत संघ की सेना ने द्वितीय विश्व युद्ध में जिन देशों को मुक्त कराया था उनके प्रति उसका रवैया क्या था? उन देशों के लिए उसके क्या परिणाम हुए ? अपने उत्तर को सोदाहरण समझाइए।
15. 1945 के बाद सोवियत संघ की प्रमुख राजनीतिक घटनाओं का वर्णन कीजिए। सोवियत संघ के टूटने के कारणों पर परिचर्चा का आयोजन कीजिए।
16. यूरोप के एकीकरण के लिए जो कदम उठाए जा चुके हैं और उठाए जाने वाले हैं–उनका वर्णन कीजिए। इस संबंध में अन्य स्रोतों से जानकारी हासिल कीजिए।
17. 1989 से पूर्वी यूरोप में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन कीजिए। अधिक पूर्ण उत्तर के लिए अन्य स्रोतों से जानकारी इकट्ठा कीजिए।
18. द्वितीय विश्व युद्ध के बीच साम्राज्यवाद के पतन के लिए ज़िम्मेदार मुख्य कारणों का वर्णन कीजिए। इसके महत्व का विवेचन कीजिए।
19. वियतनाम, अल्जीरिया, ज़िंबाब्वे और नामीबिया के स्वतंत्रता आंदोलनों का अध्ययन कीजिए और उन पर निबंध लिखिए।
20. 1945 के बाद की लैटिन अमरीका की घटनाओं की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। अपने उत्तर को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दीजिए।
21. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के समय से उसके गठन में आए परिवर्तनों का वर्णन कीजिए। उनके महत्व का विवेचन कीजिए।
22. दुनिया के मामलों में गुट-निरपेक्ष आंदोलन द्वारा निभाई गई भूमिका का वर्णन कीजिए।
23. क्या आप समझते हैं कि विश्व एक नए युग की देहलीज़ पर खड़ा है ? विश्व के विभिन्न भागों की हाल की घटनाओं को दृष्टि में रखते हुए विचार कीजिए।

24. रंगभेद (एपरथाइड) की प्रणाली की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। उन घटनाओं का भी वर्णन कीजिए जिनके कारण दक्षिण अफ्रीका में यह प्रणाली धराशायी हो गई।
25. आपकी दृष्टि में 1990 से अब तक में विश्व में घटित होने वाली कौन-सी घटनाएँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं ? कारण बताइए कि आप उन्हें क्यों महत्वपूर्ण मानते हैं।
26. एशिया, अफ्रीका, यूरोप, उत्तर अमरीका, दक्षिण अमरीका और विश्व के मानचित्रों की रूपरेखा तैयार या प्राप्त कीजिए और उनमें निम्नलिखित को दर्शाइए : (1) सार्क, आसियान, यूरोपीय समुदाय और राष्ट्रकुल में शामिल देश (2) यूरोप के वे देश जहाँ साम्यवादी दल का शासन समाप्त हो गया है (3) सोवियत संघ के राज्य तथा उनमें से प्रत्येक का वर्तमान नाम (4) आज की दुनिया में तनाव और तकरार के मुख्य केंद्र (साथ ही संक्षिप्त टिप्पणियों में यह भी बताइए कि आप उन्हें तनाव और तकरार के केंद्र क्यों मानते हैं)।